प्रकाशकीय

आज हमें यह 'जैन तत्त्व समीक्षा का समाधान' ऐतिहासिक अनुपम भेंट पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री आज जैन समाज के पुरानी पीढ़ी के उच्चतम मूर्धन्य विद्वानों में सर्वाधिक वयोवृद्ध विद्वान हैं। वृद्धावस्था में अस्वस्थ रहते हुए भी उन्होंने यह कृति अत्यन्त श्रम पूर्वक तैयार की है, यह स्वयं ही उनकी बौद्धिक क्षमता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आज से लगभग २० वर्ष पूर्व सन् १९६३ में जयपुर में ही खानिया में पूज्य श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज के समक्ष ऐतिहासिक महत्वपूर्ण आगमिक विषयों पर एक लिखित चर्चा हुई थी, जो "जयपुर (खानिया) चर्चा" के नाम से इसी ट्रस्ट द्वारा सन् १९६७ में प्रकाशित भी हो चुकी है। उक्त प्रकाशन के प्रकाशकीय के निम्न अंश द्वारा उक्त चर्चा की तत्कालीन परिस्थिति का ज्ञान होगा, अतः उद्धृत करता हूँ—

"जब इस काल में अध्यात्म को लेकर विद्वानों में मतभेद बढ़ने लगा और इसकी जानकारी पूज्य श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघ को हुई, (उनके निकटवर्ती साधर्मी भाइयों से ज्ञात हुआ है) तब पूज्य श्री आचार्य महाराज ने अपने संघ में यह भावना व्यक्त की कि यदि दोनों ओर के सभी प्रमुख विद्वान एक स्थान पर बैठकर तत्त्वचर्चा द्वारा आपसी मतभेद को दूर करलें तो सर्वोत्तम हो। उनके संघ में श्री ब्र० से० हीरालाल जी पाटनी, निवाई और श्री ब्र० लाड़मल जी, जयपुर शान्त परिणामी और सेवाभावी महानुभाव हैं। इन्होंने पूज्य श्री महाराज की सद्भावना को जानकर दोनों ओर के विद्वानों का एक सम्मेलन बुलाने का संकल्प किया। साथ ही इस सम्मेलन के करने में जो अर्थ व्यय होगा, उसका उत्तरदायित्व श्री ब्र० से० हीरालाल जी, निवाई ने लिया। यह सम्मेलन २०-९-६३ से उक्त दोनों ब्रह्मचारियों के आमंत्रण पर बुलाया गया था, जिसकी सानन्द समाप्ति १-१०-६३ के दिन हुई थी। प्रसन्नता है कि इसे सभी विद्वानों ने साभार स्वीकार कर लिया और यथासम्भव अधिकतर प्रमुख विद्वान प्रसन्नता पूर्वक सम्मेलन में उपस्थित भी हुए। यद्यपि यह सम्मेलन २० ता. से प्रारम्भ होना था, परन्तु प्रथम दिन होने के कारण उसका प्रारम्भ २१ ता. से हो सका, जो १-१०-१९६३ तक निर्बाध गति से चलता रहा। सम्मेलन की पूरी कार्यवाही लिखित रूप में होती थी, इससे किसी को किसी प्रकार की शिकायत करने का अवसर ही नहीं आया। इस सम्मेलन की समस्त कार्यवाही पूज्य श्री १०८ शिवसागर जी महाराज और उनके संघ के सानिध्य में होने के कारण बड़ी शान्ति बनी रही। इसका विशेष स्पष्टीकरण सम्पादकीय वक्तव्य में पढ़ने को मिलेगा।

जैसा सम्मेलन के नियम से ज्ञात होगा, यह निश्चय हुआ था कि शंका-समाधान पद्धति से लिखित रूप में पूरी चर्चा के तीन दौर रखे जायें। तदनुसार दो दौर तो श्री १०८ आचार्य महाराज के सानिध्य में ही सम्पन्न हो गए थे। दोनों ओर से तीसरा दौर वहां सम्पन्न न हो सका। अतएव उसकी व्यवस्था परोक्ष रूप में करने की योजना स्वीकार की गई। प्रसन्नता है कि पिछले वर्ष के जून माह में तीसरा दौर भी सम्पन्न हो गया है।

शंका-समाधान पद्धति से लिखित रूप में इस तत्त्वचर्चा का बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। वस्तुतः देखा जाए तो यह तत्त्वचर्चा स्वयं अपने में एक जीवित इतिहास बन गया है।

वर्तमान विद्वानों में आपस में मतभेद का मूल कारण क्या है इस तथ्य को समझने के लिए भी यह तत्त्वचर्चा बड़ी उपयोगी है। शंका-समाधान के प्रसंग से यत्र-तत्र बीच-बीच में दोनों ओर से जो विचार व्यक्त किये गए हैं, उनसे आपसी मतभेद के मूल कारण पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। मैंने स्वयं तत्त्वचर्चा में सक्रिय भाग लिया है, इसलिए मैं इस विषय मे तत्काल इससे और अधिक लिखना वांछनीय नहीं मानता। अस्तु।"

उपरोक्त खानिया चर्चा के आयोजन का मूल कारण तो एक मात्र पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा यथार्थ मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, जो एक लम्बे काल से लुप्त प्राय सी हो रही थी उसको दृढ़ता के साथ प्रतिपादित करने से अपनी पूर्व मान्यताओं को ही सच्चा मोक्षमार्ग मान लेने के मिथ्या हठ से उत्पन्न अनेक भ्रान्तियाँ थीं, जिनका दिग्दर्शन श्री पण्डित जी साहब ने उपरोक्त पुस्तक के सम्पादकीय में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

"ऐसी अध्यात्म विद्या प्रवण वीतराग वाणी परमागम का प्रधान अंग अनादिकाल से बनी चली आ रही है। हमारा परम सौभाग्य है कि वह वाणी इस काल में पुनः मुखरित हुई है। सोनगढ़ के अध्यात्म संत कानजी स्वामी तो उसके मुखरित होने में निमित्त मात्र हैं। वह उनकी वाणी नहीं है, वीतराग वाणी है, शुद्धात्मा की अपनी पुकार है। कुछ भाइयों का कहना है कि कानजी स्वामी एकान्त की प्ररूपणा करते हैं, वे व्यवहार को उड़ाते हैं; जबकि वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। निश्चय धर्म आत्मधर्म है, क्योंकि वह परमात्म स्वरूप है। ऐसी प्ररूपणा करते समय यदि यह कहा जाय कि यदि ऐसे आत्मधर्म को व्यवहार धर्म स्पर्श नहीं करता है, वह उससे सर्वथा भिन्न है तो ऐसी कथनी को व्यवहार धर्म का उड़ाना कैसे मान लिया जाय अर्थात् नहीं माना जा सकता है। हां यदि वे यह कहने लगें कि व्यवहार से देव-गुरु-शास्त्र की पूजा-भक्ति करना, स्वाध्याय करना, जिनवाणी का सुनना-सुनाना, अणुव्रत-महाव्रत का पालना इन सब क्रियाओं के करने की कोई आवश्यकता नहीं है, मोक्षमार्गी के ये होती भी नहीं है, तब तो माना जाय कि वे व्यवहार को उड़ाते हैं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट से प्रकाशित प्रतिक्रमण पाठ को हमने देखा है। उसमें यह भी निर्देश किया गया है कि जिसने जीवन पर्यन्त के लिये मद्य-मांस आदि का त्याग नहीं किया है, वह नाममात्र भी जैनी नहीं है। क्या यह व्यवहार की प्ररूपणा नहीं है। क्या इससे हम यह नहीं समझ सकते कि वे व्यवहार को उड़ाना नहीं चाहते, बल्कि उसे प्राणवान बनाने में ही लगे हुए हैं। प्राणवान व्यवहार ही मोक्षमार्ग का सच्चा व्यवहार है, ऐसी परमागम की आज्ञा है। उनकी पूरी कथनी और करनी पर बारीकी से ध्यान दिया जाय तो उससे यही सिद्ध होता है।

उन्होंने अपनी पुरानी प्रतिष्ठा को छोड़कर दिगम्बर परम्परा स्वीकार की और इस परम्परा में आने के बाद अपने को अव्रती श्रावक घोषित किया। एकमात्र उनकी यह घोषणा ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वे मोक्षमार्ग के अनुरूप सम्यक् व्यवहार को जीवन में भीतर से स्वीकार करते हैं। यदि वे एकान्त के पक्षपाती होते तो कह सकते थे कि मैं पर्यायदृष्टि से भी न गृहस्थ हूँ न मुनि हूँ, मैं तो एक ज्ञायक स्वरूप आत्मा हूँ। वे जिस स्थिति में हैं उसे भीतर से स्वीकार तो करते ही हैं और यह जीव अन्तरात्मा बनकर परमात्मा कैसे बनता है, इस मार्ग का भी दर्शन कराते हैं। वास्तव में देखा जाय तो जो भी ज्ञानी मोक्षमार्ग का उपदेश देता है, वह दूसरे के लिये नहीं देता है। उसके अन्तरात्मा की पुकार क्या है उसे ही वह अपने को सुनाता है। दूसरे भव्य प्राणी उसे सुनकर अपना आत्महित का कार्य साध लें यह दूसरी बात है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि वे अनेकान्त के आशय को समझते हैं और जीवन में उसे स्वीकार करते हैं।

उनके विषय में एक आक्षेप यह भी है कि वे पुण्य का निषेध करते हैं, पर हमें उन पर किया गया यह आक्षेप भी उपहासास्पद प्रतीत होता है। वस्तुतः वे पुण्य का निषेध नहीं करते, किन्तु मुझे पुण्य का अर्जन करना है इस भाव का निषेध अवश्य करते हैं। उनका कहना है कि इस संसारी प्राणी को अर्जन करने योग्य यदि कोई वस्तु है तो वह आत्मनिधि ही है। किन्तु जब उसके अर्जन के उपायों का विचार करते हैं, उसकी कथा करते हैं, उसके अनुकूल क्रिया करते हैं तो पुण्य का अर्जन स्वयमेव हो जाता है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति पूजा का तथा अणुव्रत-महाव्रत के धारण का उपदेश शास्त्रों में पुण्य के अर्जन की दृष्टि से नहीं दिया गया है, किन्तु ये सब क्रियाएँ निश्चय मोक्षमार्ग के परिकर्मस्वरूप है, मात्र इसलिए इनका शास्त्रों में उपदेश दिया गया है। वे अपनी आगमानुकूल वाणी द्वारा इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हैं।

एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि वे कार्य-कारण परम्परा मे बाह्य निमित्त को नहीं स्वीकार करते, किन्तु इसके स्थान में स्थिति यह है कि वे भेदविज्ञान को जीवन का प्रधान अंग बनाने की दृष्टि से कार्य-कारण परम्परा के निश्चय कार्य-कारण परम्परा और व्यवहार (उपचरित) कार्य-कारण ऐसे दो भेद करके निश्चय कार्य-कारण परम्परा ही यथार्थ कार्य-कारण परम्परा है, ऐसी घोषणा अवश्य करते हैं। साथ ही वे व्यवहार कार्य-कारण परम्परा का निषेध तो नहीं करते, परन्तु उसे विकल्पमूलक बतलाकर मोक्षमार्ग में यह आश्रय करने योग्य नहीं है यह भी कहते हैं। वे अपने प्रवचनों में यह सर्वदा कहते रहते हैं कि प्रत्येक कार्य पांच के समवाय में होता है। उनके इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रत्येक कार्य के प्रति अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर बाह्य सामग्री में निमित्तता (व्यवहारहेतुता) को स्वीकार अवश्य करते हैं, किन्तु यह व्यवहारहेतुता परमार्थस्वरूप नहीं है ऐसा यदि वे कहते हैं और इसे कोई उनके द्वारा बाह्य निमित्त की अस्वीकृति मानता है तो उसका इलाज नहीं। इतना अवश्य है कि जीवन में मोक्षमार्ग की सम्प्राप्ति स्वाश्रित उपयोग के बल से ही होती है, इसलिए वे सर्वप्रकार के पराश्रितपने का निषेध कर स्वाश्रितपने का ज्ञान अवश्य कराते रहते हैं।"

उपरोक्त शंकाओं के निवारणार्थ ही उक्त खानिया चर्चा का आयोजन हुआ था और उक्त चर्चा में भाग लेने के लिए समाज के लगभग सभी मूर्धन्य उच्चकोटि के विद्वान उपस्थित थे और

आगम का अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार गहराई से अध्ययन करके अपने-अपने विषय को स्पष्ट करते थे। फलतः उक्त चर्चा का प्रकाशन अभ्यासी एवं आत्मार्थी जीवों के लिए एक वरदान स्वरूप ऐतिहासिक महत्वपूर्ण दस्तावेज बन गया है। यह नितान्त सत्य है कि बिना उपरोक्त आयोजन के इतनी गंभीरता से आगम का अध्ययन होना कभी सम्भव नहीं था। इस चर्चा की विशेष बात यह थी कि उपरोक्त मूर्धन्य विद्वानों की मण्डली में पण्डित फूलचन्द जी के पक्ष को प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में मेरे अतिरिक्त एकमात्र पण्डित जगन्मोहन लाल जी शास्त्री, कटनी ही और थे अर्थात् मात्र हम तीन व्यक्ति ही थे।

उपरोक्त चर्चा के तीनों दौर जो कि सन् १९६६ में ही समाप्त हो गए थे और जिस पूरी चर्चा का प्रकाशन बारीक टाइप में छपे हुए २० X ३०/८ की साइज में दो भागों में १२२४ पृष्ठों में हुआ था। इस समस्त चर्चा पर पर्दा डालने के लिए श्रीमान् पण्डित वंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना द्वारा १५ वर्ष के बाद "जयपुर तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" नामक पुस्तक लिखकर उसका प्रकाशन अपने ही द्वारा सन् १९८१ में करा दिया, जबकि उक्त खानिया चर्चा के तीसरे दौर में लिखने वाले भी स्वयं पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ही थे।

जब यह 'जयपुर तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा' पुस्तक पं० फूलचन्दजी साहब के हाथ म आई तो उनको लगा कि सारी खानिया चर्चा के अमूल्य विषय के सम्बन्ध में भ्रम खड़े करने का यह दुष्प्रयास है, अतः इसका निराकरण होना ही चाहिए। उन्होंने अपने उपरोक्त विचार जब मुझ से कहे तो मैंने उनसे आग्रह पूर्वक निवेदन किया कि यह कार्य तो आप ही के द्वारा सम्भव हो सकता है। उनकी वृद्धावस्था के साथ शारीरिक अस्वस्थता होने पर भी यह भागीरथ कार्य करने की इस शर्त के साथ स्वीकृति प्रदान की कि यह पुस्तक तैयार हो जाने पर इसको प्रकाशित करने का कोई आश्वासन देवे तो ही मैं यह कार्य प्रारंभ करूंगा। फलतः मैंने अपने ट्रस्ट के तत्कालीन कार्याध्यक्ष स्व० श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता से परामर्श किया। उन्होंने प्रकाशन के लिए उत्साहपूर्वक स्वीकृति प्रदान की। एतदर्थ पण्डितजी साहब के द्वारा यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका।

इसके प्रकाशन में भी अनेक प्रकार की बाधाएं उपस्थित हुईं। पण्डितजी द्वारा हस्तलिखित प्रति से प्रेस कापी तैयार कराने की तथा प्रेस कापी को जांचने की कठिनता ने बहुत समय ले लिया। इसके साथ ही पण्डित जी साहब की अस्वस्थता के कारण तथा प्रेस की गड़बड़ी के कारण भी बहुत समय लग गया। हमें सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि किसी भी प्रकार से यह पुस्तक पण्डितजी साहब की उपस्थिति में ही प्रकाशित हो जावे, क्योंकि पण्डितजी की शारीरिक स्थिति चिन्ताजनक ही चलती रहती है। हमें प्रसन्नता है कि हमारा यह प्रयास सफल हुआ और यह प्रकाशन आज पण्डितजी साहब की उपस्थिति में ही प्रकाशित होकर आत्मार्थी बन्धुओं के अध्ययन के लिए प्रस्तुत है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के प्रबन्धक श्री अखिल बंसल एम ए., जे.डी. का श्रम तो सराहनीय है ही साथ ही प्रूफ रीडिंग की व्यवस्था में पं० श्री शांति कुमार पाटिल जैनदर्शनाचार्य शास्त्री ने भी बहुत परिश्रम किया है, अतः दोनों बधाई के पात्र हैं। अन्तमें प्रिन्ट'ओ'लैण्ड प्रेस के मालिक एवं अन्य जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपमें इस कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ है उन सभी को धन्यवाद देता हूँ।

दीपावली, २२ अक्टूबर, १९८७

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

विषय सूची

प्रस्तावना

यद्यपि आगम को ध्यान में रखते हुए (जो कि जैनधर्म का प्राण है, ऐसे अनेकान्त के अनुसार) निश्चय के साथ असद्भूत व्यवहार की सीमा को सुस्पष्ट करने के अभिप्राय से विद्वानों के मध्य शंका-समाधान सदा से होता आया है। सोनगढ़ में निश्चय की मुख्यता से प्ररूपणा की जाती है, इसलिए कतिपय विद्वान उससे सहमत न होने के कारण ई. सन् 1963-64 में विद्वानों के मध्य नियमानुसार लिखित चर्चा हुई थी।

उस समय ये सोनगढ़ सिद्धान्तवादी विद्वान हैं, ये पुराण सिद्धान्तवादी विद्वान हैं – ऐसा कोई भेद उत्पन्न नहीं किया गया था। जो विद्वान निश्चयनय की प्ररूपणा परमार्थ है ऐसा मानकर सोनगढ़ का समर्थन करते थे उनमें हम मुख्य थे। किन्तु जो विद्वान असद्भूत व्यवहार की प्ररूपणा को भी भूतार्थ मानते थे उनमें आदरणीय स्व. पं. मक्खनलालजी मुख्य थे। शेष विद्वान कोई इस ओर थे और कोई उस ओर थे। इतना अवश्य है कि असद्भूत व्यवहार की प्ररूपणा को भूतार्थ मानने वाले विद्वान अधिक थे।

हमारे जीवन में आदरणीय स्व. पं. मक्खन लाल जी के साथ ऐसे दो चार प्रसंग उपस्थित हुए थे जिससे हम उनकी नीति के विषय में पूरी तरह से परिचित होने के कारण इस अवसर पर (खानिया-तत्त्व चर्चा के समय) हमें सावधान रहना पड़ा।

(1) प्रथम प्रसंग तो तब उपस्थित हुआ था जब षट्खण्डागम-जीवस्थान प्रथम पुस्तक के ९३ वें सूत्र में लिपिकार की असावधानीवश "संजद" पद छूट गया था। अतएव मुद्रण के समय हमारी विशेष राय होने के कारण इस सूत्र के टिप्पणी में "संजद" पद और होना चाहिए यह स्पष्ट कर दिया गया था। साथ ही प्रूफ मैं ही देखता था, इसलिये मूल में तो "संजद" पद नहीं जोड़ सके पर उसके अनुवाद में "संजद" पद हमने जोड़ दिया था और वह मुद्रित भी हो गया। प्रथम संस्करण को उस रूप में आज भी देखा जा सकता है। इस अवसर पर आदरणीय स्व. प. मक्खन लालजी शास्त्री और स्व. श्री पं. रामप्रसाद जी शास्त्री कहते रहे कि इस सूत्र में "संजद" पद नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह सूत्र द्रव्य मार्गणा का निरूपण करने वाला है। किन्तु हमारा यह स्पष्ट विचार था कि सर्वत्र आगम में मार्गणाओं की प्ररूपणा भावनिक्षेप की अपेक्षा से की गई है, इसलिये इस सूत्र में "संजद" पद अवश्य होना चाहिये। लेश्याओं की प्ररूपणा जैसे टीकाओं में ही दिखाई देती है, मूल आगम में नहीं, (चरणानुयोग को छोड़कर करणानुयोग और द्रव्यानुयोग में) वही स्थिति द्रव्य वेदों की भी है। इसका अर्थ यह नहीं कि इन दोनों अनुयोगों की अपेक्षा छठे आदि गुणस्थानों को लेकर मोक्षमार्ग में तीनों द्रव्यवेद ग्राह्य हैं। क्योंकि जैसे पंडक (द्रव्यवेद की अपेक्षा नपुंसक) को छठे आदि गुणस्थानों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ग्राह्य नहीं मानते, वैसे ही द्रव्य स्त्री के भी पांचवें से आगे के गुणस्थान नहीं हो सकते, क्योंकि एक तो उनके अन्तिम तीन संहनन ही होते हैं

यह श्वेताम्बर परम्परा भी स्वीकार करती है। दूसरे वे वस्त्र का त्याग कर पुरुषों के समान निर्द्वन्द्व नहीं हो सकती। उनके चित्त में पुरुषार्थहीनता बनी ही रहती है। फिर भी उक्त विवाद इतना चला कि स्वर्गीय आचार्य शान्तिसागरजी महाराज भी इस विवाद में घसीट लिये गये और जिन विद्वानों का यह कहना था कि ९३ सूत्र में "संजद" पद नहीं चाहिये, उन्होंने महाराज से भी यह घोषणा करा दी कि इस सूत्र में "संजद" पद नहीं होना चाहिये।

इसी प्रसंग में बम्बई की दिगम्बर जैन समाज ने दोनों ओर के विद्वानों को इसका निर्णय करने के लिए आमन्त्रित किया था। उनमें दूसरी ओर के विद्वानों में स्व. श्री पं. मक्खनलालजी शास्त्री, स्व. श्री क्षुल्लक सूरसिंह जी तथा स्व. श्री पं. रामप्रसादजी शास्त्री मुख्य थे। तथा 93 वें सूत्र में संजद पद चाहिये इस पक्ष में हम तो थे ही, साथ ही स्व. मेरे गुरूजी पं. वंशीधर जी न्यायाचार्य और श्री पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री मुख्य थे। शंका-समाधान के रूप में तीन दिन तक यह चर्चा चली। उस ओर स्व. श्री पं. मक्खनलालजी शास्त्री लिखते थे व इस ओर से मैं लिखता था। जिस कापी में उस ओर के विद्वान लिखते थे, उसी में हम लोग भी लिखते थे। तीन दिन तक इसी प्रकार यह चर्चा चली। अन्त में समाज ने यह चर्चा यह कहकर कि हमने तीन दिन के लिए ही आमंत्रित किया था यह चर्चा बन्द कर दी। जिस कापी का हम दोनों उपयोग करते थे उसे गायब कर दिया गया। किसने उस कापी को रख लिया यह हम नहीं जानते। इतना हम अवश्य जानते हैं कि उस समय बम्बई की समाज उस ओर के विद्वानों के पक्ष में थी। इस समय भी अधिकतर जैन समाज की वही स्थिति बनी हुई है। ऐसा क्यों है? उसका कारण है, क्योंकि वह अध्यात्मविषयक प्ररूपणा को एकान्त कहकर टाल देती है। वह असद्भूत व्यवहार क्रिया को ही परमार्थ मानती है।

(2) दूसरा प्रसंग तब प्रस्तुत हुआ था जब आ. पं. श्री मक्खनलालजी शास्त्री ने अपने "जैन दर्शन" नामक पत्र द्वारा शास्त्रार्थ का हमें चेलेंज दिया था। उस चेलेंज में मैं तो था ही श्री पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और सम्भवतः श्री पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य भी थे। श्री पं. कैलाश चन्द्रजी शास्त्री ने अपने "जैन सन्देश" पत्र द्वारा उत्तर दिया या नहीं यह हमें मालुम नहीं। श्री पं. पन्नालालजी सा. चुप रहे आये ऐसा लगता है। हमारे सामने यह प्रश्न अवश्य था कि उस चेलेंज को मैं स्वीकार करूं या न करुं, क्योंकि उस समय हम आँख मींचकर अविवेक से सोनगढ़ के समर्थक माने जाते थे। अन्त में मैंने विचार किया था कि दोनों ओर के विद्वान् हम सब एक ही धर्म में आस्था रखते हैं और उसी आगम को स्वीकार करते हैं जिस आगम को माध्यम बनाकर इस चेलेंज को हमें स्वीकार करना है। हमारे सामने समस्या बहुत बड़ी थी। इस समस्या का समाधान सोचते समय हमें यह ख्याल आया कि हम मान्य पं. श्री मक्खनलालजी को यह क्यों न लिखें कि आप "जैनदर्शन" नाम का एक अखबार निकालते ही हैं। इस समस्या को उसी के माध्यम से चलने दिया जाय। आप भी अपने पक्ष को उपस्थित करें, और हम भी उस विषय में आगम से जो समझते हैं वह लिखें। किन्तु उक्त पण्डित जी इस बातके लिए तैयार नहीं हुये। उन्होंने हमें यह साफ लिख दिया कि हम अपने पत्र को आपके विचारों के प्रचार के माध्यम नहीं बनने देंगे। इसमें सन्देह नहीं कि समाज की गतिविधि को देखकर वे अपने विचार बनाते थे। आगम उनके लिए केवल असद्भूत व्यवहारनय के अनुसार विचारों का प्रचार करने में ही मुख्य था। उसी को वे सब कुछ मानते थे। निश्चयनय की

विवक्षा में भूतार्थरूप से आगम क्या कहता है इसकी ओर देखने की उन्हें चिन्ता कम थी । बहुजन समाज हमारे साथ रहे इस ओर उनका ध्यान विशेष था ।

(3) यह तीसरा प्रसंग है जब मैं विवक्षित समाज के मतानुसार चलने वाले ब्र लाडमल जी के आमन्त्रण पर जयपुर खानियां तत्वचर्चा में सम्मिलित हुआ था। यह चर्चा लिखित रूप में ई सन 1963-64 में सम्पन्न होकर सन् 1967 के फरवरी माह में मुद्रित हुई थी। इस चर्चा में हार-जीत की दृष्टि से यह चर्चा नहीं हुई थी। मात्र दोनों ओर के विद्वानों के लेखों का वह संकलनमात्र था। हमने यह कभी नहीं माना कि हमने जो लिखा उससे हमारी जीत हुई और दूसरा पक्ष हार गया, ये हलके हैं। यह कोई हार-जीत की शर्त या चर्चा नहीं की गई थी। यह हमारी कोशिश अवश्य रही कि व्यवहारनय के विषय को नहीं छोड़ते हुए हम निश्चयनय के विषय की प्रतिष्ठा करें। उसी प्रकार दूसरे पक्ष का भी यह कर्तव्य था कि वह निश्चयनय के विषय को नहीं छोड़ते हुए व्यवहारनय के विषय की उपयोगिता बतलावे। इसमें कौन कितना सफल हुआ यह बात अलग है। पर हार-जीत के मुद्दे पर यह चर्चा नहीं हुई थी इतना स्पष्ट है। हार-जीत के मुद्दे पर मैं चर्चा करने के लिए तैयार भी नहीं होता। हार-जीत के मुद्दे पर चर्चा तो अन्य धर्म वालों से की जाती है, आपस मे नहीं।

जो परस्पर की सम्मति से सामान्य नियम बनाये गये थे उनका उस ओर के विद्वानों ने अन्त में अक्षरशः पालन नहीं किया – यह शिकायत हमारी अवश्य बनी रही है। इससे हम यह नहीं समझ पाये कि यह लिखना उस ओर के सब विद्वानों के अभिप्राय हैं या केवल एक विद्वान का अभिप्राय है। यह सदा ही खटकने वाली बात है। हमने जो अपनी ओर से लेखों को माध्यम बनाकर लिखा है उसमें नियमों का अवश्य ध्यान रखा है। इस बात पर उस ओर विद्वानों को जो इस समय हैं उन्हें अवश्य विचार करना चाहिये। सार्वजनिक नियम भी इसी लिए बनाये जाते हैं कि उनका पालन उन नियमों से सम्बन्ध रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति करे।

एक आक्षेप इस ओर के विद्वानों पर और खासकर हम पर यह किया जाता है कि हम सोनगढ़ के प्रतिनिधि पं. श्री नेमीचन्द जी पाटनी के दुराग्रह के सामने झुककर अपने उक्त प्रस्ताव को रचनात्मक रूप देने के लिए तैयार नहीं हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि जो सभी प्रश्न व्याकरणाचार्य जी के अभिप्राय से उभयपक्ष सम्मत होकर दोनों पक्षों को समानरूप से विचारणीय थे वे पूर्वपक्ष के बनकर ही रह गये।" (समीक्षा पृ. 6)

यह समीक्षा में श्री पं. वंशीधर जी व्याकरणाचार्य का लिखना है। वस्तु स्थिति क्या है इस पर हम सांगोपांग विचार कर लेना चाहते हैं। हम उस बात के खण्डन-मण्डन में नहीं जायेंगे जिसे इसके पहले व्याकरणाचार्य ने लिखा है। वे जिस दिन सामान्य नियम बनाये गये थे उस दिन आये भी नहीं थे। उसके दूसरे दिन वे चर्चा के समय ही हमें मिले थे। इसलिये यह सवाल ही नहीं उठता कि हम दोनों के मध्य शंकाओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चर्चा हुई थी। इस चर्चा का आयोजन भी व्याकरणाचार्य की ओर से नहीं किया गया था। चर्चा के लिए आमन्त्रण देने वाले विद्वान् ब्र. लाडमल जी और दूसरे ब्रह्मचारी थे। प्रबन्ध भी उन्होंने ही किया था। यदि कभी पहले हम दोनों के मध्य ऐसी चर्चा हुई भी थी तो दूसरे दिन उन्होंने आकर विद्वानों के समक्ष यह प्रस्ताव रखना था

और उसके स्वीकार हो जाने पर दोनों ओर के विद्वानों को मिलकर प्रश्न तैयार करने थे।

किन्तु मध्यस्थ का चुनाव होने के बाद आ. स्व. श्री पं. मक्खनलाल जी ने छह प्रश्न रखे। वे हमें दिये भी गये। पर किसके ये प्रश्न हैं ऐसा हमारी ओर से पूछने पर हमें यह बतलाया गया कि अभी हमारी ओर के विद्वानों का चुनाव हो जाने पर हस्ताक्षर होते रहेंगे। तब हमारी ओर से यह कहा गया कि यदि आपकी ओर के विद्वानों में प्रतिनिधि नहीं चुने गये हैं तो एक के हस्ताक्षर कराकर मध्यस्थ के द्वारा हम लोगों को दीजिये। तब दूसरी ओर के विद्वानों ने श्री स्व. पं. मक्खनलाल जी के हस्ताक्षर करा दिये। जिस समय यह सब काम हो रहा था उस समय भी व्याकरणाचार्य वहाँ उपस्थित थे, पर वे चुप रहे आये, यह सब होने दिया। अब हमारे विषय में कुछ भी लिखने और उसको पुस्तक में छापने से क्या फायदा यह वही जानें। हम तो समझते हैं कि हमारे विषय में मनगढंत लिखकर व्याकरणाचार्यजी अपनी कमजोरी को ही प्रदर्शित कर रहे हैं या अपनी कमजोरी को ही प्रदर्शित करने के समान है। वस्तुतः देखा जाय तो इस चर्चा में व्याकरणाचार्यजी मुख्य नहीं थे। उसी ओर के दूसरे विद्वानों ने खानिया चर्चा के बाद ही अपना पिण्ड छुड़ा लिया और व्याकरणाचार्य तीसरे दौर से मुखिया बन गये। तीसरे दौर का वाचन भी दिल्ली में उन्होंने कराया था। उस पर किसी दूसरे विद्वान के भी हस्ताक्षर हम देखते तो मान लेते कि इस लिखान में दूसरे विद्वान (प्रतिनिधि विद्वान) भी सहमत हैं। हमारी ओर के विद्वानों पर तो यही छाप पड़ी है कि यह लिखान केवल व्याकरणाचार्य का ही है। वे ही अब समीक्षा के लेखक बन गये हैं।

फिर भी कोई कह सकता है कि यदि आप लोग ऐसा समझते थे तो उनके तीसरे दौर के कथन पर आपने लेखनी क्यों चलाई ? इस पर हमारा यह कहना है कि लेखनी हमारी ओर से इसलिए चलाई गई कि असतप्रचार न होने पाये। हम समीक्षा का समाधान भी इसी अभिप्राय से लिख रहे हैं। यहाँ भी हार-जीत का सवाल नहीं है। सवाल असतप्रचार को रोकने का है। वह रुके या न रुके, वह परमार्थ से हमारे हाथ में नहीं है। जिनागम को यथावत्रूप से प्रस्तुत करना हमारा काम है।

इसी प्रसंग से तीसरे या चौथे दिन की घटना को (नियम बनने के दिन से चौथा दिन, और चर्चा प्रारम्भ होने के दिन से तीसरा दिन) हम यहाँ व्याकरणाचार्य जी के समक्ष प्रस्तुत कर देना उचित समझते हैं। उस समय भी व्याकरणाचार्य जी बैठक में उपस्थित थे। हुआ यह कि पहले दिन की शंकाओं को जनरल बताकर उन शंकाओं के आधार से लिखे गये लेखों को पूर्वपक्ष बताकर तीसरे दिन अपने (उस ओर के विद्वानों) द्वारा लिखे गये लेखों को प्रत्युत्तर लिखने का प्रयत्न नहीं करते। साथ ही उन्हें पढ़कर यह घोषणा भी की कि इस प्रकार हमारे द्वारा लिखे गये लेखों के आधार पर प्रथम दौर समाप्त हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि उस ओर के विद्वानों में हार-जीत का ख्याल प्रारम्भ से ही था और उनकी यह इच्छा रही कि हम लोग किसी प्रकार दूसरी ओर के विद्वानो को पूर्वपक्ष बनाकर हम समाधानकर्ता बन जायें यह स्थिति हमारी ओर के विद्वानों ने उसी समय भांप ली थी। इसलिये विवश होकर हम लोगों को यह निर्णय लेना पड़ा कि हम इस चर्चा को पूर्वपक्ष कभी नहीं बनने देंगे। दूसरी ओर के विद्वानों के मन में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष समाया हुआ था, अतएव निर्णय लिया कि इन्हें पूर्वपक्ष बनाकर ही इस चर्चा को पूरी करेंगे। यही कारण है कि हमारी ओर से तीसरे या चौथे दिन के बाद

शंकाएँ रखने का परिणाम ही नहीं हुआ। उनकी ओर से पूछा भी गया तो यह उत्तर दे दिया गया कि आगे विचार करेंगे। इससे ऐसा लगता है कि उस समय व्याकरणाचार्य जी सो रहे थे, क्योंकि उन्होंने यह सब होने दिया, अपने आदमियों को रोका नहीं। इसलिये जड़ में वे ही थे ऐसा लगता है। आद-भाई नेमीचंदजी पाटनी को दोष देने से क्या लाभ? अपनी ओर देखना चाहिये। दूसरी ओर के विद्वानों की तरफ से विवश होकर हम यह सब लिख रहे हैं। वैसे भीतर की इस घटनाओं को कभी नहीं लिखते, पहले लिखा भी नहीं था, क्योंकि सभी अपने हैं यह भाव हमें सदा बनाये रखना है। ऐसा किये बिना मोक्षमार्ग बनता ही नही। पक्ष-विपक्ष देखना समझदार आदमी का खासकर मोक्षमार्गी का काम नहीं इसे व्याकरणाचार्य जी भी समझते हों तो अच्छी बात होगी।

अन्तिम दौर की सामग्री व्याकरणाचार्य जी ने स्वयं लिखकर हमारे पास भेजी थी, मध्यस्थ के मार्फत भी नहीं भेजी थी। हम समझते थे कि तीसरे दौर की सामग्री पढ़कर तथा उसे देखकर संशोधन करके साथ ही दूसरे विद्वानों के हस्ताक्षर कराकर हमारे पास भिजायेंगे, परन्तु दूसरे विद्वानों ने तो नियम का लाभ उठाकर इस चर्चा से पिण्ड छुड़ा लिया, मात्र व्याकरणाचार्य जी मुख्य बन गये। जबकि यह चर्चा सब विद्वानों के मध्य हुई थी, इसलिये समारोप भी उसी तरह होना चाहिये था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ इसका सभी को आश्चर्य होना चाहिये।

(1) श्री व्याकरणाचार्य जी का यह कहना है कि "उपादान हमेशा (नित्य) द्रव्य ही हुआ करता है, वह पर्याय विशिष्ट होता है यह दूसरी बात है, लेकिन पर्याय तो कार्य मे ही अन्तर्भूत होती है, वह उपादान कभी नहीं होती। यह विधान उन्होंने "जैनतत्व मीमांसा की मीमांसा" नामक पुस्तक के पृष्ठ 369 में किया है।

"खानिया तत्वचर्चा और उसकी समीक्षा" नामक इस पुस्तक में भी उन्होंने इसी मत का समर्थन करते हुए इस समीक्षा को लिखा है। उदाहरणस्वरूप उनके द्वारा लिखे गये वाक्य हम यहां दे रहे हैं।

(2) जो परिणमन को स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्य का आश्रय ठहरता है। निमित्त का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं-"जो मित्र के समान उपादान का स्नेहन करे अर्थात् उसकी कार्यपरिणति में जो मित्र के समान सहयोगी हो वह निमित्त कहलाता है (खा. पृ. 21)

(3) इसी पृष्ठ में इसके फलितार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "इसप्रकार आगम में जहाँ भी निमित्त-नैमित्तिक भाव को लेकर उपचारहेतु या उपचारकर्ता, व्यवहार हेतु या व्यवहार-कर्ता, बाह्यहेतु या बाह्यकर्ता, गौणहेतु या गौणकर्ता आदि शब्द प्रयोग पाये जाते हैं उन सबका अर्थ निमित्त कारण (सहकारीकारण) या निमित्तकर्ता (सहकारीकर्ता) ही करना चाहिये। उनका आरोपित हेतु (काल्पनिक हेतु) या आरोपकर्ता (काल्पनिककर्ता) अर्थ करना असंगत ही जानना चाहिये।" (खा. पृ. 21)

(4) जो निमित्तों की अपेक्षा के बिना केवल उपादान के अपने बलपर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हें वहां स्वप्रत्यय नाम दिया गया है। (खा. पृ. 25)

(5) "इस विषय में हमारा कहना यह है कि जीव की मोक्षपर्याय स्वप्रत्यय पर्याय न होकर स्व परप्रत्यय पर्याय ही है। कारण कि मोक्ष का स्वरूप आगमग्रन्थों में द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म के क्षपण के आधार पर ही निश्चित किया जाता है।" (समीक्षा पृ.26)

"आचार्य समन्तभद्र ने कालनय-अकालनय तथा नियतनय-अनियतनय इन नयों की अपेक्षा कार्य की सिद्धि बतलाई है, इसलिए सभी कार्यों का सर्वथा कोई काल नियत नहीं है। आदि (स. पृ. 45.)

(6) "इस तरह कार्योत्पत्ति में उपादान, प्रेरकनिमित्त और उदासीननिमित्त तीनों का अपना-अपना महत्व हैं। इनमें से उपादान का महत्व कार्यरूप परिणत होने में है, प्रेरक निमित्तों का महत्व उपादान को कार्योत्पत्ति के प्रति तैयार करने में है और उदासीन निमित्तों का महत्व कार्योत्पत्ति उद्यत उपादान को अपना सहयोग प्रदान करने में है। यह भी ध्यातव्य है कि उपादान उसे कहते हैं जिसमें कार्यरूप परिणत होने की स्वभावत: योग्यता विद्यमान हो। इसलिये ऐसा यहां समझना चाहिये कि प्रेरक निमित्त उपादान की उस योग्यता को कार्य रूप से विकसित होने के लिये प्रेरणामात्र करता है। (स. पृ. 14)

(7) "पूर्वपक्ष के मान्य दोनों निमित्तों के लक्षण सम्यक् हैं। इसका एक कारण यह है कि दोनों निमित्तों की उपादान की कार्य रूप परिणति में अपने-अपने ढंग से सहायक होनेरूप से यदि कार्यकारी मान लिया जाता है तो इससे कार्योत्पत्ति के अवसर पर उनकी निमित्तरूप से उपस्थिति युक्तियुक्त हो जाती है। (स. पृ. 15)

(8) कार्यकारणभाव एक तो उपादानोपादेयरूप होता है जो उपादान कारण और उपादेय कार्य में पाया जाता है। इस उपादानोपादेयरूप कार्यकारण भाव की नियामक उपादान-कारण और उपादेय कार्य में विद्यमान अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियां होती हैं। जो इस प्रकार हैं—

जिस वस्तु में जिस कार्य की उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता) विद्यमान रहती है उस वस्तु की ही उस कार्यरूप परिणति हो सकती है और जिस वस्तु में जिस कार्य की उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता) का अभाव रहता है उस वस्तु की उस कार्यरूप परिणति त्रिकाल में कभी नहीं हो सकती।" (स. पृ. 15–16)

(9) दूसरा कार्य-कारणभाव निमित्त-नैमित्तिक भावरूप होता है जो निमित्तकारण और नैमित्तिक कार्य में पाया जाता है। इस निमित्त-नैमित्तिक भाव रूप कार्य-कारणभाव की नियामक भी निमित्त और नैमित्तिक कार्य में विद्यमान अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां होती हैं।" (स. पृ. 16)

(10) "परीक्षामुख सूत्र 3-63 की प्रमेयरत्नमाला टीका का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है उसमें जो "कुलालस्यैव कलशं प्रति" के रूप में दृष्टान्तपरक कथन है, उससे अवगत होता है कि उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारण भाव के समान निमित्त-नैमित्तिकभाव रूप कार्यकारणभाव भी होता है जिनकी उपयोगिता कार्योत्पत्ति में हुआ करती है।

इतना अवश्य है कि आग में निमित्तकारण दो प्रकार के बतलाये गये हैं। एक प्रेरक निमित्तकारण और दूसरा-अप्रेरक निमित्त कारण। इन दोनों निमित्त कारणों की कार्य के प्रति अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ भी आगम में पृथक्-पृथक रूप में निश्चित की गई है। (स.पृ. 16)

(11) तात्पर्य यह कि जैनागम में कार्योत्पत्ति की व्यवस्था इसप्रकार स्वीकृत की गई है कि उपादान (कार्यरूप परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट पदार्थ) तो कार्यरूप परिणत होता है, परन्तु वह तभी कार्यरूप परिणत होता है जब उसे प्रेरक और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तों का सहयोग प्राप्त होता है। उसको प्रेरक निमित्तों का सहयोग प्रेरकता के रूप में और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तों का सहयोग अप्रेरकता (उदासीनता) के रूप में मिला करता है। इस तरह उपादान कारण प्रेरक निमित्त कारण और अप्रेरक (उदासीन) निमित्त कारण इन तीनों के रूप में कारण सामग्री के मिलने पर ही कार्योत्पत्ति (उपादान की कार्यरूप परिणति) होती है। (स. पृ. 16)

(12) फिर भले ही यह मानता रहे कि उक्त अवसर पर कुम्भकार रूप प्रेरक निमित्त की उपस्थिति रहते हुए भी मिट्टी स्वयं (अपने आप) अर्थात् कुम्भकार की प्रेरणा प्राप्त किये बिना ही अपने में घट की उत्पत्ति कर लेती है और कुम्भकार वहां सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है। परन्तु उसकी यह मान्यता प्रमाणसम्मत नहीं है। (स. पृ. 19)

(13) उक्त पद्य (35) का अर्थ करते हुये उत्तरपक्ष ने लिखा है कि अन्य द्रव्य अपनी विवक्षित पर्याय के द्वारा इस प्रकार निमित्त है जिस प्रकार धर्मास्तिकाय गति का निमित्त है।(त. च.-पृ.7) इसमें अपनी विवक्षित पर्याय के द्वारा इस अंश का बोधक कोई पद पद्य में नहीं है। यह पद्यार्थ से अतिरिक्त है जो अनावश्यक है। (स. पृ. 23)

(14) इस तरह 'नन्वेवं इत्यादिक कथन से और उसमें पठित योग्यताया पद का साक्षात् पद विशेषण होने से निमित्तों की कार्यकारिता ही सिद्ध होती है जिसका निषेध उत्तर पक्ष करना चाहता है क्योंकि योग्यताया पद का साक्षात् तभी सार्थक हो सकता है जब निमित्तों को कार्य के प्रति कार्यकारी माना जाय। मालूम पड़ता है कि इसलिए नन्वेवं इत्यादि कथन का अर्थ उत्तर पक्ष ने अपने वक्तव्य में नहीं किया है। (स पृ. 24)

(15) अब यदि उत्तरपक्ष की मान्यतानुसार जीव में होने वाले क्रोध आदि परिणमनों की उत्पत्ति कार्यकाल की योग्यता के अनुसार मानी जावे और क्रोध आदि कर्मों के उदय को वहां पर सर्वथा अकिंचित्कर ही मान लिया जावे तो जिस जीव की वर्तमान समय में क्रोधरूप परिणति हो रही है उसके पूर्व समय में कारणरूप से क्रोधरूप परिणति ही उस जीवकी स्वीकार करना अनिवार्य हो जायेगा। इस तरह से अनादिकाल से अनन्त काल तक उस जीव की सतत क्रोधरूप परिणति होती रहनी चाहीए। अर्थात् उसमें न तो कभी मान, माया या लोभरूप परिणति होगी और न क्रोधरूप परिणति का सर्वथा अभाव होकर उसकी शुद्ध स्वभाव रूप परिणति ही कभी हो सकेगी। और वह स्वाभाविक योग्यता नित्य उपादान शक्ति के रूप में पर्याय शक्ति, जिसे कार्य काल की योग्यता कहा जाता है नहीं हो सकती है, क्योंकि कार्यरूप होने के कारण उसे स्वाभाविक नहीं माना जा सकता है। इस विवेचन से प्रकट है कि नित्य उपादान शक्तिरूप-द्रव्यशक्ति के रूप में

कार्योत्पत्ति की स्वाभाविक योग्यता का सद्भाव व उक्त अवसर पर अनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तों का सद्भाव तथा बाधक निमित्तों का अभाव ये सभी वस्तु में कार्योत्पत्ति में साधक होते हैं। यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के पूर्वोक्त कथन के अनुसार अनित्य उपादान शक्ति-रूप पर्यायशक्ति विशिष्ट नित्य उपादान शक्तिरूप द्रव्यशक्ति कार्योत्पत्ति में साधक होने से अनित्य उपादान शक्तिरूप पर्यायशक्ति को भी कार्यकाल की योग्यता के रूप में कार्योत्पत्ति की साधक माननी चाहिये।" (स. पृ. 28)

(16) यद्यपि इस विषय में दोनों पक्षों के मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष व्यवहारनय के विषय को सर्वथा अभूतार्थ मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित अभूतार्थ और कथंचित भूतार्थ मानता है, परन्तु यह प्रकृत प्रश्न के विषय से भिन्न होने के कारण उस पर स्वतन्त्र रूप से ही विचार करना संगत होगा। (स. पृ 4)

(17) "जहाँ उत्तरपक्ष उस उपचार को सर्वथा अभूतार्थ मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित भूतार्थ और कथंचित अभूतार्थ मानता है। इस पर भी यथावसर आगे विचार किया जायेगा।"
(स. पृ. 4)

(18) "दोनों पक्षों का कहना है कि उक्त कार्य के प्रति उपादान कारणभूत संसारी आत्मा में स्वीकृत उपादान कारणता, यथार्थ कारणता और मुख्य कर्तृत्व निश्चयनय के विषय हैं और निमित्त कारणभूत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म में स्वीकृत निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहारनय के विषय हैं।" (स. पृ. 4)

(19) "परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्य के प्रति निमित्तकारण रूप से स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म को उस कार्य रूप परिणत होने और उपादान कारणभूत संसारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति में सहायक भी न होने के आधार पर सर्वथा अकिंचित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अकिंचित्कर और उपादानकारणभूत संसारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति में सहायक होने के आधार पर कार्यकारी मानता है।"
(स. पृ. 4–5)

(20) "पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होने के साथ उपादान कारणभूत संसारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति में सहायक होने के आधार पर अयथार्थ कारण उपचरितकर्ता मानता है।" (स. पृ. 5)

(21) "पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति में सहायक होने के आधार पर भूतार्थ मानता है।"
(स. पृ. 5)

(22) "दोनों पक्षों के मध्य विवाद केवल उक्त कार्य के प्रति उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म की उत्तरपक्ष को मान्य सर्वथा अकिंचित्करता और सर्वथा अभूतार्थता तथा पूर्वपक्ष की मान्य कथंचित् अकिंचित्करता व कथंचित् कार्यकारिता तथा कथंचित् अभूतार्थ व कथंचित् भूतार्थता के विषय में है।" (स. पृ. 5)

(23) "उपर्युक्त दोनों बातों में से प्रथम वात के सम्बन्ध में विचार करने के उद्देश्य से ही खानिया तत्वचर्चा के अवसर पर दोनों पक्षों की सहमतिपूर्वक उपर्युक्त प्रथम प्रश्न उपस्थित किया गया था। इतना ही नहीं, खानिया तत्वचर्चा के सभी १७ प्रश्न उभयपक्ष की सहमतिपूर्वक ही चर्चा के लिए प्रस्तुत किये गये थे।" (स. पृ. 6)

(24) "पूर्व में वतलाया जा चुका है कि प्रकृत प्रश्न को प्रस्तुत करने में पूवपक्ष का आशय इस वात को निर्णीत करने का था कि द्रव्यकर्म का उदय संसारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गति-भ्रमण में निमित्तरूप से अर्थात् सहायक होने रूप से कार्यकारी होता है या वह वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही वना रहता है व संसारी आत्मा द्रव्यकर्म के उदय का सहयोग प्राप्त किये विना ही विकारभाव तथा चतुर्गति परिभ्रमण करता रहता है। उत्तरपक्ष पूर्वपक्ष के इस आशय को समझता भी था, अन्यथा वह अपने तृतीय दौर के अनुच्छेद में पूर्वपक्ष के प्रति यह नहीं लिखता कि "एक ओर तो वह द्रव्यकर्म के उदय को निमित्तरूप से स्वीकार करता है" परन्तु जानते हुए भी उसने प्रथम दौर में प्रश्न का उत्तर न देकर उससे भिन्न नयविषयता और कर्त्ताकर्म सम्वन्ध की अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चा को प्रारम्भ कर दिया।" (स. पृ. 7)

(25) "क्योंकि पूर्वपक्ष जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, विकार की कारणभूत वाह्य सामग्री को उत्तरपक्ष के समान अयथार्थ कारण ही मानता है।" (स पृ. 7)

(26) "आगम वाक्य का यह अभिप्राय नहीं है कि दो द्रव्यों की मिलकर एक विभावपरिणति होती है, अपितु उसका अभिप्राय यही है कि एक वस्तु की विकारी परिणति दूसरी अनुकूल वस्तु का सहयोग मिलने पर ही होती है।" (स. पृ. 8)

(27) "पूर्वपक्ष को मान्य निमित्त की कार्यकारिता ही सिद्ध होती है।" (स. पृ. 10)

(28) "उसमें उनका उद्देश्य उपादानकर्तृत्व और निमित्तकर्तृत्व का प्रकृत में भेद दिखलाते हुए यह प्रकट करने का था कि द्रव्यकर्मोदय संसारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गतिपरि–भ्रमण में उपादान कारणभूत संसारी आत्मा को सहायता मात्र करता है, संसारी आत्मा की तरह वह उस कार्यरूप परिणत नहीं होता।" (स. पृ. 12)

(29) "प्रेरक निमित्त वे हैं जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्य के कार्य में निमित्त होते हैं और उदासीन निमित्त वे हैं जो चाहे क्रियावान द्रव्य हो और चाहे अक्रियावान द्रव्य हो, परन्तु जो क्रिया के माध्यम से निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्यों के समान अन्य द्रव्यों के कार्य में निमित्त होते हैं।" (स. पृ. 12)

(30) "अनुकूल निमित्तों का सहयोग मिलने पर उपादान की विवक्षित कार्यरूप परिणति होना और जव तक अनुकूल निमित्तों का सहयोग प्राप्त न हो तव तक उसकी (उपादान की) विवक्षित कार्यरूप परिणति न हो सकना यह निमित्तों के साथ कार्यो की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं। तथा उपादान की कार्यरूप परिणति के अवसर पर निमित्तों का उपादान को अपना सहयोग प्रदान करना और उपादान जव तक अपनी कार्यरूप परिणत होने की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं करता तव तक उनका (निमित्तों का) अपनी तटस्थ स्थिति में वना रहना यह निमित्तों की कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं।" (स. पृ. 13)

ये कतिपय वक्तव्य हैं जिन्हें व्याकरणाचार्य जी ने अपनी समीक्षा में प्रस्तुत किये हैं। इनसे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं — एक तो उपादान-उपादेय के सम्बन्ध में और दूसरी निमित्त-नैमित्तिक के सम्बन्ध। ये दो ही विवाद के मुद्दे पूर्व पक्ष ने बना दिये थे, क्योंकि उनकी ओर से रखी गयी शंकाएँ प्रायः इसी दायरे की थी।

यहाँ सबसे पहले उपादान-उपादेयभाव के सम्बन्ध में अनेकान्तस्वरूप जैन दर्शन की स्याद्वाद पद्धति को ध्यान में रखकर उक्त वचनों का समुच्चय रूप में समाधान करेंगे।

जैन दर्शन में प्रमाण और नयदृष्टि मुख्य है। प्रमाण तो ज्ञानमात्र है, अनेकान्तस्वरूप जैसी वस्तु है उसे वह उसी प्रकार से जानता है। वह अपेक्षा को ध्यान में रखकर विवेचन नहीं करता। इसलिये अपेक्षा से विवेचन करना नयदृष्टि का काम है। नयचक्र में कहा भी है —

जं णाणीण वियप्पं वत्थुअंशसंगहणं।
तं इह नयं पउच्चइ णाणी पुण तेणणाणेहि॥

वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला जो ज्ञानी का विकल्प होता है वह नय कहलाता है। उस ज्ञान से यह ज्ञानी है।

इसलिये नयविशेष का उल्लेख न कर जो प्रश्न नयदृष्टि से किया जायगा उसका उत्तर नयदृष्टि से ही दिया जायगा। भले ही पूर्वपक्ष ने नयविशेष का उल्लेख न कर मन में नयदृष्टि को ध्यान में रखे बिना या नय विशेष का उल्लेख किये बिना प्रश्न किया गया हो अतएव पूर्वपक्ष के प्रथम प्रश्न के उत्तर में हमारी ओर से जो नयदृष्टि से उत्तर दिया गया था वह यथार्थ था। वहाँ नयविषयता का उल्लेख करना अनावश्यक कैसे हो गया? ऐसा मालूम पड़ता है कि पूर्वपक्ष नयदृष्टि से दिये गये उत्तर को अपने प्रश्न का उत्तर न माने, तो उससे प्रश्न का उत्तर अनावश्यक नहीं हो जाता। यहां देखना यह चाहिए कि प्रश्न के उत्तर में जो लिखा गया वह समीचीन है या नहीं, क्योंकि जैनदर्शन में अधिकतर विवेचन नयदृष्टि को ध्यान में रखकर ही किया गया है। भले ही पद-पद पर नयविशेष का उल्लेख न किया गया हो। हमारे पक्ष को तो आश्चर्य इसी बात का है कि यदि आपस के मतभेद को मिटाने के सम्बन्ध में चर्चा करनी थी तो निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय में चर्चा होनी चाहिए थी, क्योंकि मूलरूप में ये ही आपस में विवाद के विषय बने हुए थे। उनका निर्णय होने पर कर्म के उदय को चतुर्गतिभ्रमण का कारण किस दृष्टि से कहा गया है यह अपने आप फलित हो जाता है। पर निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय में चर्चा न कर ऐसे प्रश्न सामने लाये गये जो सहज ही स्पष्ट हो जाते। इसका अर्थ है कि पूर्वपक्ष स्वयं ही भूल में रहा और समाधान पक्ष को भी ऐसी बातों में उलझा दिया जिससे कभी भी विवाद समाप्त न हो सके। हमारा पक्ष भी उलझा रहा और आप का पक्ष भी उलझा रहा। हम जानते हैं कि पूर्वपक्ष का जो नेता था वह बहुत चतुर था। उसकी मनसा ही नहीं थी कि यह विवाद कभी समाप्त हो। विवाद समाप्त हो सकता था। यदि मूलमुद्दे को सामने रखकर विचार कर लिया जाता और विवाद को समाप्त करने की इच्छा होती। अस्तु

व्याकरणाचार्यने उपादान के दो लक्षण स्वीकार किये हैं जैसा कि उनके उक्त उद्धरणों से ज्ञात

होता है। एक तो वे नित्यपने की अपेक्षा मात्र द्रव्य को उपादान मानते हैं। (देखो उद्धरण नं. 14) दूसरे वे पर्याययुक्त द्रव्य को उपादान मानते हैं। (देखो उद्धरण 14) साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिये जब जैसे निमित्त मिलते हैं, उपादान से वह कार्य होता है, अतएव कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है। उनके लिखान में हमें ये तीन मत दिखाई देते हैं।

यहां उनके प्रथम मत के विषय में विचार करने पर प्रतीत होता है कि नित्यपने की दृष्टि से द्रव्य अन्य तीनों कालों में एकरूप ही रहता है उसको उपादान स्वीकार करने पर वह कार्यरूप परिणत कैसे हो जाता है ? इसका इन्हें ही विचार करना चाहिए, क्योंकि वे साथ ही यह भी लिखते जाते हैं कि उपादान ही उपादेयरूप होता जाता है।

द्रव्य का लक्षण है — उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् सद्द्रव्यलक्षणम्। (त. सू. अ. 5)

सत् का अर्थ है जिसमें उत्पादव्यय और ध्रौव्य ये तीनों पाये जायें और उसी को द्रव्य कहते हैं, इसका अर्थ है कि उत्पाद भी सत् है, व्यय भी सत् है और ध्रौव्य भी सत् है। ये तीनों "सत्" पने से अभिन्न हैं। उनमें विवक्षा भेद में अब ध्रौव्य अन्वयरूप है, इसलिये तीनों कालों में वह एकरूप रहता है, इस दृष्टि से वह नित्य है। उत्पाद और व्यय में पर्याय हैं। ये दोनों बदलते रहते हैं, अतएव अनित्य हैं। पर्याय को व्यतिरेकरूप इन्हीं की दृष्टि से स्वीकार किया गया है। निष्कर्ष यह है कि सत् तीनों रूप हैं। अन्वय और व्यतिरेक रूप उन्हें ही द्रव्य कहा जाता है।

इस प्रकार यदि सत् की दृष्टि से विचार किया जाता है तो वह अन्वय और व्यतिरेकरूप होने से सत् अर्थात् पर्याययुक्त द्रव्य उपादान होता है। उपादान न केवल अन्वय (द्रव्यरूप) होता है और न केवल व्यतिरेक (पर्यायरूप) होता है। उपादान से अनन्तर समय में जो उपादेय होता है वह भी न केवल अन्वयरूप होता है और न केवल व्यतिरेकरूप ही। अर्थात् जो उपादान होता है वह भी द्रव्य-पर्यायरूप होता है और जो अगले समय में उपादेय होता है वह भी द्रव्य-पर्यायरूप होता है। इसका विचार अष्टसहस्री में 10वीं कारिका की व्याख्या करते हुए विशेष रूप से किया गया है। वह कारिका इस प्रकार है—

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निन्हवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्॥

प्रागभाव का अपलाप करने पर कार्यद्रव्य अनादि हो जाता है और प्रध्वंसाभाव धर्म के प्रच्यव होने पर कार्यद्रव्य अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।

कार्य का आत्मलाभ के पहले नहीं होना प्रागभाव है। जो जैन कार्य से अव्यवहितपूर्व परिणाम को ही प्रागभाव मानते हैं उनके मन में उस अव्यवहित पूर्व परिणाम के पहले अनादि पूर्व सन्तति में कार्यद्रव्य का प्रसग प्राप्त होता है। वहाँ इतरेतर अभाव को स्वीकार करने पर यह कोई दोष नहीं आता। सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके अनन्तर परिणाम में भी उसी से कार्य के अभाव की सिद्धि हो जाने से प्रागभाव की कल्पना किसलिये की जाती है। कार्य प्रागभाव

के अभाव स्वभाव है इसलिये प्रागभाव को माना जाता है, यदि ऐसा है तो इसप्रकार कार्य से अव्यवहित पूर्व पर्याय से रहित पूर्वोत्तर सम्पूर्ण पर्यायों में कार्यस्वभावता कैसे नहीं प्राप्त होती ? इस लिए प्रागभाव अभाव स्वभाव की अपेक्षा अविशेष है। ऐसा होने पर भी कोई एक पर्याय ही कार्यरूप से इष्ट है, इतर परिणाम नहीं ऐसा मानना भी अभिनिवेषमात्र है।

सम्भवतः तुम्हारा (जैनों का) यह कहना हो कि कार्य से पहले अव्यवहित पूर्वपर्याय कार्य का प्रागभाव है और उसी कार्य का प्रध्वंस ही घटादि कार्य है। परन्तु इतरेतराभाव कार्य नहीं है जिससे कि तत्पूर्वोत्तर सकल पर्यायों में घटपना प्राप्त होवें और पूर्वोत्तर सकल पर्यायों में प्रागभाव और प्रध्वंसरूपता है, क्योंकि उन पूर्वोत्तर पर्यायों में इतरेतराभाव स्वीकार किया जाता ह सो यह भी सुगत मत के अनुसार स्याद्वादियों की मान्यता प्राप्त होती है, क्योंकि इससे स्वमत का विरोध होता है। प्रागभाव अनादि है यह सुगत मत है, किन्तु ऐसा मानना पूर्व अनन्तर पर्याय मात्र घट का प्राग-भाव है इस बात के विरुद्ध पड़ता है।

द्रव्यार्थिकनय से प्रागभाव अनादि है तो क्या इस समय मिट्टी आदि द्रव्य प्रागभाव है ? यदि ऐसा माना जाय तो प्रागभाव की अभावरूपता घट की कैसी बनेगी, क्योंकि द्रव्य का अभाव होना असम्भव है। इसलिए कभी भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। यदि पुनः पूर्व पर्याय की सभी अनादि सन्ततियाँ घट का प्रागभाव अनादि हैं ऐसा मत हो तो उस समय भी पूर्व अनन्तर पर्याय की निवृत्ति के समान उससे पूर्व की पर्याय की निवृत्ति होने पर घट की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। और ऐसा होने पर घट का अनादिपना प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्वपर्याय की निवृत्तिरूप सन्तान भी अनादि है।

यदि कहा जाय कि घट के अव्यवहित पूर्व सम्बन्धी पर्याय घट का प्रागभाव नहीं है, न मिट्टी आदि द्रव्यमात्र प्रागभाव है और न घट से पूर्व की समस्त पर्याय सन्तति ही घट का प्रागभाव है। तो क्या प्रागभाव है ? यह पूछे जाने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु प्रागभाव है। और वह कथंचित् अनादि है तथा कथंचित् सादि है यह स्याद्वाद दर्शन है। इसीलिए स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में उपादान और उपादेय का यह लक्षण उपलब्ध होता है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ।।

अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान है और अव्यवहित उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य नियम से कार्य है।

कारण-कार्य के विषय में यह वस्तुस्थिति है। इसलिए समीक्षक महानुभाव व्याकरणाचार्य ने नित्यपने की अपेक्षा नित्य द्रव्य को उपादान कहा है और उस आधार पर जो द्रव्य को अनेक योग्यता वाला मानकर निमित्तों के बल से आगे-पीछे जब जैसे निमित्त मिलते हैं उनके अनुसार कार्य होने का विधान किया है, वह आगम न होकर मात्र उनकी मान्यता ही कही जा सकती है। वे अनेक स्थानों पर लिखते हैं कि आगम, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव से इसका समर्थन होता है। सो आगम तो

हम यहीं प्रस्तुत कर आये हैं। रही इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव की वात सो संशयज्ञान, विपर्यय ज्ञान और अनध्यवसायज्ञान भी तो ज्ञान ही हैं। जैसे मृगमरीचिका में मृग को पानी का अभाव होने से वह दौड़ता फिरता है, उसे पानी के दर्शन नहीं होते, वैसे ही इस ज्ञान को मृगमरीचिका के समान मानकर आगम प्रमाण को ही प्रमाण मानना चाहिये।

ऐसा हम क्यों लिखते हैं? क्या इससे यह आभास नहीं होता कि आप अपने को तत्वज्ञ मानते हो तो इस सम्बन्ध में हमारा यही कहना है कि हमें अपनी अपेक्षा व्याकरणाचार्य को तत्वज्ञ मानने में कोई आपत्ति नहीं, पर उन्हें नित्य द्रव्य को सम्यक् उपादान स्वीकार करने में आगम प्रमाण उपस्थित कर इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि ज्ञान को प्रमाण मानना चाहिये था। आगम प्रमाण तो दिया नहीं और उसे न देकर मात्र उसका वहाना कर इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि को प्रमाण मानना कैसे सगत कहा जा सकता है? एक प्रमाण तो उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड का देकर स्वयं उसके आधार पर अनेकान्तस्वरूप द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को उपादान मान लिया है। किन्तु पूरी समीक्षा उन्होंने नित्य-द्रव्य को उपादान मानकर लिखी है। इससे उन पर यदि हम ऐसा आरोप करें कि वे ऐसा लिखकर नैयायिक दर्शन के अनुसार ईश्वरवाद का समर्थन कर रहे हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यह वस्तुस्थिति है फिर भी हमारा काम है कि उनके सामने विचार के लिये विविध आगमों के अनेक प्रमाण उपस्थित करें। सम्भव है कि इससे उनका विचार वदल जाये और वे उन आगम प्रमाणों के प्रकाश में जैनदर्शन के अनुसार ही लिखने लगें। वे अच्छे लेखक हैं, विचारक भी हैं, व्याकरण शास्त्र का उन्होंने पूरी तरह से अभ्यास भी किया है। जव वे जैनदर्शन को अपने लेखन का विषय वनाकर निश्चयन-यव्यवहारनय और उनके भेद-प्रभेदों को ध्यान में रखकर लिखेंगे तो हम उनका और उनके द्वारा लिखे गये लिखान का स्वागत ही करेंगे। अव यहाँ उनके सामने हम उपादान के विषय में और भी प्रमाण उपस्थित कर देना चाहते हैं।

दो प्रमाण तो हम पहले ही उपस्थित कर आये हैं। सम्यक् उपादान के विषय में अन्य प्रमाण उपस्थित करते हुये स्वामी समन्तभद्राचार्य अपनी आप्तमीमांसा में लिखते हैं—

कार्योत्पादः क्षमोहेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत्॥

हेतु का नियम होने से क्षय (व्यय) कार्य का उत्पाद है। किन्तु वे दोनों लक्षण की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। जाति आदि के अवस्थान से वे दोनों आकाशफूल के समान सर्वथा अनपेक्ष नहीं हैं। इसकी अष्टसहस्री टीका में इसे स्पष्ट करते हुए वतलाया है—

उपादान का पूर्वाकार से (पूर्व पर्याय से) क्षय (व्यय) होना कार्य का उत्पाद ही है, क्योंकि उनमें हेतु का (एक हेतु का) नियम है। परन्तु जो उससे भिन्न है अर्थात् उत्पाद के लक्षण में अन्य है उसमें हेतु का नियम नहीं देखा जाता। जैसे अनुपादान के क्षय और अनुपादान के उत्पाद में ये हेतु का नियम नहीं देखा जाता। इसलिये उपादान का क्षय ही उपादेय का उत्पाद है। और यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि कार्य के जन्म और कारण के विनाश में एक हेतुपने का नियम अच्छी तरह से प्रतीत होता है। जो वौद्ध यह मानते हैं कि उत्पाद सहेतुक होता है और विनाश निर्हेतुक होता है, उनके उस मत का इससे निराश हो जाता है।

यदि कोई ऐसा माने कि उत्पाद और व्यय में सर्वथा अभेद ही है सो उसका ऐसा मानना समीचीन नहीं हैं, क्योंकि उन दोनों को लक्षण की अपेक्षा देखा जाय तो वे दोनों कथचित् भिन्न हैं। यथा कार्य और कारण का क्रम से उत्पाद और विनाश कथंचित् भिन्न हैं, क्योंकि वे कथंचित् भिन्न लक्षणों से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे सुख और दु.ख भिन्न-भिन्न लक्षणवाले होने से कथंचित् भिन्न हैं, उसी प्रकार उत्पाद और व्यय भी कथंचित् भिन्न हैं। यह हेतु अनेकांत अथवा विरूद्ध दोष से दूषित नहीं है, क्योंकि क्वचित् एक द्रव्य में भी कथंचित् भेदों के बिना भिन्न लक्षण से संबंध रखने वाला होना असम्भव है। उन दोनों भेद को ग्रहण करने वाला प्रमाण पाया जाने से सर्वथा भेद नहीं है। यथा उत्पाद और विनाश कथंचित् अभिन्न हैं, क्योंकि उसमें अभेदरूप से स्थित पुरूष के समान जाति और संख्या पाई जाती है। पर्याय की अपेक्षा व्यय और उत्पाद भिन्न लक्षण वाले हैं, ध्रौव्यपने की अपेक्षा नहीं। पृथ्वी आदि सत् द्रव्य जातिरूप होने से, एकत्वसंख्यारूप होने से, शक्तिविशेष रूप होने से और अन्वयरूप होने से वे एक हैं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से वैसा ही प्रतीत होता है। वही मिट्टी द्रव्य साधारण घट के आकार से नष्ट हुई और कपाल रूप से उत्पन्न हुई ऐसा प्रतीत होता है, इससे कोई बाधक प्रमाण नहीं पाया जाता। जो मैं सुखी था वही मैं दुःखी हूं यह एक पुरुष में जैसे प्रतीत होता है वैसे यहां भी समझना चाहिये।

इस कथन से भी हम जानते हैं कि उपादान का लक्षण केवल नित्य द्रव्यमात्र नहीं है, क्योंकि जो पूर्व और उत्तर पर्याय में साधारण होता है उसी को सामान्यरूप द्रव्यात्मा कहते हैं। उस रूप से सभी वस्तुएं उत्पन्न नहीं होती और न विनाश को प्राप्त होती हैं, क्योंकि सामान्य स्वरूप का द्रव्य में स्पष्ट रूप से अन्वय देखा जाता है। इसलिये उपादान का लक्षण सामान्य नित्य द्रव्य न होकर पर्याययुक्त द्रव्य हो हो सकता है। व्याकरणचार्यजी ने खा. त. च. पृ 369 में जो यह लिखा है कि "पर्याय तो कार्य में ही अन्तभूर्त होती है, वह उपादान कभी नहीं होती," वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि आगमप्रमाण से यह हम स्पष्ट कर आये हैं कि पर्याययुक्त द्रव्य ही उपादान होता है।

परीक्षामुख अध्याय तीन के सूत्र 16, 17 और 18 से भी यह तथ्य फलित होता है। सूत्र 16 में अविनाभाव को दो प्रकार का बतलाया है सहभावनियम और क्रमभावनियम। जो सहचारी होते हैं, जैसे रूप और रस तथा व्याप्य और व्यापक, जैसे वृक्ष और सीसोन, इनमें सहभाव नियम अविनाभाव होता है यह 17संख्यक सूत्र में बतलाया है साथ ही 18 संख्यक सूत्र में यह बतलाया है कि पूर्वचारी और उत्तरचारी होते हैं, तथा जो कार्य और कारण होते हैं, उनमें क्रमभाव नियम अविनाभाव होता है।

कार्यकारणभाव का उदाहरण देते हुए उसकी टीका में अग्नि और धूम्र को उद्धरणरूपमें प्रस्तुत किया है। इससे हम जानते हैं कि यहां गीली लकड़ी को ग्रहण न कर अग्निविशेष को ग्रहण किया है, अग्निविशेष से ही धूम्र को जन्म मिलता है, अग्निसामान्य से नहीं। इसी बात का समर्थन प्रमेयकमलमार्तण्ड के इन सूत्रों के ऊपर लिखित टीका से भी होता है।

यह क्रमभाव नियम अविनाभाव कार्य-कारणभाव में तभी बन सकता है, जब उपादान को भी पर्याययुक्त द्रव्य स्वीकार कर लिया जाय और उपादेय को भी पर्याययुक्त द्रव्य स्वीकार

कर लिया जाय। आगम के अनेक वचनों से भी इसी तथ्य का समर्थन होता है। यदि नित्य द्रव्य को उपादान स्वीकार किया जाता है वह नित्य होने से सदा ही एकान्त से अपरिणामी बना रहेगा, वह स्वयं कार्यरूप कैसे परिणमेगा और व्याकरणाचार्य जी के मत से उपादान तो नित्य हो और उससे होने वाली पर्याय अनित्य हो यह कैसे बन सकता है ? शायद अपने इस मत के समर्थन में ही उन्होंने उपादान को मुख्यता से आश्रय रूप कारण माना है। जबकि उपादान भी षट्कारक-रूप होता है — जो ग्रहण करे, जिसको ग्रहण करे, जिसके लिए ग्रहण करे अन्य विवक्षित पर्याय से भिन्न को ग्रहण करे, जिसमें ग्रहण करे। यह विवक्षा की बात है कि हम किस कारक की मुख्यता से कथन कर रहे हैं, परन्तु उसे सर्वथा मान लेने का ही निषेध हैं। इसके लिए प्रवचनसार की 16वीं गाथा की टीका पर दृष्टिपात कर सकते हैं।

यहाँ क्रमभावी नियम अविनाभाव उपादान और उपादेय भाव में ही बन सकता है, निमित्त-नैमित्तिकभाव में नहीं, क्योंकि परीक्षामुखसूत्र में उपादान-उपादेय भाव का कथन ही विवक्षित है। यह बात सही है कि जिसप्रकार विवक्षित उपादान से विवक्षित उपादेय की ही प्राप्ति होती है, उसीप्रकार विवक्षित उपादान के कार्य का विवक्षित ही निमित्त रहता है। परीक्षामुख अ.3 सूत्र 63 में जो "कुलालस्येव कलशं प्रति" उदाहरण दिया है वह भी इसी बात को सूचित करता है। मात्र उपादान-उपादेय भावरूप कार्य-कारणभाव से निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव में एक विशेषता है। वह यह कि उपादान अव्यवहित पूर्वसमय में होता है और उपादेय अव्यवहित उत्तर समय में होता है। जबकि निमित्त-नैमित्तिक भाव के सम्बन्ध में यह भेद नहीं है। उनमें से जिस समय निमित्त है उसी समय नैमित्तिक (उपादेयरूप कार्य) है। आगम में भी इन दोनों में समयभेद स्वीकार नहीं किया है। यथा—

कारण-कार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम् ॥

यहाँ निमित्त-नैमित्तिकभाव के उदाहरण में सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान को लिया है। सम्यक्त्व को निमित्तरूप में स्वीकार किया है और सम्यग्ज्ञान को नैमित्तिक रूप में स्वीकार किया है। इसी बात का समर्थन समयसार गाथा.84 की टीका से भी होता है। जिस समय कुम्भकार अपने कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार करता है, उसी समय मिट्टी स्वयं कलश रूप परिणाम जाती है। कुम्भकार ने जो कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार किया है वह स्वयं किया है, मिट्टी में नहीं किया है। मिट्टी से अलग रहकर ही अपने में किया है और मिट्टी ने भी कुम्भकार से अलग रहकर अपना कलशरूप व्यापार किया है। फिर भी बाह्य लोगों का अनादि से 'अज्ञानी का' व्यवहार चला आ रहा है कि कुम्भकार ने कलश बनाया। जिस समय क्रोध कषाय का उदय होता है उसी समय क्रोध पर्याय होती है। इन उदाहरणों में भी इसी बात का समर्थन होता है कि जिस समय में निमित्त है उसी समय में उसका नैमित्तिक होता है। उक्त श्लोक में जो दीप और प्रकाश का उदाहरण लिया है वह भी निमित्त-नैमित्तिक भाव के अर्थ में ही लिया है, क्योंकि उपादान भी निमित्त ही है। अन्तर इतना ही है कि यहां जो विवक्षित परिणाम के सन्मुख होता है उसे उपादान कहा गया है। यदि परिणाम करता हुआ अर्थ उपादान का किया जाय तो उपादान कर्ता कहलायेगा और उसी समय में उपादेय कर्म कहलायेगा, किन्तु यह कथन भी सद्भूत व्यवहारनय से ही किया जा सकता है असद्भूत व्यवहारनय से नहीं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में कहा भी है :—

धर्म-धर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।
न हि स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारक-ज्ञापकांगवत् ।।

धर्म और धर्मी में अविनाभाव सम्बन्ध है यह बात परस्पर (एक दूसरे) के अच्छी तरह देखने से ज्ञात होती है, किन्तु उनका स्वरूप नहीं, वह नियम से स्वयं ही कारकांग कर्ता-कर्म के समान और ज्ञापकांग ज्ञेय-ज्ञायक के समान है।

इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए उसकी टीका अष्टसहस्री में जो कहा है वह इस प्रकार है-(यहां प्रयोजन के अनुसार विवक्षित टीका का ही हिन्दी अनुवाद लिया है।)

धर्म और धर्मी में अविनाभाव सम्बन्ध है यह परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है, किन्तु उनका स्वरूप परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह विवक्षा के पहले ही स्वतः सिद्ध है। इन दोनों का स्वरूप सामान्य और विशेष के समान स्वतः सिद्ध स्वरूप वाला है, क्योंकि भेद की अपेक्षा रखने वाले अन्वयरूप ज्ञान से वह जाना जाता है तथा जैसे विशेष स्वतः सिद्ध स्वरूप वाला है क्योंकि, सामान्य की अपेक्षा रखने वाले व्यतिरेकरूप ज्ञान से वह जाना जाता है। उसी प्रकार गुण और गुणी आदि रूप धर्म और धर्मी को भी कर्ता-कर्म के समान तथा बोध्य-बोधक के समान जानना चाहिये। कारकांग कर्ता-कर्म हैं और ज्ञापकांग बोध्य-बोधक हैं।

यहां जैसे कर्ता का स्वरूप कर्म की अपेक्षा से नहीं है तथा कर्म का स्वरूप कर्ता की अपेक्षा से नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर दोनों का अभाव प्राप्त होता है, परन्तु यह इस कार्य का कर्ता है और यह इस (कर्ता) का कार्य है ऐसा व्यवहार परस्पर की अपेक्षा के विना नहीं होता। इससे बोध्य-बोधक का अर्थात् प्रमाणप्रमेय का स्वरूप स्वतः सिद्ध है। परन्तु इनका व्यवहार परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है। इसलिए उनके समान इन धर्मी और धर्मरूप समस्त पदार्थों की कथंचित् आपेक्षिकी सिद्ध है, क्योंकि वैसा व्यवहार होता है; कथंचित् अनापेक्षिकी सिद्धि है, क्योंकि वे विवक्षा के पहले ही सिद्ध हैं।

यहां प्रयोजन के अनुसार ये दो ही भंग कहे हैं। प्रकृत में हमें इस आधार पर इतना ही जानना है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी इसी न्याय से जानने योग्य है। यथा यह इस कार्य का असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त है। इसका अर्थ है कि जैसे उपादान स्वरूप से निमित्त है वैसे यह स्वरूप से निमित्त नहीं है। प्रयोजन (त्रिकाल बाह्यव्याप्ति) के अनुसार उसे निमित्त कहा जाता है। अतएव बाह्यनिमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश यह कहा जाता है कि उनके विषय में (1) कथंचित् आपेक्षिकी सिद्धि है, क्योंकि इस प्रकार का उनमें असद्भूत व्यवहार होता है, (2) कथंचित् बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये विना सिद्ध है, क्योंकि कार्य की बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये जाने से पूर्व ही कार्य की सिद्धि है। तात्पर्य यह है कि बाह्य निमित्त की विवक्षा के पूर्व ही कार्य स्वरूप से सिद्ध है, इस लिए बाह्य निमित्त उपचार से ही उसका कारण कहा जाता है। यहां सर्वत्र उपचार का अर्थ ही यह है कि "जो जिसका न हो उसको उसका कहना या इस प्रकार का विकल्प करना" स्पष्ट है कि बाह्य निमित्त कार्यरूप धर्मी का वास्तविक धर्म तो नहीं है, फिर भी बाह्य व्याप्ति वश उससे कार्य की सिद्धि होती है, इसलिये जिनागम में उसे स्थान मिला हुआ है। बाह्य निमित्त को व्याकरणाचार्य स्वयं

अयथार्थ कारण मानते हैं। (स. पृ. 4) फिर भी उसकी सहायता को भूतार्थ कहते हैं (स. पृ. 5) यही आश्चर्य है। यदि वह अयथार्थ कारण है तो उसकी सहायता कार्यकारी – भूतार्थ कैसे हो सकती है, अयथार्थ ही रहेगी। वैसे देखा जाय तो प्रयोजन के अनुसार उसे अन्य के कार्य का निमित्त स्वीकार किया है, इसीलिए उसे उपचरित कारण कहेंगे, अयथार्थ कारण नहीं। इसी प्रकार उसकी सहायता उपचरित ही कहेंगे भूतार्थ नहीं।

यहाँ हमारी दृष्टि से एक आश्चर्य तो यह है कि व्याकरणाचार्य जी जहां बाह्य निमित्त को अयथार्थ कारण कहकर उसकी सहायता को कार्यकारी – भूतार्थ मानते हैं। वहाँ हम बाह्य निमित्त को उपचार से कारण और उसकी सहायता को उपचार से सहायक मानते हैं, क्योंकि उपचार का व्यवहार ऐसी जगह नहीं होता जिसे किसी अपेक्षा से विवक्षित वस्तु की या कार्य की सिद्धि में निमित्त न माना हो। निमित्त कहो या सहायक या उपकारक कहो, इन तीनों का अर्थ प्रकृत में एक ही है। हमने कहीं भी बाह्य निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर नहीं लिखा है। उपचरित हेतु का उपचार से कारण या सहायक या उपचरितकर्ता अवश्य लिखा होगा। इसका अर्थ है कि जिसमें उपचार किया जाता है,उसे प्रयोजन के अनुसार स्वीकार अवश्य किया जाता है, पर वह मुख्य स्थान ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ रहता है।

व्याकरणाचार्यजी किसी कार्य का निमित्त होकर वह कार्य के होने में सहायता करता है और सहायता करने को भूतार्थ मानते हैं, इसे वे ही जानें कि निमित्त की सहायता क्या है ? वह बाह्य निमित्तगत है या कार्यगत ?

समीक्षा पृ. 14 में व्याकरणाचार्यजी प्रेरक बाह्य निमित्तों की कार्यकारिता को बतलाते हुये लिखते हैं कि "यह भी ध्यातव्य है कि उपादान उसे कहते हैं जिसमें कार्यरूप परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता विद्यमान हो। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रेरक निमित्त उपादान की उस योग्यता को उत्पन्न करता है, प्रेरक निमित्तों का कार्य ही उस योग्याता को कार्यरूप से विकसित होने के लिए प्रेरणा मात्र करना है।"

यहां पहले तो यह देखना है कि व्याकरणाचार्यजी जिस उपादान को "स्वभावत: योग्यता" कहते हैं, वह द्रव्यरूप होती है कि पर्यायरूप। यदि उसे द्रव्यरूप माना जाता है तो द्रव्यार्थिकनय का विषय द्रव्य तो अनादि-अनन्त, अपरिणामी होता है। उसे विकसित करने के लिए उपादान को प्रेरणा देने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि वह पर्यायरूप है तो वह अव्यवहित पूर्व पर्याय ही हो सकती है, अत: वह अगले समय में कार्यरूप ही परिणमन करेगी, क्योंकि कार्य का उत्पाद ही पूर्व पर्याय का क्षय है। जैसा कि कहा भी है – "कार्योत्पाद: क्षय:" ऐसी अवस्था में प्रेरक निमित्तों का क्या उपयोग रहा यह सिद्धान्ताचार्य व्याकरणाचार्य जी ही जाने।

वस्तुतः देखा जाय तो सम्यक् उपादान बाह्य निमित्तों की सहायता के विना ही अपना कार्य करता है। इसलिये व्याकरणाचार्य जी ने प्रेरक निमित्त को उपादान की उस योग्यता को कार्यरूप से विकसित होने के लिये प्रेरणा मात्र करता है यह जो कहा है, सो उनके उस कथन से एक तो जैनदर्शन में पर्यायान्तर से ईश्वरवाद के प्रवेश कराने के समान है। दूसरे उनके द्वारा माने गये प्रेरक निमित्तों की उक्त कथन से अयथार्थता ही सिद्ध होती है। यदि बाह्य निमित्त निमित्तपने की अपेक्षा वास्तविक हों तो उसकी सहायता भी वास्तविक मानी जाय। जबकि निमित्त वास्तविक तो नहीं है, बाह्य उपचार व्याप्तिवश से निमित्त है, इसलिये उसकी सहायता को भी उपचरित ही जानना चाहिये। इसका अर्थ है कि बाह्य निमित्त में सहायता का आरोप किया गया है, बाह्य निमित्त सहायता करता नहीं।

दूसरे, ग्राजकल "डिग्री टू डिग्री" के ग्रनुसार जो यह मान्यता चली है कि वाह्य निमित्तों में जितनी योग्यता या शक्ति होती है उतना ही कार्य होता है। सो यह मान्यता भी समीचीन नहीं है, क्योंकि एक तो पर्याययुक्त द्रव्य ही उपादान होता है। कहीं पर जो पर्याय को उपादान कहा गया है वह ऋजुसूत्रनय की ग्रपेक्षा ही कहा गया है, नैगमनय की ग्रपेक्षा नहीं, क्योंकि नैगमनय द्रव्य-पर्याय दोनों को स्वीकार करता है। ग्रब यहाँ प्रकृत में ग्रागमवचन को देना इष्ट मानते हैं, जिससे प्रेरक निमित्तों का निरसन तो हो ही जाता है पर "डिग्री टू डिग्री" सिद्धान्त का भी निरसन हो जाता है। ग्रागम का यह वचन इसप्रकार है—

केवलकसायपरिणामो चेवग्रणुभागघादस्स कारणं, किन्तु पयडिगय सत्ति सव्ववेक्खो परिणामो ग्रणुभागघादस्स कारणं तत्थ वि पहाणमंतरंग कारणं तम्हि उक्कस्से संते वहिरंगकारणं थोवे वि वहुग्रणुभागघादाणुवलभादो। ग्रंतरंगकारणे थोवे बहिरंगकारणे वहुए संते वि बहुग्रणुभागघादाणुवलभादो। तदौणमाणुभागघाद ग्रंतरंग कारणदो वेदणीयाणुभागघाद ग्रंतरंगकारणानन्तगुणहीणमिदि णामजहण्णाणुभागादो वेदणीय जहण्णभागस्स ग्रणंतगुणतं जुज्जदे। धवलल पु. 12, पृ. 33)

केवल कषाय परिणाम ही ग्रनुभागघात का कारण नहीं है किन्तु कर्मप्रकृति में रहनेवाली शक्ति की ग्रपेक्षा सहित परिणाम ग्रनुभागघात का कारण है। उसमें भी ग्रंतरंग (उपादान) कारण प्रधान है। उसके उत्कृष्ट होनेपर वहिरंग (निमित्त) कारण के स्तोक रहने पर भी बहुत ग्रनुभाग का घात देखा जाता है ग्रौर ग्रंतरंग कारण के स्तोक रहने पर वहिरंग कारण के बहुत रहने पर ग्रनुभाग का घात नहीं उपलब्ध होता। ग्रतः नामकर्मसम्बन्धी ग्रनुभाग के घात के ग्रंतरंग कारण की ग्रपेक्षा वेदनीय सम्बन्धी ग्रनुभाग के घात का ग्रंतरंग कारण ग्रनन्तगुणा हीन है, ग्रतः नामकर्म के जघन्य ग्रनुभाग की ग्रपेक्षा वेदनीय का जघन्य ग्रनुभाग ग्रनन्तगुणा है, यह वन जाता है।

नामकर्म का ग्रनुभाग हत समुत्पत्ति कर्मवाले सूक्ष्म निगोदिया जीव का लिया गया है ग्रौर उसी समय चौदहवें गुणस्थान के ग्रन्तिम समय में स्थित ग्रयोगकेवली का लिया गया है। इसलिये यहां प्रश्न है कि सूक्ष्म निगोदिया जीव के नामकर्म के जघन्य ग्रनुभाग से ग्रयोगकेवली के ग्रन्तिम समय में वेदनीय कर्म के एक निषेक में स्थित जघन्य ग्रनुन्तगुण कैसे होता है? सो इसका समाधान ग्राचार्यदेव ने उक्त प्रकार किया है। विशेष समझने के लिये उक्त प्रकरण पर दृष्टिपात करना चाहिये। इससे हम जग्न लेते हैं कि "वाह्य प्रेरक निमित्त उपादान को विकसित करने के लिये प्रेरणा मात्र प्रदान करता है" यह मान्यता स्वघर की मान्यता ही है ग्रौर जो भाई उपादान ग्रौर वाह्य निमित्त में डिग्री टू डिग्री का सिद्धान्त मानते हैं उसका भी निरसन हो जाता है। साथ ही व्याकरणाचार्य जी की इस मान्यता का भी खण्डन हो जाता है कि उपादान द्रव्य ही होता है, पर्याय नहीं, क्योंकि नामकर्म ग्रौर वेदनीय कर्म के ग्रनुभाग को विवक्षित जीव के विवक्षित समय का कहना तभी वन सकता है जव उन दोनों कर्मो के ग्रनुभागों को पर्याययुक्त द्रव्य स्वीकार किया जाय।

इसप्रकार पर्यायनिरपेक्ष मात्र द्रव्यरूप उपादान तो वनता ही नहीं। साथ ही उस उपादान को ग्रनेक योग्यतावाला कहना भी इसीलिये नहीं बनता कि ऐसा उपादान एकान्त से नित्य द्रव्य ही हो सकता है यह मात्र व्याकरणाचार्य जी की मान्यता ही कही जायगी।

समीक्षा पृ. 28 में व्याकरणाचार्य जी यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि—"अनित्य उपादान-शक्तिरूप पर्याय शक्ति विशिष्ट नित्य उपादान शक्तिरूप द्रव्यशक्ति कार्योत्पत्ति में साधक होने से अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्याय शक्ति का भी कार्यकाल की योग्यता के रूप में कार्योत्पत्तिकी साधक माननी चाहिये ।"

उनके इस कथन से ऐसा लगता है कि व्याकरणाचार्य जी अपने विचारों पर स्थिर नहीं हैं। उन्होंने जो अकेली नित्य द्रव्यशक्ति को उपादान कहा है वह तो आगम में कहीं दृष्टिगोचर होता ही नहीं, क्योंकि उपादान उपादेयरूप तभी बन सकता है जब उसे अनित्य द्रव्यशक्ति का (पर्याय) स्वीकार किया जाय और ऐसा स्वीकार करने पर नित्य द्रव्यशक्ति का उपादेय में अन्वय भी बन जाता है और पर्यायशक्तिरूप उपदान का उपादेयरूप परिणमना भी बन जाता है। साथ ही व्याकरणाचार्य जी की इस मान्यता का भी निरसन हो जाता है कि कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है।

अब एक बात विचार के लिये यह रह गई कि कुछ कार्य व्याकरणाचार्य जी ऐसे भी मानते हैं जो निमित्तों की अपेक्षा के बिना केवल उपादान के अपने बल पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हें वहां स्वप्रत्यय नाम दिया गया है।

सम्भवतः उन्होंने ये विचार सर्वार्थसिद्धि अ.५ सू. ७ के वचन के आधार पर ही बनाया है। ऐसा विचार बनाते समय उन्हें आचार्य समन्तभद्र का यह वचन भी ख्याल में नहीं रहा कि "कार्यों में बाह्य और आभ्यंतर उपाधि की समग्रता होती है ऐसा द्रव्यगत् स्वभाव है" यथा—'बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभावः।' साथ ही उन्होंने सर्वार्थसिद्धि के पूरे वचन को दृष्टिपथ में न लेकर यह मत बनाया है। इसलिये यहां हम सर्वार्थसिद्धि के उक्त वचन को उद्धृत कर देना चाहते हैं—

स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे-क्षणे तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परद्रव्यापेक्षउत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियेत।"

"स्वनिमित्तक यथा—प्रत्येक द्रव्य में आगम प्रमाण से अनन्त अगुरुलघुत्व गुण (अविभाग-प्रतिच्छेद) स्वीकार किये गये हैं जिनका छह स्थान पतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है, अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभाव से (परनिरपेक्षरूप से) होता है। इसीप्रकार परप्रत्ययरूप भी उत्पाद और व्यय कहा जाता है। यथा — ये धर्मादिक द्रव्य क्रम से अश्वादि की गति, स्थिति और अवगाहन में निमित्त हैं। चूंकि इन गति आदि में क्षण-क्षण में अन्तर पड़ता है, इसीलिये इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिये, इसप्रकार इन धर्मादिक द्रव्यों पर परप्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद और व्यय का व्यवहार किया जाता है।"

इस कथन से हम जानते हैं कि लोक में ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसमें उभय निमित्तों को न स्वीकार किया गया हो।

यहां एक प्रश्न अवश्य ही विचारणीय रह जाता है कि यदि ऐसा है तो मोक्षपर्याय को भी उभयनिमित्तक स्वीकार करना चाहिये। जैसा कि व्याकरणाचार्य जी का मत है। देखो (स. पृ. 26) सो इसका समाधान यह है कि निमित्त दो प्रकार के होते हैं — सामान्य निमित्त और विशेष निमित्त। जिस पर्याय का विशेष निमित्त हो उसे स्वपर प्रत्यय पर्याय कहते हैं। जैसे—जीव की कर्मों के उदय और उदीरणा को निमित्त कर होनेवाली पर्याय। और जिस पर्याय के होने में विशेष निमित्त या निमित्तों का अभाव हो उसे स्वप्रत्यय पर्याय कहते हैं। जैसा कि नियमसार गा. 14 और उसकी टीका से स्पष्ट है। जितने भी कर्मों के क्षय आदि से जीव के भाव होते हैं उन्हें आगम मे स्वप्रत्यय इसीलिये स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, वे सब भाव पर की अपेक्षा किये बिना बुद्धि में ज्ञायकस्वभावरूप आत्मा को दृष्टिपथ में लेने से ही होते हैं। इसीलिये ऐसी पर्यायों को स्वभावपर्याय भी कहते हैं। विशेष विचार आगम से जानकर कर लेना चाहिये। आगम साधुओं के लिये जब चक्षु है तो हमें तो है ही।

इसप्रकार उपादान उपादेय के सम्बन्ध में विचार किया। विशेष विचार समीक्षा के समाधान में किया ही है। यहां विशेषरूप से बाह्य निमित्तों के विषय में विचार प्रस्तुत है। व्याकरणाचार्य जी दो प्रकार के निमित्त मानते हैं — प्रथम प्रेरक निमित्त और दूसरे उदासीन निमित्त। इनके वे वे दो प्रकार के लक्षण भी करते हैं। देखो (स. पृ. 14)

अब आगम देखें, आगम में बाह्य निमित्त और कार्य में समव्याप्ति मानी गई है। जैसा कि छहढाला के "सम्यक्कारण जान ज्ञान कारज है सोई" इस वचन से ज्ञात होता है। साथ ही उन दोनों को उसी छन्द में युगपत् स्वीकार किया है। आगम में दो प्रकार के बाह्य निमित्तों का उल्लेख आता है। जिनको आगम में विस्रसानिमित्त कहा गया है वे सब उदासीन निमित्त हैं, क्योंकि जड़ पदार्थ बुद्धि द्वारा किसी कार्य में निमित्त नहीं होते, हवा को निमित्त कर ध्वजा का फड़कना विस्रसानिमित्त ही है। उनमें दोनों के लिये उनका क्रिया स्वभाव मुख्य है। जो कार्य बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं वे प्रायोगिक कार्य कहे जाते हैं। जैसा कि आप्तमीमांसा के इस वचन से स्पष्ट है—

बुद्धिपूर्वापक्षायां इष्टानिष्ट स्वपौरुषात्।
अबुद्धिपूवापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवत ॥

बुद्धिपूर्वक इष्ट और अनिष्ट जो कार्य होते हैं उनमें पौरुष से हुए — ऐसा स्वीकार किया जाता है। इन्हें ही आगम में प्रायोगिक कार्य माना गया है। तथा जो इष्ट और अनिष्ट कार्य बुद्धि-पूर्वक नहीं होते वे ही आगम में दैव से हुए ऐसा स्वीकार किया जाता है। यहां दैव का अर्थ पुरा-कृतकर्म और योग्यता किया गया है। इससे हम जानते हैं कि व्याकरणार्यजी आगम के शब्द प्रयोगों को देखकर बाह्य निमित्तों का प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त यह अर्थ भले ही करते हों, जबकि कार्य-कारण भाव के प्रसंग से निमित्तों का विचार प्रायोगिक निमित्त और विस्रसा निमित्तरूप से ही किया गया है। आगम का एक प्रमाण तो हम पहले आप्तमीमांसा का दे ही आये हैं। दूसरा प्रमाण हम सर्वार्थसिद्धि का यहां दे रहे हैं—

"बन्धो द्विविधः वैस्रसिकः प्रायोगिकश्च । पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिकः, तद्यथा—स्निग्ध—रूक्षत्वगुणनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः । पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रायोगिकः अजीव-विषयः जीवाजीवविषयश्चेति द्विधा भिन्नः । तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः । जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्मबन्धः (स० सि० अ० 5 सू० 24)

बन्ध दो प्रकार का है—वैस्रसिक और प्रायोगिक । जिस बन्ध में पुरुष के प्रयोग की अपेक्षा नहीं पड़ती वह वैस्रसिक बन्ध है । जैसे—स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि का विषयभूत बन्ध वैस्रसिक बन्ध है और जो बन्ध पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बन्ध है, इसके दो भेद हैं — अजीव सम्बन्धी बन्ध और जीवाजीव सम्बन्धी बन्ध । लाख और लकड़ी आदि का अजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है तथा कर्म और नोकर्म का जा जीव से बन्ध होता है वह जीवाजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है ।

यह बन्ध विषयक उद्धरण मात्र है । इसी न्याय में लोक में जितने भी कार्य होते हैं उनके विषय में भी समझ लेना चाहिये ।

प्रायोगिक विवक्षित कार्योंके विषय में समय सार की इस गाथा का अपना महत्व हैं । यथा—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवजोगा उप्पादगा य तेसिं हवादि कत्ता ।।१०० ।।

इस गाथा का भावार्थ लिखते हुए पं. जयचन्द जी कहते हैं—

भावार्थ—योग अर्थात् आत्म प्रदेशों का परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना जुड़ना । वह योग और उपयोग घटादि और क्रोधादि के निमित्त हैं, इस लिए उन्हें घटादि और क्रोधादि का निमित्तकर्ता कहा जावे, परन्तु आत्मा को तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता । आत्मा को संसार अवस्था में अज्ञान से मात्र योगउपयोग का कर्ता कहा जा सकता है ।

इससे भी हम जानते हैं कि संसार के सब कार्यो के निमित्त विस्रसा और प्रयोग के भेद से दो ही प्रकार के होते हैं । जिन्हें व्याकरणाचार्य जी उदासीन और प्रेरक निमित्त कहते हैं उनका इन दोनों निमित्तों में अन्तर्भाव हो जाता है । इतना आवश्यक है कि जीव के योग और उपयोग को निमित्त कर जो कार्य होते हैं उन्हें ही प्रायोगिक कार्य कहते हैं। यदि व्याकरणाचार्यजी उन्हें प्रेरक-निमित्त कहना चाहें तो भले कहें । शेष सब विस्रसा निमित्त कहे जायेंगे । चाहे वह ध्वजा का फड़कना ही क्यों न हो । बादल गरजते हैं यह भी विस्रसा-निमित्तों की अपेक्षा कहा जायगा । आगम में उदासीन निमित्तों का प्रयोग मात्र धर्मादि द्रव्यों की निमित्तता के अर्थ में ही दृष्टिगोचर होता है । इसलिए आगम में जो दो प्रकार के निमित्त बतलाये हैं–विश्रसा निमित्त और प्रयोग निमित्त वे ही समीचीन हैं । किन्तु समीक्षक महानुभाव ने समीक्षा पृ. 15 में जो यह लिखा है कि—पूर्वपक्ष मान्य दोनों निमित्तों के लक्षण सम्यक् हैं । सो उनका ऐसा लिखना समीचीन नहीं है, क्योंकि जिन्हें प्रेरक निमित्त कहते हैं वे यदि जीवाजीव सम्बन्धी हैं, तो वे अवश्य ही प्रायोगिक निमित्त में अन्तर्भूत हो जाते हैं, शेष सब वैस्रसिक निमित्त हैं ।

खानिया तत्त्वचर्चा पृ.४५ में व्याकरणाचार्यजी ने जो मोक्ष पर्याय को स्वपर सापेक्ष लिखा है सो उसका इसी न्याय से निरसन हो जाता है, क्योंकि जीव की मोक्ष पर्याय के होने में न तो योग निमित्त है और न धर्मादि द्रव्य ही निमित्त हैं। वह विवक्षित काल में हुई इतना ही कहा जा सकता है। पर वह हुई कैसे ऐसा कोई पूछे तो यही कहा जायेगा कि वह स्वभावभूत रत्नत्रय परिणाम से परिणत आत्मा ने काल की अपेक्षा किये विना की। इस विषय की चर्चा हम पहले ही कर आये हैं, पर उसमें विशेषता को दिखाने के अभिप्राय से पुनः की।

अब निमित्तनैमित्तिक भाव को स्पष्ट करते हुए जहाँ भी इस विषय को स्पष्ट किया गया है, वहां असद्भूत व्यवहार के कथन को ध्यान में रखकर ही खुलासा किया गया है, इसी लिये बद्धि में यह स्वीकार किया जाता है और तदनुसार कहा भी जाता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना परिणाम स्वयं करता है और ऐसा करता हुआ वह बाह्य निमित्त निरपेक्ष होकर स्वयं ही करता है। इसी लिये बाह्यनिमित्त की स्वीकृति असद्भूत व्यवहारनय से ही मानी जाती है, कार्यद्रव्य में बाह्य निमित्त का सहायता नाम का गुण नहीं पाया जाता और न वह उपादान की इस उयोग्यता (कार्यरूप परिणत होने की योग्यता) को कार्यरूप से विकसित होने के लिए प्रेरणा ही करता है, क्योंकि एक तो नित्य द्रव्य उपादान नहीं होता। जो कार्य का उपादान होता है वह कार्य द्रव्य का अव्यवहित पूर्व-पर्याय रूप द्रव्य ही हाता है। उस उपादान में अनेक योग्यताएं इसलिए संभव नहीं हैं, क्योंकि वह उपादान विवक्षित योग्यता से युक्त द्रव्य-पर्याय रूप ही होता है। कार्यद्रव्य में द्रव्य का अन्वय रहता है और पूर्व पर्याय का व्यय होकर नये उत्पाद का सद्भाव बनता है, इसी लिये आगम में व्यय को ही उत्पाद कहा गया है। तथा उनके लक्षण भिन्न-भिन्न होने से वे दो माने गये हैं।

यहाँ बाह्य निमित्त का उपादान के उपादेय रूप होने पर उसमें सहायता नाम का अंश भी नहीं होता, इसी लिये तो उसे कार्य में असद्भूत कहा गया है और फिर भी लोक में ऐसा व्यवहार चालू है कि "इससे यह हुआ" अर्थात् इस बाह्य निमित्त से यह कार्य हुआ, इसी लिए लोक में ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध होने से उसे असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा ही स्वीकार किया गया है।

अब रही आगम की बात तो समयसार में ऐसे स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं जिनसे हम यह जानते हैं कि कार्य द्रव्य में बाह्य निमित्त का अंश भी नहीं होता। जिसे विवक्षित कार्य का बाह्य निमित्त कहते हैं वह स्वयं उपादान होकर अपना कार्य करता है और जिसे हम उपादान कहते हैं वह बाह्य निमित्तकी अपेक्षा के विना स्वयं अपना कार्य करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए समयसार में यह वचन मिलता है—

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४० ॥

जब एक ही पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप से परिणाम होता है तो जीव के रागादिभावों को हेतु किये विना ही पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम होता है (ऐसा मानना चाहिये)

यहाँ उक्त गाथा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि :—

(1) एक तो निश्चयनय से देखा जाय तो प्रत्येक द्रव्य पर निरपेक्ष होकर स्वयं ही अपना कार्य करता है।

(2) दूसरेफिर भी वाह्य व्याप्तिवश या काल प्रत्यासत्तिवश कार्य से वाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता प्रत्येक समय में रहती ही है। ऐसा एक क्षण भी नहीं होता जिस समय कार्य में इन दोनों की समग्रता न हो, इसलिये "इससे यह कार्य हुआ" ऐसा व्यवहार प्रत्येक समय में बन जाता है। इसी लिये वाह्य निमित्त की सहायता को कार्यद्रव्य मे असद्भूत स्वीकार किया जाता है, क्योंकि संसारी जीव के तथा स्कन्धरूप पुद्गल द्रव्य के प्रत्येक कार्य में "यह इससे हुआ" ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार असद्भूत व्यवहारनय से वाह्य निमित्त को कार्य का साधक कहा जाता है। इसी आधार पर यह निश्चित होता है कि वाह्य निमित्त की सहायता को जो व्याकरणाचार्य जी भूतार्थ मानते हैं वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि वह आरापित या काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं। वाह्य व्याप्तिवश ऐसा विकल्प होना या कहना अन्य बात है, पर ऐसा विकल्प हुआ या कहा, मात्र इसीलिये वह (वाह्य निमित्त की सहायता) भूतार्थ नहीं हो जाता।

इस प्रकार व्याकरणाचार्यजी ने (खा. त. च.) या (स.) में जिन 30 बातों के आधार पर अपने मत की पुष्टि की है उनका वह मत आगम सम्मत कैसे नहीं है इसका स्पष्टीकरण करके अब उनके अन्य दो ग्रन्थों में वर्णित विषय कैसे समीचीन नहीं है इस पर संक्षेप में विचार करेंगे। यहां सर्वप्रथम "जैन शासन में निश्चय और व्यवहार" ग्रन्थ विचारणीय है। इसे दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद से पुरस्कार भी मिला है। इससे मालुम पड़ता है कि इस पर विद्वत परिषद ने विना विचारे मुहर लगा दी है। ऐसी जगह मात्र उपसमिति का यह काम नहीं होता। उस ग्रन्थ की एक-एक प्रति सब सदस्यों के पास जानी चाहिये थी और मिलकर विचार होना चाहिये था। ऐसी अवस्था में विद्वत् परिषद से स्वीकार करना इसे उपसमिति का कार्य मानना चाहिए।

इस ग्रन्थ का नाम है "जैन शासन में निश्चय और व्यवहार"। इस लियेइस ग्रन्थ में निश्चय और व्यवहार किस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं इसपर ही अपने विचार उन्होंने रखे हैं। उसमें आगम के जो उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं उनका अपने मन की पुष्टि के अर्थ में ही उपयोग किया गया है। जैसे सोनगढ़ में यह कहा जाता रहा है कि निश्चय मोक्षमार्ग ही सच्चा मोक्षमार्ग है, व्यवहार मोक्षमार्ग तो निश्चय मोक्षमार्ग की सिद्धि का निमित्त मात्र है, इसी लिये वह मोक्ष मार्ग नाम पाता है। वही बात प्रवचनसार के इस वचन से भी हम जानते हैं—

"ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते।"

इसी लिये निर्वाण का अन्य मार्ग नहीं है यह निश्चित होता है।

मालूम पड़ता है कि उन्होंने यह पुस्तक सोनगढ़ के विरुद्ध अपने मत का प्रचार करने के अभिप्राय से ही लिखी है। तभी तो वे कहते हैं कि—

"इससे सोनगढ़ की यह मान्यता निरस्त हो जाती है कि सच्चा मोक्ष मार्ग होने से ही निश्चय मोक्षमार्ग को आगम में यथार्थ, मुख्य, परमार्थ और भूतार्थ आदि नामों से पुकारा गया है तथा

मिथ्या, कल्पित, कथनमात्र मोक्षमार्ग होने से ही व्यवहार मोक्षमार्ग को यहां पर अयथार्थ, असत्यार्थ, गौण, उपचरित, और अभूतार्थ आदि नामों से पुकारा गया है। उक्त कथन से सोनगढ़ की इस मान्यता के निरस्त होने में हेतु यह है कि निश्चय और व्यवहार दोनों ही मोक्षमाग उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सच्चे सिद्ध होते हैं। इस बात को न समझने के कारण यहाँ सोनगढ़ यद्यपि यह आपत्ति प्रस्तुत करता है कि — "निश्चय मोक्षमार्ग के साथ व्यवहार मोक्षमार्ग को भी सच्चा मोक्षमार्ग मान लेने पर दोनों मोक्षमार्गों में स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् मोक्षमार्ग की प्रसक्ति हो जाने से निश्चय मोक्षमार्ग के बिना केवल व्यवहार मोक्षमार्ग से ही भव्य जीवों को मोक्ष प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित हो हो जायेगा। ( ) ऐसे चिन्ह तो विवक्षित कथन में लगाये हैं, पर सोनगढ़ के किस ग्रन्थ के उद्धरण हैं यह पता नहीं लगता इससे यदि कोई अनुमान करे कि व्याकरणाचार्य जी ने स्वयं लिखकर उन्हें सोनगढ़ का बतलाया है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु इसके विपरीत उपर्युक्त विवेचन से यही निर्णीत होता है कि मुमुक्षु भव्य जीव को मोक्ष की प्राप्ति निश्चय मोक्षमार्ग होने पर और उस निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति और उसकी पूर्णता व्यवहार मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। (पृ. 220-221)

इस कथन के पहले व्याकरणाचार्यजी ने एक बात और लिखी है वह यह कि "आगम में निश्चय मोक्षमार्ग को जो यथार्थ, सत्यार्थ, मुख्य, परमार्थ और भूतार्थ आदि नामों से पुकारा गया है उसका कारण उसमें विद्यमान मोक्षकारणता की साक्षाद्रूपता ही है तथा वहाँ पर व्यवहार मोक्षमाग का जो अयथार्थ, असत्यार्थ, गौण, उपचरित और अभूतार्थ आदि नामों से पुकारा गया है उसका कारण उसमें विद्यमान मोक्षकारण की परम्परारूपता ही है।" (पृ. 220)

ये व्याकरणाचार्य जी के दो वक्तव्य हैं। अब इस विषय में आगम क्या है इस पर दृष्टिपात् करने के बाद ही व्याकरणाचार्य जी के वक्तव्य पर विचार करेंगे।

इन उद्धरणों में व्याकरणाचार्यजी ने निश्चय मोक्षमार्ग के समान व्यवहार मोक्षमार्ग को भी सच्चा सिद्ध किया है, क्योंकि निश्चय मोक्षमार्ग में साक्षात्कारणता विद्यमान है और व्यवहार मोक्षमार्ग में परम्परा कारणता विद्यमान है यह व्याकरणाचार्य जी के उक्त कथन का निचोड़रूप अभिप्राय है। अब उनके इस कथन पर विचार किया जाता है।

सम्यग्दर्शन क्या है, स्वभावभाव तत्त्वरुचि यथार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है? शुभभाव, अशुभभाव और स्वभावभाव इन तीनों बातों का सक्षेप में खुलासा करने के बाद ही प्रकृत विषय का समीक्षापूर्वक समाधान करेंगे।

(1) सम्यग्दर्शन क्या है इसे स्पष्ट करते हुये पं. प्रवर आशाधरजी अनगार धर्मामृत (2,46-47) की स्वोपज्ञ टीका में लिखते हैं :—

तद्दर्शनं मोहरहितमात्मास्वरूपम्।

वह सम्यग्दर्शन दर्शनमोह से रहित आत्मा का स्वरूप है।

इस पर कोई भव्य जीव पूछता है कि यदि सामान्य से सम्यग्दर्शन का यह लक्षण है तो वह सम्यग्दर्शन के दोनों (व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन) भेदों में उपलब्ध होना चाहिये। इस पर पं. प्रवर आशाधर जी कहते हैं कि हमने जो तत्त्वरुचि को पहले सम्यग्दर्शन कहा है, वह उपचार से ही कहा है, क्योंकि उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में मोह का अभाव रहता है। वहां यह उपचार लागू नहीं होता, इसलिये आगम में व्यवहार सम्यक्त्व को उपचार से सम्यग्दर्शन स्वीकार किया गया है। इस विषय का पोषक उद्धरण इस प्रकार है :—

न पुनः रुचिः, तस्याः क्षीणमोहेष्वभावात्। (वही)

इसे और भी स्पष्ट करते हुए पं. प्रवर आशाधर जी अ. 2 श्लोक 13 की स्वोपज्ञ टीका में लिखते हैं :—

तत्त्वरुचिः तत्त्वं जीवादिवस्तुयाथात्म्यं तस्य रुचिः श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मस्वरूपं नत्विच्छालक्षणम्, तस्योपशान्तकषायादिषु मुक्तात्मसुवासंभावत्।

तत्त्व अर्थात् परापर वस्तु की यथार्थता की रुचि श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है जो विपरीत अभिनिवेश से रहित आत्मा का स्वरूप है। यहां रुचि का अर्थ इच्छा नहीं करना, क्योकि इच्छा उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों में और मुक्तात्माओं में नहीं पाई जाती।

(3) अब शुभभाव तथा अशुभाव आस्रव है इसे पं. प्र. आशाधर जी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

भावास्रवो मिथ्यादर्शनादिः सुदर्शनादिः सम्यग्दर्शज्ञानसंयमादिः गुप्त्यादिः।

(अ. ध. अ. 2 श्लोक 39 स्वोपज्ञ टीका)

मिथ्यादर्शन आदि तथा सम्यग्दर्शन आदि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयम आदि साथ ही गुप्ति आदि भावास्रव हैं। इनमें मिथ्यादर्शन आदि अशुभ भावास्रव हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम आदि तथा गुप्ति आदि शुभभावास्रव हैं। यद्यपि मूल में इनके ये भेद नहीं बतलाये हैं पर ये स्वयं फलित हो जाते हैं। यहां आस्रव के भेद में व्यवहार सम्यग्यर्शनादि को शुभास्रव ही स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है निश्चय सम्यग्यर्शनादि ही सच्चा मोक्षमार्ग हैं तथा व्यवहार मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग तो नही हैं। फिर उसका निमित्त और सहचर होने से उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है वह ऐसा नहीं है। फिर उसका अन्वय जहां तक शुभभावरूप कषाय है, वहीं तक बनता है। आगे निश्चिय मोक्षमार्ग ही अकेला रहता है।

इस कथन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन आदि आत्मा की स्वभावपरिणति है और व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि आत्मा की स्वभावपरिणति तो नहीं है, मात्र वाह्य व्याप्तिवश या काल प्रत्यासत्तिवश व्यवहारनय की अपेक्षा सहचर सम्बन्ध होने से संसार दशा मे वाह्य— निमित्तपने की अपेक्षा व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा में निश्चय सम्यग्दर्शनादि प्रकट होते हैं स्वभावतः उसके जीवादि पदार्थों में श्रद्धा और उनका ज्ञान होता

ही है, इसी लिये उनमें व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि का व्यवहार किया जाता है। इसी बात को पंचास्तिकाय गाथा 62 में स्पष्ट किया गया है। इसी पंचास्तिकाय में व्यवहार मोक्षमार्ग क्या है और निश्चय मोक्षमार्ग क्या है इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६०॥

धर्मादि द्रव्यों और पदार्थों की श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है, अंगपूर्व सम्बन्धी ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और बारह प्रकार के तपरूप आचरण करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूप परिणत जो आत्मा है वह निश्चयनय से मोक्षमार्ग है। ऐसा आत्मा न तो कुछ करता है और न कुछ छोड़त है।

प्रकृत में इन दोनों में साधन और साध्यभाव सिद्ध किया गया है। यहाँ साधन का अर्थ निमित्त है और साध्य का अर्थ कार्य है। इससे "बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं" इस सिद्धान्त की सिद्धि हो जाती है। इनमें कालप्रत्यासत्ति और बाह्य व्याप्ति होती है यह भी सिद्ध हो जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग को यथार्थ और व्यवहार मोक्षमार्ग को उपचरित जो आगम में कहा गया है वह इसी अभिप्राय से कहा गया है। तथा निमित्तपने की दृष्टि से ही व्यवहार मोक्षमार्ग को परम्परा की अपेक्षा मोक्षमार्ग कहा गया है। इसका अर्थ है कि उसमें यथार्थ मोक्षमार्गपना तो नहीं है पर उसका निमित्तपना उसमें असद्भूत व्यवहारनय से है, इसीलिये पंचास्तिकाय की टीका में उसे साधन और निश्चय मार्ग को साध्य कहा गया है।

यह तो एक बात हुई। विचार कर देखा जाय तो यह ग्रन्थ असद्भूत व्यवहारनय के विषय का भूतार्थ सिद्ध करने के लिये ही लिखा गया है। इसलिये इस विषय पर हम और कितना लिखें। उसका पद-पद विचारणीय है। उसे व्याकरणाचार्य जी ने अपनी मानी हुई दृष्टि को स्पष्ट करने के लिये लिखा है। आगम में निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय के जो लक्षण दिये हैं, उनसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है। खींचतान करके अपने अभिप्राय को पुष्ट करना ही उनका प्रयोजन है।

उनकी (व्याकरणाचार्य जी की) एक पुस्तक क्रमबद्धपर्याय के खण्डन में भी निकली है। यह पुस्तक उन्होंने—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुत्तं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥

(१) उन्होंने इस आगम कथित उपादान उपादेय के लक्षण को न मानने के आधार पर ही लिखी है ऐसा उसे पढ़ने से ज्ञात होता है।

(२) समयप्राभृत में सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के जो प्रारम्भ की तीन गाथाएँ आई हैं उनकी टीका के एक अंश "जीवोहि तावात् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः" इत्यादि वचन का अर्थ अपने पक्ष में करने में भी वे नहीं चूके हैं। साथ ही उन्होने 'क्रमनियमितात्मपरिणामै' इसका अर्थ ही छोड़ दिया है।

(३) मैंने कहीं पर उपादानोपादेय के अर्थ में कार्यकारणभाव को ध्यान में लेनेपर क्रमनियमित पर्याय की सिद्धि हो जाती है यह लिखा था, उसे उन्होंने अपने मन से माने हुए कार्य-कारणभाव के समर्थन में उसका उपयोग कर लिया है। जब कि क्रमनियमित पर्याय को स्वीकारकरने पर अनन्त पुरुषार्थ की सिद्धि होती है उसका भी विपर्यास करके इससे पुरुषार्थ हानि का आरोप करने में वे या इसीप्रकार के दूसरे भाई नहीं चूके हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि यह पुस्तक भी उन्होंने आगम का अपलाप करने के अभिप्राय से ही लिखी है। आगम में तो आचार्य अमृतचन्द्र देव ने लटकती हुई मोतियों की माला का उदहरण देकर क्रमनियमित पर्याय का ही समर्थन किया है, पर व्याकरणाचार्य जी को आगम की चिन्ता नहीं। विशेष क्या लिखें ?

—फूलचन्द्र शास्त्री

प्रस्तुत प्रकाशनों की कीमत कम करने हेतु प्राप्त राशियाँ

१. श्री त्रिलोकचंद वर्धीचंद जैन, बम्बई	२५०–००
२. श्री जयन्ती भाई डी दोशी, दादर-बम्बई	१११–००
३. श्रीमती कुसुमलता सुनंद बंसल स्मृतिनिधि, अमलाई	१११–००
४. ब्र० हीराबेन विद्याबेन, सोनगढ़	१०१–००
५. मै० नन्दराम सूरजमल, दिल्ली	१०१–००
६. श्री छगनलाल जैन, अजमेर	१०१–००
७. श्रीमती चूड़ीबाई खेमराज गिड़िया, खैरागढ़	१०१–००
८. चौ० फूलचंद जैन, बम्बई	१०१–००
९. फुटकर	५१–००
	१०२८–००

हमारे यहां प्राप्त प्रकाशन

समयसार/बृहज्जिनवाणी संग्रह	२०—००
प्रचनसार	१६—००
मोक्षशास्त्र/आधुनिक जैन कवि	२०—००
पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११—००
नियमसार/पंचस्तिकायसंग्रह/समयसार नाटक/भावदीपिका	१०—००
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	१०—००
प्रवचनरत्नाकर भाग १	१२—००
प्रचनरत्नाकर भाग २, ३, ४, ५	१०—००
सिद्धचक्र विधान/मोक्षमार्ग प्रकाशक	१०—००
जिनेन्द्र अर्चना (पूजन संग्रह)/ज्ञानगोष्ठी	७—००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ (हि०,गु०,म०,क०,अं०)	६—००
सत्य की खोज (कथानक) (हि०,गु०,म०,त०)	६—००
अध्यातम संदेश	६—००
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय/अध्यात्म रत्नत्रय/जिनवरस्य नयचक्रम्	६—००
श्रावकधर्मप्रकाश	५—५०
क्रमवद्धपर्याय (हि०,गु०,म०,क०,त०,अं०)	५—००
धर्म के दशलक्षण (हि०,गु० म०,त०,अं०)	५—००
वारह भावना : एक अनुशीलन/चौबीस तीर्थंकर पूजन विधान/छहढाला (सचित्र)/ बनारसी विलास/अर्द्धकथानक	५—००
बाबूभाई विशेषांक/बनारसीदास विशेषांक	५—००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	५—००
भक्तामर प्रवचन	४—५०
गागर में सागर/आप कुछ भी कहो	४—००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २ व ३ (सम्पूर्ण सैट)	३—५०
वनारसीदास : व्यक्तित्व कर्तृत्व	३—००
बालबोध पाठमाला भाग १, २, व ३, (सम्पूर्ण सैट)	२—७०
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ और २	२—६५
चिद्विलास/चौंसठ ऋद्धि विधान	२—५०
युगपुरुष श्री कानजी स्वामी (हि०,गु०.म०,क०,त०)	२—००
परमार्थ वचनिका/विदेशों जैनधर्म : उभरते पदचिन्ह	२—००
जिनपूजन रहस्य	१—५०
मैं कौन हूं/अहिंसा महावीर की दृष्टि में/भरत वहुवली नाटक	१—२५
अद्वितीय चक्षु/चैतन्य चमत्कार/णमोलोए सव्वसाहूणम्/वीर हिमालय तैं निकसी/ बारह भावना पद्य/लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/बनारसीदास : जीवन और साहित्य/सार समयसार	१—००
जिनेन्द्र वन्दना	०—७५
मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूं/महावीर वन्दना (कलैण्डर)	०—५०
तीर्थंकर भगवान महावीर (हि०,गु०,म०,क०,असम०ते०,अं०)	०—५०
गोम्मटेश्वर बाहुबली/अर्चना (पूजन संग्रह)	०—४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हि०,गु०)	०—२५

जैनतत्त्व समीक्षा का समाधान

मंगलम् भगवान् वीरो, मंगलम् गौतमो गणी ।
मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
अथ नत्वा जिनवीरं मोक्षमार्गप्रकाशकम् ।
जैनतत्वसमीक्षाया समाधानं विधीयते ॥ ॥

दौर १, शंका १ समीक्षा का समाधान

द्रव्यकर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?

१. सामान्य समीक्षा का समाधान

(१) समीक्षकों द्वारा उपस्थित की गयी इस शंका के नियमानुसार दोनों पक्षों के सब विद्वानों द्वारा शंका-समाधान के रूप में दो दौर पूर्ण हो जाने के बाद तीसरे दौर के प्रारम्भ में शेष सब विद्वान् श्री पं. माणिकचन्दजी न्यायाचार्य, श्री पं. मक्खनलालजी न्यायालंकार, श्री पं. जीवंधरजी न्यायालंकार और श्री पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य के अलग हो जाने पर भी मात्र श्री पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्य के द्वारा तीसरे दौर का पूर्वपक्ष के उपस्थित करने पर भी यह विचार कर कि हमारा पक्ष समाधान करने में असमर्थ रहा, इसलिये उस पक्ष के एक विद्वान् द्वारा तीसरे दौर का पूर्वपक्ष उपस्थित करने पर भी हमारे पक्ष द्वारा उसका उसी समय समाधान किया गया ।

यद्यपि इस समय पूर्व पक्ष के पं. श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य और पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ही मौजूद हैं और शेष तीन विद्वान् परलोकवासी हो गये हैं, परन्तु जिस समय यह तीसरा दौर सम्पन्न हुआ था उस समय उस पक्ष के सब विद्वान मौजूद थे। फिर भी उन विद्वानों ने तीसरे दौर को पढ़कर भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, सब चुप रहे आये ।

यद्यपि एकमात्र श्री पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ने अकेले तीसरे दौर का पूर्वपक्ष लिखा था और उस सम्बन्ध में दिल्ली में उपस्थित रहने वाले कुछ विद्वानों द्वारा हमें यह सूचना मिली थी कि यहां पर कई विद्वानों ने मिलकर उसका वाचन किया है। फिर भी वे विद्वान् उससे अलग रहे आये । श्री पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्य को अपने हस्ताक्षर करके तीसरे दौर का पूर्वपक्ष हमारे पास भेजना पड़ा। नियमानुसार श्रद्धेय श्री पं. वंशीधरजी न्यायालंकार मध्यस्थ के द्वारा तीसरे दौर का पूर्वपक्ष हमारे पास आना चाहिये था, परन्तु श्री पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ने इस नियम का पालन नहीं किया, फिर भी हमारे पक्ष द्वारा अनियमित रूप से भेजे गये इस दौर का भी हमने समाधान लिखा और हमारे पक्ष के सब विद्वानों के द्वारा वाचन होने के बाद ही हमने नियमित रूप से मध्यस्थ के मार्फत उनके पास भिजाया ।

मालूम पड़ता है कि अभी भी श्री पं. बंशीधरजी व्याकरणाचार्य के चित्त में उनके दूसरे सहयोगी अन्य चार विद्वानों के समान स्थिरता न आने का यह परिणाम है, जिस कारण उन्होंने तत्वचर्चा के प्रारम्भ में दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत उन सब निर्णयों को ताक पर रखकर इस चर्चा को पुनः उभारने का दुष्प्रयत्न किया है और यही कारण है कि हमें इसका पुनः समाधान करने के लिये वाध्य होना पड़ रहा है।

जैसा कि हम पूर्व में लिख आये हैं, उनके सहयोगी चारों विद्वान् तीसरे दौर में इनसे अलग हो गये थे, अन्यथा इनके समान अन्य चारों विद्वानों के हस्ताक्षर उसमें पाये जाते। परन्तु शेष चारों विद्वानों के हस्ताक्षर न होने से यह दर्पण के समान विल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि तीसरे दौर की जो भी सामग्री पूर्वपक्ष के रूप में इन्होंने तैयार की थी, उससे वे चारों विद्वान् पूरी तरह सहमत नहीं थे। इतना सब होते हुये भी इन्होंने समीक्षा लिखने के अधिकारी न होते हुये भी खानिया तत्वचर्चा के तीन शंका-समाधानों की समीक्षा लिखने का दुस्साहस किया। अस्तु,

मार्ग दो हैं—एक संसार का मार्ग और दूसरा मोक्ष का मार्ग। जीवन में संसार के मार्ग की प्रसिद्धि जहां परलक्षी परिणामों से होती हुई प्रतिक्षण अनुभव में आती है वहां जीवन में मोक्ष मार्ग की प्रसिद्धि परको गौण कर आत्मलक्षी परिणामों से होती हुई अनुभव में आती है। यह मूल मन्तव्य है। इसको ध्यान में रखकर जब विचार करते हैं तब आत्मलक्षी दृष्टि से यही कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि मैं अपने अपराध के कारण ही विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमण को प्राप्त हो रहा हूँ, जो यथार्थ है। इसके साक्षीरूप में एक मर्मज्ञ कवि की उक्ति पर दृष्टिपात कीजिये :—

"कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।
लौह सहे घनघात अग्नि की संगत पाई॥"

तथा परलक्षी दृष्टि से उस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्मा विकारभाव व चतुर्गति-भ्रमण को प्राप्त होता है, जो उपचरित होने से प्रयोजन के अनुसार बाह्य व्याप्ति को ध्यान में रखकर कहा गया है, यह वस्तुस्थिति है जिन शास्त्रों में इसकी विशदरूप से प्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है।

यही कारण है कि प्रथम दौर में हमने उक्त शंका-का समाधान करते हुये बुद्धिपूर्वक यह समाधान किया था कि "द्रव्यकर्मों के उदय और संसारी आत्मा के विकारभाव व चतुर्गति भ्रमण में निमित्त-नैमित्तक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध नहीं हैं।

किन्तु दूसरा पक्ष विशेषतः श्री पं. बंशीधरजी व्याकरणाचार्य इसे अपनी शंका का समाधान नहीं मानकर तीसरे और प्रकृत समीक्षा में यही लिखे जा रहे हैं कि यह हमारी शंका का समाधान नहीं है। "आपके द्वारा इस प्रश्न का उत्तर न तो प्रथम वक्तव्य में दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्य में दिया गया है।" हमारे उक्त उत्तर को अप्रासंगिक मानते हुए पं. श्री बंशीधरजी व्याकरणाचार्य यह भी लिखते हैं कि "आपने अपने दोनों वक्तव्यों में निमित्त-कर्तृ-कर्म संबंध की अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्न के उत्तर को टालने का प्रयत्न किया।"

यहां यह देखना है कि उक्त शंका का हमने जो समाधान उपस्थित किया है वह अप्रासंगिक न होकर सटीक कैसे है ? बात यह है कि लोक में जितने भी कार्य होते हैं, वे सब बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में ही होते हैं, इसलिये यदि दूसरा पक्ष व्यवहारनयको ध्यान में रखकर ऐसी शंका उपस्थित करता कि "द्रव्यकर्म के उदय को निमित्त कर संसारी आत्मा विकार भाव और चतुर्गतिभ्रमण को प्राप्त होता है या नहीं" तो अवश्य ही हम उनकी उस शंका का उसी रूप में समर्थन करते। किन्तु दूसरा पक्ष मात्र 'द्रव्यकर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण को स्वीकार कराना चाहता है' जो युक्ति युक्त नहीं है, मात्र इसलिये हमने यह उत्तर दिया था कि द्रव्यकर्म के उदय तथा संसारी आत्मा का विकारीभाव चतुर्गतिभ्रमण में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध नहीं। द्रव्य कर्म के उदय ने कुछ संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण नहीं कराया है। किन्तु द्रव्यकर्म के उदय को निमित्त कर संसारी आत्मा ने स्वयं ही विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्य किया है, इसलिये संसारी आत्मा आप कर्ता होकर विकारभाव को प्राप्त हुआ है और चतुर्गतिभ्रमण करता है। उसमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। द्रव्यकर्म का उदय स्वयं कर्ता नहीं, और न संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण उसका कर्म है। यदि द्रव्यकर्म के उदय का, संसारी आत्मा के विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमण को कर्म कहा भी जाता है तो वह मात्र उपचार से ही कहा जायगा, परमार्थ से नहीं। यह हमारे पूरे समाधान का स्पष्टीकरण है, इसलिये उक्त शंका से हमारे समाधान को समीक्षक द्वारा अप्रासंगिक कहना कोरी कल्पना ही है।

हमने पूर्वोक्त इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए जो समयप्राभृत गाथा ८० से ८२ तक की गाथायें उद्धृत की थीं सो वे गाथायें इसी आशय से उद्धृत की थीं। किन्तु इसका हमें खेद है कि (शंकाकार) ठीक आशय को न समझकर अपनी रट लगाये जा रहा है। अस्तु।

(२) आगे समीक्षक ने अपनी प्रथम शंका के आशय को स्पष्ट करने के अभिप्राय से जो यह लिखा है—"इस प्रश्न का आशय यह था कि जीव में जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुये प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, क्या वे द्रव्य कर्मोदय के बिना होते हैं या द्रव्य कर्मोदय के अनुरूप होते हैं। संसारी जीव का जन्म, मरण रूप चतुर्गतिभ्रमण दिखायी दे रहा है, क्या वह भी कर्मोदय के आधार से हो रहा है, या जीव स्वतन्त्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है ? समीक्षा १, पृ०-१

समीक्षक के इस वक्तव्य में मुख्यतः दो बातें विचारणीय हैं :—

(अ) क्या वे (विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमण) द्रव्य कर्मोदय के बिना होते हैं या द्रव्य कर्मोदय के अनुरूप होते हैं। (पृ०-१)

(ब) संसारी जीव का जो जन्म मरण रूप चतुर्गतिभ्रमण दिखायी दे रहा है, क्या वह भी कर्मोदय के अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतन्त्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है।

(अ) प्रथम बात के विचार के उत्तरस्वरूप यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कर्मोदय कर्म में होता है और विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमण जीव में होता है, इसलिये परमार्थ से

यदि यह कहा जाता है कि विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमण जीव में कर्मोदय के बिना होता है तो यह कहना आगम विरुद्ध नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हुये समयसार में कहा भी है :—

"एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ।। १३८ ।।"

पुद्गल द्रव्य एक का कर्मरूप परिणाम होता है, इसलिए जीव भावरूप निमित्त से भिन्न ही वह पुद्गल कर्म रूप परिणाम है।

वे (विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमण) कर्मोदय के अनुरूप होते हैं, यह कहना भी असद्भूत व्यवहार है परामर्थ नहीं, क्योंकि विकार भाव व चतुर्गतिभ्रमण जीव का परिणाम है जिसे जीव ने स्वयं किया है और कर्मोदय पुद्गल का परिणाम है जिसे पुद्गल ने स्वयं किया है। इसलिए जीव के परिणाम को पुद्गल के द्वारा किया जाना कहना परमार्थ कैसे बन सकता है? असद्भूत व्यवहार से ऐसा कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

(ब) दूसरी बात का जब विचार करते हैं तो यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि परमार्थ से कोई किसी के अधीन होकर वर्तता ही नहीं, इसलिए "संसारी जीव का विकारभाव व चतुर्गति भ्रमण कर्मोदय के अधीन हो रहा है", यह कहना भी असद्भूत व्यवहार ही है। वस्तुतः संसारी जीव स्वयं ही अपने अज्ञानभाव के कारण असद्भूत व्यवहार से कर्मोदय को निमित्त कर परिणमन करता हुआ अपने को कर्मोदय के अधीन मानता आ रहा है, इसलिए संसारी जीव का अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण यदि कहा जाय तो उसमें कोई बाधा नहीं दिखाई देती, क्योंकि जीव के जितने भी कार्य होते हैं वे व्यवहार निश्चय से पाँचों के समवाय में ही होते हैं-यह आगम है, इसलिए विवक्षा भेद से अपनी उक्त योग्यतानुसार यह कार्य हो रहा है—यह कहना भी बन जाता है। इसमें आगम से कोई बाधा नहीं आती।

(३) समीक्षक ने आगे जो कुछ लिखा है-"यदि क्रोधादि विकार भावों को कर्मोदय विना मान लिया जावे तो उपयोग के समान वे भी जीव के स्वभाव भाव हो जावेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावों का नाश न होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जावेगा। (समीक्षा पृ०२) सो समीक्षक का ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्रोधादि विकारी भावों को जीव स्वयं करता है, इसलिए निश्चय नय से वे परनिरपेक्ष ही होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। कारण कि एक द्रव्य के स्वचतुष्टय में अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टय का अत्यन्ताभाव है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर श्री जयधवला की पु० पृ११७ में कहा है—

"........कारण निरवेक्खो वत्थु परिणामो"

अर्थ—प्रत्येक वस्तु का परिणाम बाह्य कारण निरपेक्ष होता है, किन्तु जिस समय जीव क्रोधादि भाव रूप से परिणमता है उस समय क्रोधादि द्रव्य कर्म के उदय की क्रोधादि भावों के साथ कालप्रत्यासत्ति होती है, इसलिए असद्भूत व्यवहार से क्रोधकषाय के उदय को निमित्तकर जीव ने क्रोधभाव किया, यह कहा जाता है। इसलिए उपयोग के समान क्रोधादि विकारी भाव जीव के स्वभाव नहीं ठहरते। अतः सहज स्वभाव का अवलम्बन करने पर क्रोधकषाय के उदय के अभाव के

साथ ही इन क्रोधादि भावों का अभाव हो जाने से क्रम से मोक्ष की व्यवस्था भी बन जाती है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस समय यह जीव पूर्ण विज्ञान घनरूप से परिणमता है, उस समय सभी कर्मों का अभाव होकर मोक्ष की प्राप्ति नियम से होती हुई प्रतीति में आती है।

(४) समीक्षक जिस बात का हम पहले समाधान कर आये हैं, उसका उल्लेख करते हुए पुनः इसी बात को दोहराते हुए लिखता है–"यह तो सर्वसम्मत है कि जीव अनादिकाल से विकारी हो रहा है। विकार का कारण कर्मबन्ध है, क्योंकि दो पदार्थो से परस्पर बन्ध बिना विकार नहीं होता। कहा भी है—"द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्।" (समीक्षा पृ०-१)।

यद्यपि इस शंका का हम पहले प्रतिशंका ३ का उत्तर लिखते समय समाधान कर आये हैं, फिर भी वह उसे पुनः उपस्थित कर रहा है, इसलिए पूर्व में किये गये समाधान को ध्यान में रखकर यहाँ पुनः इसका समाधान किया जाता है—

समीक्षक का कहना है कि 'अनादिकाल से जीव विकारी हो रहा है। विकार का कारण कर्मबन्ध है। इसके समाधान स्वरूप हमारा इतना ही कहना है कि विकार का कारण कर्मबन्ध है यह तो उपचार से ही कहा जाता है। यह कथन परमार्थ से देखा जावे तो स्वयं जीव ही अपने अज्ञान के कारण विकार का कर्ता हो रहा है। समीक्षक ने जो पद्मनन्दि पंचविंशति का 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत' यह वचन उद्धृत किया है तो यह वचन भी असद्भूत व्यवहार और निश्चय दोनों को ध्यान में रखकर ही लिखा गया। परमार्थ से देखा जावे तो आत्मा ही आप अज्ञानभाव के कारण विकार का कर्ता होता है, और असद्भूत व्यवहार से देखा जावे तो जो भी विकार उत्पन्न होता है असद्भूत व्यवहार नय से परको निमित्त कर ही होता है। यही उस वाक्य का अर्थ है।

(५) यहाँ तक हमने, समीक्षकने अपनी शंकाओं को दुहराते हुये जो उद्धरण उपस्थित किये हैं, उनका पुनः समाधान किया है। आगे उसने जो अपनी शंका के आशय को स्पष्ट किया है, उसका आशय स्पष्ट किया जाता है?

(६) समीक्षक अपनी शंका को स्पष्ट करते हुए (समीक्षा पृ०३) जो यह लिखता है कि उत्तर पक्ष को अपना उत्तर या तो ऐसा देना चाहिये था कि द्रव्य कर्म का उदय संसारी आत्मा के विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण में निमित्त होता है अथवा ऐसा होना चाहिए था कि वह उसमें निमित्त नहीं होता है—संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गति द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त हुए बिना अपने आप ही होता रहता है। (समीक्षा पृ० ३)

इसके समाधान स्वरूप हमारा कहना यह है कि समीक्षक आदि ने अपनी पहली शंका उपस्थित की थी, उससे यह स्पष्ट झलकता था कि जीव का विकार भाव कर्मोदय से ही होता है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि जीव जब परलक्षी दृष्टि अपनाता है, तब कर्मोदय को निमित्त

[1] सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति तथा तथास्त्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यो निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति।

स० प्रा०, गा० ७३ आत्मख्याति टीका।

कर जीव स्वयं नियम से विकार करता है और कर्मोदय तथा अन्य कोई पदार्थ उसमें निमित्त होता है। यही कारण है कि हमें विवश होकर उस एकांगी शंका का उक्त समाधान करने के लिए उस रूप में बाध्य होना पड़ा था। यद्यपि हमने समयसार की ८० से ८२ तक की तीन गाथायें शंकाकार पक्ष के सामने इसलिये उपस्थित की थीं कि उनको ध्यान में लेकर शंकाकार हमारे समाधान के आशय को स्वीकार कर लेगा और इस शंका को आगे नहीं बढ़ायेगा। अन्त में समीक्षक से हमें इतना ही निवेदन करना है कि हमें दी गयी सलाह को वे अपने तक ही सीमित रहने दें।

(अ) समीक्षा ४ पृ० ४ में समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "जहाँ उत्तरपक्ष व्यवहार-नय के विषय को सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित् भूतार्थ और कथंचित् अभूतार्थ मानता है।" इतना लिखने के बाद वह यह भी लिखता है कि "परन्तु वह प्रकृत प्रश्न के विषयसे भिन्न होनेके कारण उस पर स्वतंत्र रूपसे विचार करना संगत होगा अतएव इस पर यथा अवसर विचार किया जायेगा।" (समीक्षा ४ पृ० ४)

(आ) आगे पृष्ठ ५ में समीक्षक ने यह भी लिखा है कि "परन्तु जहाँ उत्तरपक्षने उसी कार्यके प्रति निमित्त कारण अयथार्थ कारण और उपचरित कर्तारूप से स्वीकृत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणति में सहायक भी न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधार पर भूतार्थ मानता है।"

(इ) आगे इसी पृष्ठ में वह पुनः लिखता है कि "परन्तु जहाँ उत्तर पक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्त कारण, यथार्थकारण और उपचरितकर्तारूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उसे कार्यरूप परिणत न होने और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणति में सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अभूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधार पर भूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है।"

(ई) आगे पुनः वह इसी पृष्ठ में लिखता है कि "दोनों पक्षोंके मध्य विवाद केवल उक्त कार्यके प्रति उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मकी उत्तरपक्ष को मान्य सर्वथा अकिंचित्करता और सर्वथा अभूतार्थता तथा पूर्व पक्षको मान्य कथंचित् अकिंचित्करता व कथंचित् कार्यकारिता तथा कथंचित् अभूतार्थता व कथंचित् भूतार्थताके विषय में हैं।"

(उ) आगे वह पृष्ठ ४ में ही पुनः लिखता है कि "उपर्युक्त विवेचनके आधार पर दो बातें विचारणीय हो जाती हैं। एक तो यह कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें दोनों पक्षों द्वारा निमित्तकारणरूप से स्वीकृत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अकिंचित्कर और उपादान कारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणति में सहायक होने के आधार पर कार्यकारी माना जाय या उत्तरपक्ष की मान्यताके अनुसार उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादान कारणभूत संसारी आत्मा की कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अकिंचित्कर माना जाय

और दूसरी यह कि उस उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म को पूर्वपक्षकी मान्यता के अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे कथंचित् अकिंचित्कर व कथंचित् कार्यकारी मानकर उसरूप में कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ माना जाय, व इस तरह भूतार्थ और अभूतार्थरूप से व्यवहारनय का विषय माना जाय या उत्तरपक्ष की मान्यता के अनुसार उसे वहाँ पर उपर्युक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उस रूपमें सर्वथा अभूतार्थ माना जाय व इस तरह उसे सर्वथा अभूतार्थरूप में व्यवहारनय का विषय माना जाय।"

(ऊ) पृष्ठ ४ में वह पुनः लिखता है कि "परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्त कारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म को उसे कार्यरूप परिणत न होने और उपादान कारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणति में सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अकिंचित्कर मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अकिंचित्कर और उपादान कारणभूत संसारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधार पर कार्यकारी मानता है।"

(ए) पुनः पृष्ठ ४ में वह उपचार को माध्यम बनाकर लिखता है कि "यद्यपि इस विषय में भी दोनों पक्ष के मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष उपचार को सर्वथा अभूतार्थ मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ मानता है। इस पर भी यथावश्यक आगे विचार किया जावेगा।"

समीक्षाके नाम पर समीक्षक के ये ७ वचन हैं। इन वचनोंमें समुच्चयरूपसे जिन बातों को स्वीकार किया है, वे इसप्रकार हैं :—

(क) समीक्षक यह तो स्वीकार करता है कि निमित्तकारण अन्य द्रव्यके कार्यरूप से परिणत नहीं होता है इस अपेक्षा से वह अभूतार्थ है।

(ख) किन्तु वह (बाह्य निमित्त) अन्य के कार्य में सहायक अवश्य होता है, इस अपेक्षा से वह भूतार्थ है।

(ग) इसी आधार पर वह उपचार को कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ कहता है।

(घ) उसकी दृष्टि में व्यवहारनय का सही तात्पर्य है।

अब इस विषय में आगम क्या है, इस पर विचार किया जाता है। आगममें कर्ताकर्मभाव और निमित्त-नैमित्तिकभाव ये दो सम्बन्ध स्वीकार किये हैं। कर्ताकर्म सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये आप्तमीमांसा कारिका ७५ की अष्टसहस्री टीका में (पृ. २३३) कारकांगके रूपमें कर्ताकर्मभावको स्पष्ट करते हुये लिखा है कि "कर्ता का स्वरूप कर्मकी अपेक्षा नहीं करता है और कर्मका स्वरूप कर्ताकी अपेक्षा नहीं करता है। यदि इन दोनों के स्वरूपको परस्पर सापेक्ष मान लिया जावे तो दोनोंका अभाव हो जावेगा। फिर भी कर्तापनेका व्यवहार और कर्मपनेका व्यवहार परस्पर निरपेक्ष नहीं होते, क्योंकि कर्तापना कर्मके निश्चयपूर्वक जाना जाता है और कर्मपना भी कर्ताके ज्ञानपूर्वक जाना जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक वस्तु में कर्ताकर्म व्यवहार असद्भूत व्यवहारनय का विषय न

होकर आगम में सद्भूत व्यवहारनयकी विवक्षामें स्वीकार किया गया है। अष्टसहस्री का वह वचन इसप्रकार है :—

"न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्प्रसंगात्। नापि कर्तृ-व्यवहार: कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्ष:, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसंपद्यमानत्वात् कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्।"

परिक्षामुख में अविनाभावका निरूपण करते हुये लिखा है :—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव:। (प्रमेय रत्नमाला ३-१६)

अविनाभाव दो प्रकार का है—सहभावनियम अविनाभाव और क्रमभावनियम अविनाभाव।

वहीं सहभावनियम अविनाभावका स्पष्टीकरण करते हुये लिखा है :—

सहचारिणो: व्याप्यव्यारकयोश्च सहभाव (प्रमेय रत्नमाला ३-१७)

सहचारी जैसे रूप और रसमें सहभाव नियम अविनाभाव है तथा व्याप्य-व्यापक जैसे वृक्ष और सीसोनमें व्याप्य-व्यापकनियम अविनाभाव है।

इसी आधार पर समयसारमें कर्ताकर्म अधिकारका निरूपण करते हुये कर्तकर्मभाव में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध सूचित किया गया है। वह व्याप्य-व्यापक नियम अविनाभाव के अन्तर्गत ही आता है। इससे स्पष्ट है कि कर्तृकर्मसम्बन्ध सद्भूत व्यवहारनयका ही विषय है। यथा—

"व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,

व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थिति:। (कलश ४९)

उसका अर्थ—व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूपवस्तुमें ही होती है, अतत्स्वरूप वस्तु में नहीं ही होता अत: व्याप्यव्यापकभावके संभवके विना कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी? अर्थात् कर्ता-कर्मकी स्थिति नहीं ही होती।

पूर्वमें दिये गये इन प्रमाणोंसे स्पष्ट होजाता है कि परमार्थसे कर्ता-कर्मभाव सम्बन्ध एक द्रव्यमें ही घटित होता है, दो द्रव्यों में नहीं। इसलिये जहाँ भी आगममें प्रयोजन विशेपको घ्यानमें रखकर दो द्रव्योंके आश्रयसे कर्तृ-कर्मभावका उल्लेख किया है, वहाँ वह उपचारसे ही कहा गया है, ऐसा समझ लेना चाहिये। इसका आशय यह है कि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यमें परमार्थसे सहायक नहीं होता, फिर भी उसकी सहायतासे यह कार्य हुआ है यह व्यवहार किया जाता है जो असद्भूत होनेसे आगममें उपचरित ही माना गया है। इसी तथ्यको घ्यानमें रखकर निमित्त नैमित्तिक भावको स्पष्ट करते हुये समयसारमें यह वचन उपलब्ध होता है। यथा :—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।

पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८०॥

अर्थ :—यहाँ गाथा के पूर्वार्ध में "हेतु" शब्द निमित्तके अर्थमें आया है। इसलिये इस गाथा का अर्थ है :—

जीवके परिणामका निमित्त कर पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणमित होता है।

इसप्रकार कर्म और जीव के परिणामों में तथा जीवके परिणाम और कर्ममें इन दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव है—कर्तृ कर्मभाव नहीं। यह बात आगे की गाथासे भलीप्रकार स्पष्ट हो जाती है। वह गाथा इसप्रकार है :—

"ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥

अर्थ :—जीव कर्मभावको उत्पन्न नहीं करता, उसीप्रकार कर्म भी जीवभाव को उत्पन्न नहीं करता, फिर भी परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम होता है—ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ कर्तृ-कर्मभाव और निमित्त-नैमित्तिकभाव में जो अन्तर है, उसे आचार्यदेवने स्वयं स्पष्ट कर दिया है। यही कारण है कि जहाँ कर्तृ-कर्मसम्बन्ध सद्भूत व्यवहारनयका विषय आगममें स्वीकार किया गया है, वहीं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको आगममें असद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार किया है। इसका अर्थ है कि जिसे हम निमित्त कहते हैं, वह स्वयं कार्यरूप परिणमित न होने से कार्यद्रव्य के स्वचतुष्टयसे वहिर्भूत है और इसीलिये उसे सहायक अर्थात् निमित्त कहना भी अभूतार्थ है तथा जिसे नैमित्तिक कहते हैं वह भी निमित्तरूप व्यवहारको प्राप्त द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न होने के कारण नैमित्तिक भी उपचार से ही कहा गया है, भूतार्थ से नहीं।

फिर आगम में निमित्त-नैमित्तिक भाव क्यों स्वीकार किया गया है? इसका मुख्य कारण काल प्रत्याशित को छोड़कर अन्य कोई दूसरा कारण नहीं है। समयसार की ८४वीं गाथा में इसी काल प्रत्यासत्ति के स्थान में उक्त दोनों के मध्य वाह्य व्याप्ति स्वीकार की गयी है। आगम में जो यह संकेत दृष्टिगोचर होता है कि बाह्यनिमित्त कार्य के अनुकूल होता है, सो यह कथन भी असद्भूत व्यवहारनयका ही विषय है। परमार्थ से देखा जावे तो न बाह्यनिमित्त कार्य के अनुकूल होता है और न ही कार्य वाह्य निमित्त के अनुरूप होता है। एक को अनुकूल कहना और दूसरे को अनुरूप कहना, यह भी असद्भूत व्यवहार ही है।

इस प्रकार कर्त-कर्म भाव और निमित्त-नैमित्तिक भाव में क्या अन्तर है इसका स्पष्टीकरण करने के वाद आगे उन चार मुद्दों पर अलग-अलग विचार किया जाता है, जिनका क, ख, ग, घ, में पहले निर्देश कर आये हैं।

(क) यह प्रसन्नता की वात है कि समीक्षक भी जिसमें निमित्त व्यवहार किया गया है, वह अपने से भिन्न अन्य द्रव्य के कार्यरूप परिणत नहीं होता है, इसे स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ मिट्टी के अपने परिणामस्वरूप के कारण स्वयं घटरूप परिणत होने पर कुम्भकार (वाह्य निमित्त) स्वयं घट नहीं वन जाता इसे समीक्षक इसी रूप में मानता है, यह, प्रसन्नता की वात है।

(ख) समीक्षक वाह्य निमित्त को अन्य द्रव्य के कार्य में सहायक मानकर इस अपेक्षा से उसे (वाह्य निमित्त) को भूतार्थ मानता है। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि वाह्य निमित्त अन्य

द्रव्य के कार्य में परमार्थ से सहायक होने से भूतार्थ है या सहायक होने का असद्भूत व्यवहार अर्थात उपचार होने से वह सहायक है। आगे इसी विषय पर सप्रमाण विचार किया जाता है।

अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य में सहायक हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के स्वचतुष्टय अपने-अपने में ही होते हैं और जब एक द्रव्य का स्वचतुष्टय अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टयरूप होता ही नहीं, ऐसी अवस्था में अन्य द्रव्य के कार्य में तद्भिन्न अन्य द्रव्य परमार्थ से सहायक होकर भूतार्थ कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जा सकता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्द-कुन्द समयसार में लिखते हैं कि—यदि जीव के साथ मिलकर ही पुद्गल द्रव्य का कर्म परिणाम होता है तो ऐसा होने पर जीव और पुद्गल दोनों कर्मभाव को प्राप्त हो जावेंगे। और यदि एक द्रव्य पुद्गल का ही कर्मरूप से परिणाम माना जावे तो जीवभाव को हेतु किये बिना ही पुद्गल का कर्मरूप परिणाम होना नियम से मानना होगा। (स० सा० गा० १३७-३८)

यह वस्तुस्थित है। इसे ध्यान में लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि परमार्थ से एक ही द्रव्य स्वयं ही अन्य की अपेक्षा किये बिना विवक्षित कार्यरूप परिणमित होता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का कार्यरूप परिणमना, यह उनका अपना स्वभाव है और इसी कारण आचार्यों ने वस्तु के वस्तुत्व का स्पष्टीकरण करने के अभिप्राय से उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"अर्थक्रिया कारित्वं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्", अर्थात् प्रत्येक समय में काम करते रहना यह प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व है। इसके साथ ही वे (आचार्य) यह भी लिखते हैं कि "स्वोपादानपरापोहनं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्" अर्थात् स्व को ग्रहण करके रहना और पर को अपने से दूर रखना यह भी प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व है।

"ऐसी अवस्था में निमित्तकारण अन्य द्रव्य के कार्य में सहायक होता है, इस अपेक्षा से वह भूतार्थ है।" समीक्षक का यह कहना कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जा सकता है। इसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को ध्यान में रखकर (सर्वार्थ-सिद्धि अ.५ सू ११ की टीका में) यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि धर्मादि द्रव्यों का आधार लोकाकाश है तो आकाश द्रव्य का दूसरा कौन आधार निमित्त है ? इसके उत्तर स्वरूप वहां कहा गया है कि आकाश का अन्य दूसरा द्रव्य आधार नहीं है, वह स्वप्रतिष्ठ है। इस पर पुनः यह शंका की गयी है कि यदि आकाश द्रव्य स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही होने चाहिये यदि धर्मादिक द्रव्यों का अन्य आधार कल्पित करते हैं तो आकाश द्रव्य का भी अन्य आधार कल्पित करना चाहिये। और ऐसा होने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव लिखते हैं कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाश से अधिक परिमाण वाला अन्य द्रव्य नहीं पाया जाता जिसमें आकाश को स्थित कहा जावे। वह सबसे बड़ा अनन्त स्वरूप है, इसलिए धर्मादिक द्रव्यों का व्यवहारनय से आकाशद्रव्य अधिकरण कहा जाता है, एवं भूतनय की विवक्षा में तो सब ही द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। कहा भी है आप कहाँ रहते हैं ? अपने में। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश के बाहर नहीं पाये जाते इतना ही, आधार आधेय कल्पना करने का फल है। इस कथन से निश्चित होता है कि बाह्य द्रव्य में स्वरूप से निमित्ता नहीं हुआ करती, माना काल प्रत्यासत्ति के आधार पर उसे उपचार निमित्त कल्पित किया जाता है, इसलिये नैगम रूप द्रव्यार्थिक की अपेक्षा उसकी परिगणना नौ कर्म में की जाती है।

यदि कहा जावे कि यह उदाहरण उदासीन कारणकी विवक्षा में दिया गया है। अतएव वह वैसा ही है जैसा यह कहना कि चौकी पर पुस्तक रखी है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि चाहे विस्रसा निमित्त हो या प्रायोगिक पुरुष का योग और उपयोगरूप प्रायोगिक निमित्त हो, निमित्त किसी प्रकार का भी क्यों न हो, कार्य के प्रति उदासीन ही होता है, क्योंकि वह (निमित्त) कार्यकाल में होने वाली अपनी क्रिया को छोड़कर कार्यरूप परिणत अन्य द्रव्य की क्रिया में सर्वथा असमर्थ ही रहता है। जैसे मिट्टी स्वयं परिणमन करके घट बनती है, वैसे कुम्भकार स्वयं योग और उपयोगरूप क्रिया को छोड़कर मिट्टी रूप परिणमन करके घट नहीं बनता, वह कुंभकार ही बना रहता है। अतः जैसे मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमी है, वैसे कुंभकार स्वयं घटरूप नहीं परिणमा है। मिट्टी की घटरूप क्रियासे भिन्न ही कुंभकार का उकडू बैठना, हाथों को हिलाना और विकल्पका करना आदि रूप ही क्रिया हुई है, घटरूप क्रिया नहीं हुई। यही कारण है कि समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका में कुंभकार को घटरूप क्रिया करनेवाला न कहकर असद्भूत व्यवहारसे घटकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार करनेवाला ही कहा गया है।[1] यही कारण है कि समीक्षक के "निमित्त कारण अन्यके कार्यमें सहायक होकर भूतार्थ है।", इस मान्यताका निरसन करनेके लिये वाध्य होना पड़ा है। कल्पित मीमांसक बन कर उसने "जैनतत्त्व मीमांसाकी मीमांसा" नामक एक पुस्तक लिखी है उसके पृष्ठ २६८ में वह लिखता है कि

(१) "हम लोगोंका आगम, अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्कके आधार पर यह कहना है कि अनुकूल उपादानगत योग्यता और उसकी कार्याव्यवहितपूर्व पर्याय विशिष्टता विद्यमान रहने पर ही कार्योत्पत्ति होगी, लेकिन उपादानके इस स्थितिमें पहुँच जाने पर भी उसमें नाना कार्योंकी उत्पत्ति संभव रहनेके कारण वही कार्य उत्पन्न होगा जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक सामग्री का अभाव होगा।"

(२) इन्होंने इसी आशय का कथन इसी पुस्तक के पृ० २६६ में भी किया है। इसी बात को स्पष्ट करते हुये पृ० २७२ में वे पुनः लिखते हैं "इस बात को ध्यान में रखकर गाथा का अभिप्राय यही निकलता है कि कार्य से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय कारण कहलाती है और इस पूर्व क्षणवर्ती पर्याय से उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य कहलाती है, लेकिन कार्य वही उत्पन्न होगा, जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक सामग्री का अभाव वहाँ पर होगा।"

(३) पृ० २७८ में मीमांसक पुनः लिखता है कि "इस सब विवेचन का सार यह है कि विवक्षित कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय उस विवक्षित कार्य की नियामक कदापि नहीं हो सकती है, किन्तु उसकी नियामक अन्य सामग्री ही होती है।" आगे वह इसी पृष्ठ में यह भी लिखता है —"क्योंकि पूर्व परिणमन को यदि उत्तर परिणमन का नियामक माना जायगा तो समान परिणमन होते-होते जो यकायक असमान परिणमन होने लगता है, उसकी असंगति हो जायेगी।"

(४) मीमांसक बरैया ग्रन्थमाला पृष्ठ २३४ में लिखता है कि "जब जैनदर्शन में प्रत्येक अभाव को भावान्तर स्वभाव से ही माना गया है, तो प्रकृत में ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयरूप प्रध्वंसाभाव को उनकी अकर्मरूप उत्तरपर्याय के रूप में ग्रहण करना सूत्रधार के आशय के कदापि विरुद्ध नहीं हो सकता है।"

---

१. कुम्भसम्भवानुकूल व्यापारं कुर्वाण (स सा.गा. ८४ आत्मख्याति टीका)

(५) पृष्ठ २८० में मीमांसक का यह भी कहना है कि "परावलम्बनवृत्ति को उक्त उभय विद्वान् उपचरित अर्थात् कथनमात्र मानने का भले ही आग्रह करते रहें, लेकिन यह वात निश्चित है कि वह परावलम्बनवृत्ति जव जीव के वास्तविक संसार का कारण है तो ऐसी स्थिति में उसे उपचरित (कथन मात्र) कैसे माना जा सकता है ? तीसरे इससे जीव के संसार की सृष्टि में निमित्तों की आश्रितता सिद्ध हो जाने से" कार्य केवल उपादान के वल पर ही उत्पन्न होता है "इस सिद्धान्त का व्याघात होता है।"

(६) पृष्ठ २८८ में वह यह भी लिखता है कि "जीव और पुद्गल की मिलावट का नाम संसार कहलाता है और उसके नष्ट हो जाने अर्थात् जीव और पुद्गल के पृथक्-पृथक् हो जाने का नाम मोक्ष है।"... ....आगे इसी पृष्ठ में वह पुनः लिखता है कि "जड़ और चैतन्य सम्पूर्ण पदार्थ परिणमन स्वभाव वाले होने के कारण जहाँ अपनी स्वतन्त्रता के आधार पर क्षणभावी स्वप्रत्यय परिणमन सतत करते रहते हैं, वहाँ वे सभी प्रकार के परिणमन स्वभाव वाले होने के कारण ही यथासम्भव स्पृष्टता या वद्धता के आधार पर यथायोग्य क्षणमात्र वाले और नानाक्षण वाले स्वपर प्रत्यय परिणमन भी सतत करते रहते हैं। इसी आधार पर नाना वस्तुओं में आधाराधेय-भाव व निमित्त-नैमित्तिकभाव की सिद्धि होती है। ये सम्वन्ध यद्यपि नाना वस्तुओं के आधार पर होने के कारण व्यवहारनय के विषय सिद्ध होते हैं, फिर भी ये वास्तविक हैं, गधे के सींग या वन्ध्या-पुत्र के समान अवास्तविक असत्य या कथन मात्र नहीं हैं।"

(७) पृष्ठ २८९ में वह लिखता है कि "फिर भी प्रत्येक पदार्थ के स्वपर प्रत्यय परिणमन में स्व के साथ परपदार्थ की सहायता की अपेक्षा रहने के कारण पर पदार्थ की कारणता का निषेध किसी भी हालत में नहीं किया जा सकता है।"

(८) पृष्ठ २९० पर उसका यह भी कहना है कि "एक वात यह भी विचारणीय है कि जीव का सचेतन अचेतन विविध प्रकार के पदार्थों में जो अहंकार या ममकार होता है, उसका अवलम्वन ये सव पदार्थ ही हुआ करते हैं।"

(९) पृष्ठ २९१ पर उसका यह भी कहना है कि "फिर दण्ड चक्र आदि साधन सामग्री के सहारे पर वुद्धि पूर्वक किये गये अपने व्यापार से ही मिट्टी में घट निर्माण क्रिया उत्पन्न होने सम्वन्धी अनुभव के आधार पर उस प्रकार का व्यापार किया जाना आदि सव प्रकार का प्रयत्न क्या मूर्खता का ही कार्य समझ लिया जाना चाहिये।"

(१०) पृष्ठ २९३ में वह यह भी कहता है कि "यदि कहा जाय कि लौकिक कार्यों में विद्यमान निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्य-कारण भाव का निषेध जैनतत्व मीमांसा में नहीं किया गया है, केवल इतनी वात है कि मुक्ति पाने के लिये जीव का निमित्त की आवश्यकता नहीं है और न निमित्त सामग्री की अपेक्षा रखने वाला जीव कभी मुक्ति पा ही सकता है। इस तरह केवल मुक्ति पाने की दृष्टि से ही जैनतत्त्व मीमांसा पुस्तक लिखी गयी है, तो इस सम्बन्ध में भी मेरा यह कहना है कि निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के विषय में जो कुछ जैनतत्त्व मीमांसा में लिखा गया है, उसमें लौकिक और पारमार्थिक दृष्टियों का भेद दिखलाने का कहीं प्रयत्न नहीं किया गया है। दूसरी

वात यह है कि मुक्ति के सम्बन्ध में निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्यकारण भावके विचार की आवश्यकता नहीं है। इस वात का निषेध पूर्व में किया जा चुका है, और आगे भी किया जायेगा। इसलिये यहांपर मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि मुक्ति भी जीव की स्वपर प्रत्यय पर्याय है। अतः उसकी प्राप्ति के लिये भी निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्य कारण भाव पर दृष्टि रखना अनिवार्य हा जाता है।"

(११) पृष्ठ २९७ में उसका यह भी कहना है कि "यद्यपि निश्चय रत्नत्रय से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु उसे निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति व्यवहार रत्नत्रय के आधार पर ही होती है।"

(१२) पृष्ठ ३०१ में उसका यह भी कहना है कि "जीव की वस्तुत्व व्यवस्था के प्रति" यह ऐसा ही है "इस तरह की आस्था हो जाना यह व्यवहार सम्यग्दर्शन है और उसके आधार पर ही उसकी आत्मकल्याण में रुचि जाग्रत हो जाना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है" आदि।

(१३) पृष्ठ ३०९ में उसका यह भी कहना है कि "शुभ योग वह है जो दानान्तराय लाभान्तराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय कर्मो का सातिशय क्षयोपशम तथा पुण्यकर्म का उदय रहने पर होता है और अशुभयोग वह है जो दानान्तराय लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मो के मन्द क्षयोपशम तथा पापकर्मो का उदय होने पर होता है।"

(१४) पृष्ठ ३१७ में उसका यह भी कहना है कि "सप्तम गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक के जीवों के संज्वलन कषाय का उत्तरोत्तर मन्द मन्दतर और मन्दतम उदय रहने के कारण आरम्भी पापरूप पापाचरण के त्याग की विशेषता होती जाती है और १०वें गुणस्थान के अन्तिम समय में तो संज्वलन कषाय का भी पूर्णतया उपशम या क्षय हो जाने के कारण समस्त आरम्भी पापरूप पापाचरण का सर्वथा अभाव हो जाता है, अतः एकादस गुणस्थान से लेकर चतुर्दस गुणस्थान तक के जीव यथाख्यात चारित्र के धारक निश्चय सम्यक्चारित्री हुआ करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एकादस गुणस्थान से पूर्व पंचम गुणस्थान से लेकर दसम गुणस्थान तक के जीव आरम्भी पापरूप पापाचरण के त्यागरूप में व्यवहार सम्यक्चारित्री हुआ करते हैं।"

(१५) पृष्ठ ३२० में उसका यह भी लिखना है कि "सप्तम गुणस्थान से लेकर दसम गुणस्थान तक जो पुण्याचरण रहता है, वह केवल धर्मध्यान के रूप में ही वहाँ रहता है और यही कारण है कि दसम गुणस्थान तक धर्म ध्यान का सद्भाव आगम में स्वीकार किया गया है।"

(१६) पृष्ठ ३२५ में वह लिखता है कि "पण्डितजी की मान्यता के अनुसार यदि उपचरित कथन अनुपचरित अर्थ की सिद्धि का कारण है तो वह निरर्थक या कथन मात्र कैसे हो सकता है ?"

(१७) पृष्ठ ३३३ में उसका कहना है कि "जैसे मिट्टी में जिसप्रकार कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है, उसीप्रकार कुम्भकार व्यक्ति में भी कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि मिट्टी कुम्भ की कर्ता इस दृष्टि से है कि वह कुम्भ रूप परिणत होती है और कुम्भकार व्यक्ति कुम्भ का कर्ता इस दृष्टि से है कि वह मिट्टी के कुम्भ रूप परिणत होने में सहायक होता है।"

(१८) पृष्ठ ३४३ में उसका कहना है कि "सभी कार्यों की उत्पत्ति में पं० फूलचन्दजी द्वारा उक्त स्वभाव आदि सभी के समवाय को कारण मानना असंगत है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का प्रतिक्षण जो षड्गुण हानि-वृद्धि रूप स्व पर प्रत्यय परिणमन हो रहा है, उसमें निमित्तों की कारणता प्राप्त नहीं है।"

(१९) पृष्ठ ३५४ में उसका यह भी कहना है कि "वस्तु की शुद्ध पर्याय पर निरपेक्ष (केवल स्व प्रत्यय) होते हुये भी कालनिमित्तक तो वह है ही.......... "काल किसी भी वस्तु के किसी भी परिणमनमें निमित्त नहीं होता है।" ....केवल इतना अवश्य है कि काल उन परिणमन का समय, आवलि........ आदि के रूपमें विभाजन मात्र करना रहता है।"............ परन्तु स्वप्रत्यय परिणमन में काल के अन्वय-व्यतिरेक के घटित होने की कभी संभावना नहीं है।

(२०) पृष्ठ ३५६ में वह लिखता है कि "परन्तु वास्तविकता यही है कि उपादान हमेशा द्रव्य ही हुआ करता है। वह पर्याय विशिष्ट ही होता है यह दूसरी बात है लेकिन पर्याय तो कार्य में ही अन्तर्भूत होती है, वह उपादान कभी नहीं होती।"

ये कुल २० वचन हैं। इन्हें जैनतत्व मीमांसाके मीमांसक ने अपने मतकी पुष्टि में जैनतत्व मीमांसा की मीमांसा नामक पुस्तक में निबद्ध किया है। अब यहाँ उन पर क्रमशः विचार किया जाता है। उनमें नं० १, २, ३ और १७ के जो वक्तव्य हैं, जिनमें उपादान की ओर दुर्लक्ष्य करके मीमांसक ने मात्र निमित्त के बल पर कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार की है। उपादान को वह मात्र "उसमें कार्य होता है" इस रूप में स्वीकार करता है, या उपादान में वह नाना उपादान शक्तियों का सद्भाव स्वीकार करता है (वरैया ग्रन्थ १६) अन्यथा वह यह कभी नहीं लिखता कि उसमें (उपादान में) नाना कार्यों की उत्पत्ति संभव रहनेके कारण वही कार्य उत्पन्न होगा जिसके अनुकूल निमित्त कारण सामग्री का सद्भाव और बाधक कारण सामग्री का अभाव होगा या वह (वक्तव्य नं० १७ वरैया, पृष्ठ ३३३) के अनुसार यह भी कभी नहीं लिखता कि "जैसे मिट्टी में जिसप्रकार कुम्भ निर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है, उसीप्रकार कुम्भकार व्यक्तिमें भी कुम्भ निर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है।" सम्भवतः वह अपने इन्हीं अभिप्रायोंको ध्यान में रखकर अपनी समीक्षा पृष्ठ ५ में निमित्तको सहायक रूप में भूतार्थ स्वीकार करता है। अतः यहाँ पर मीमांसक के द्वारा प्रतिपादित सभी मुद्दों को ध्यान में रखकर सप्रमाण विचार किया जाता है।

उसमें भी सर्वप्रथम हम उपादान के लक्षण पर आगमानुसार सप्रमाण विचार करते हैं :

अष्टसहस्री पृष्ठ १०० में प्रागभाव और उपादान को एक बतलाते हुये ऋजुसूत्रनयसे लिखा है :-

"ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्णोऽनन्तरात्मा।"

ऋजुसूत्रनयकी विवक्षा से तो कार्य का उपादान परिणाम अनन्तर (अव्यवहित) पूर्व पर्याय ही प्रागभाव है' अष्टसहस्री के इस वचन द्वारा तो अव्यवहित पूर्व पर्यायको ही विवक्षित कार्य का उपादान स्वीकार किया गया है और ऐसा स्वीकार करते हुये न तो उपादानमें एक काल में अनेक कार्य करने की शक्तियां स्वीकार की गयी हैं और न ही उपादान को जब जैसा निमित्त

मिलता है, उसके अनुसार कार्य करना स्वीकार किया गया है। किन्तु उपादानके उक्त लक्षणसे तो यही स्पष्ट होता है कि प्रत्येक कार्य का सुनिश्चित उपादान होता है और उससे विवक्षित उपादान के अनुरूप ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से उसी समय उस कार्य का निमित्त रहता ही है, क्योंकि दोनों के सद्भाव में वह कार्य होगा ऐसा नियम है। काल प्रत्यासत्ति का भी यही अर्थ है तथा कार्य के प्रति बाह्येतर उपाधि समग्रता का भी यही अर्थ है।

तत्वार्थश्लोकवार्तिक में उपादानके दो भेद किये गये हैं—एक असमर्थ उपादान और दूसरा समर्थ उपादान। उनमें जो समर्थ उपादान है वह अवश्य ही कार्यका जनक होता है और वह अष्टसहस्त्री के उक्त अभिप्रायानुसार अव्यहित पूर्व-पर्याययुक्तद्रव्यरूप ही होता है।

इस प्रकार इन दो प्रमाण से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप उपादान से नियत कार्य की ही उत्पत्ति होती है। इसलिये मीमांसक का ऐसा मानना असंगत है कि "अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्तद्रव्य रूप उपादानके रहने पर भी कार्यकी उत्पत्ति निमित्तों के अनुसार ही होती है, उपादान के अनुसार नहीं।" तत्वार्थश्लोकवार्तिक का वह प्रमाण इस प्रकार है :—

"तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणाला भोऽवश्यं कार्यवत्वाभावात, समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्वमेवेतिचेन्न, तस्येहाविवक्षितत्वात्। तद्विवक्षायां तु पूर्वस्य लाभे नोत्तरं भजनीयमुच्यते, स्वयमविरोधात्।

और इसीलिये उपादानका लाभ होने पर उत्तरवर्ती उपादेय (कार्य) का लाभ नियत नहीं है, क्योंकि कारण नियमसे कार्यपने को नहीं प्राप्त होते।

शंका—समर्थकारण कार्ययुक्त तो होता ही है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उसकी (समर्थकारण की) यहां विवक्षा नहीं है। किन्तु उसकी (समर्थकारण की) विवक्षा होने पर अव्यवहित पूर्व का लाभ होने पर उत्तर (अव्यवहित उत्तर) की प्राप्ति भजनीय नहीं कही जाती, क्योंकि ऐसा होने में स्वयं कोई विरोध नहीं।

यह तत्वार्थश्लोकवार्तिकका उद्धरण है। इसमें असमर्थ उपादान और समर्थ उपादान दोनों का विधान किया गया है। हमने जैनतत्व मीमाँसा में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार "पुव्वपरिणामजुत्तं" इत्यादि गाथा द्वारा समर्थ उपादानका ही विधान किया है। किन्तु मीमांसकने मालूम पड़ता है कि उसे असमर्थ उपादान मानकर यह लिखा है कि उपादान में नाना उपादान शक्तियाँ होती हैं—इसलिये जैसा निमित्त मिलता है उसके अनुसार कार्य होता है, जो योग्य नहीं है।

इसप्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समर्थ उपादान एक ही होता है और उससे उत्पन्न होने वाला कार्य वही होता है जिसका वह समर्थ उपादान होता है। वहाँ उस कार्य का जो भी निमित्त होता है उसमें उपादान की क्रिया करने की शक्ति ही नहीं होती। मात्र वह उपादान के अनुसार होने वाले कार्य का सूचक होने से उसका निमित्त कहलाता है। और इसी आधार पर निमित्तके अनुसार कार्य होता है, ऐसा व्यवहार (उपचार) किया जाता है।

प्रकृतमें मीमांसक का यह भी कहना है कि "निमित्त कारण कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक होनेसे वह भूतार्थ है।" सो उसका ऐसा कहना तो तब ही बन सकता है जब वह (निमित्त कारण)

उपादानके साथ मिलकर कार्यकी उत्पत्ति रूप क्रिया करे। परन्तु आगमके अनुसार जब दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया कर ही नहीं सकते ऐसी अवस्थामें निमित्तको कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक कहना भूतार्थ न होकर अभूतार्थ ही ठहरता है। दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नहीं करते इसकी पुष्टि करते हुये समयसार आत्मख्याति टीकामें लिखा भी है—(कलश)

"नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥ ५३ ॥

दो द्रव्य एक परिणमन नहीं करते, दो द्रव्योंका एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक क्रिया (परिणति) नहीं होती, क्योंकि दो (अनेक) द्रव्य हैं वे सदा अनेक ही रहते हैं, वे बदलकर एक नहीं होते। आगे यह भी लिखा है कि :—

"नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ द्वे कर्मणी न चैकस्य
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ५४ ॥

एक कार्य के दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होतीं, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य नहीं होते।

इसप्रकार इन वचनोंके अनुसार तो जिसे हम निमित्त कहते हैं वह उपादानके कार्यमें परमार्थ से अणुमात्र भी सहायक नहीं हो सकता। हाँ, कालप्रत्यासत्तिवश उसमें (निमित्त में) सहायकपने का असद्भूत व्यवहार अवश्य हो जाता है। उपादान द्रव्य जब अपनी क्रिया करता है उसी समय जिसे हम कार्यका निमित्त कहते हैं वह भी उपादान होकर स्वयंकी क्रिया करता है। अतः निमित्त उपादान के कार्य में सहायक होता है, यह कहना या मानना उपचार ही तो ठहरता है, ऐसी अवस्था में वह परमार्थ से उपादानके कार्यका सहायक कैसे माना जा सकता है ?

इस प्रकार १, २, ३ व १७ नम्बर के मुद्दों के आधार पर विचार किया गया। अब मीमांसकने वरैया पृष्ठ २३४ के अनुसार ज्ञानावर्णादि कर्मो के क्षयरूप प्रध्वंसाभावको उनकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय के रूप में ग्रहण करना तत्वार्थसूत्रकार के अनुसार जो माना है उसका वैसा मानना प्रकृतमें क्यों युक्तियुक्त नहीं है, इस पर आगे विचार किया जाता है।

यद्यपि क्षयका अर्थ विवक्षाभेदसे उत्पाद ही होता है, परन्तु क्षय (व्यय) में और उत्पादमें आचार्यो ने लक्षणभेद से भेद स्वीकार किया है। जैसा कि आप्त मीमांसा में कहा भी है—

"कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानदानपेक्षः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

उपादान का पूर्वाकारसे क्षय कार्य का उत्पाद ही है, क्योंकि उन दोनों में एक हेतु से होने का नियम देखा जाता है। किन्तु लक्षण भेद से वे दो हैं—वे अलग-अलग हैं। जाति आदिका अवस्थान होने से सर्वथा दो नहीं हैं। यदि उन दोनों को सर्वथा अनपेक्ष मान लिया जावे तो आकाश के फूल के समान उनका अभाव हो जावेगा इसप्रकार व्यय और उत्पाद इन दोनों के कथंचित् एक होने पर भी लक्षणभेद से वे दो हैं, यह सिद्ध हो जाने पर भी प्रकृत में केवलज्ञानादि की उत्पत्तिमें ज्ञानावर्णादि कर्मो का क्षय होकर सूत्रकार को अकर्म पर्यायरूप उत्पाद विवक्षित है, यह देखना है।

समीक्षक का मत है कि यहाँ ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयसे सूत्रकार को अकर्म पर्यायरूप उत्पाद विवक्षित है, परन्तु विचार करने पर विदित होता है कि प्रकृत में केवलज्ञानादि पर्यायकी उत्पत्तिमें सूत्रकार को ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय ही विवक्षित है, अष्टसहस्त्रीमे आये हुए अष्टशती और अष्टसहस्त्री के इन वचनोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है।

मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः क्षयः, सतोऽत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोऽपि कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः। (अष्टस सहस्त्री पृष्ठ ४३)

प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः कनकपापणाद्वा मलस्य किट्टादेर्वा। (अष्टसहस्त्री पृष्ठ ४३)

मणिमेंसे मलादिककी व्यावृत्ति हो जानेका नाम क्षय है, क्योंकि सत्का अत्यन्त नाश नहीं हो सकता। उसी प्रकार आत्माकी भी, कर्मकी निवृत्ति हो जाने पर शुद्धि हो जाती है। प्रध्वंसाभाव अर्थात् क्षयरूप हानि यहां अभिप्रेत है और वह मणिमेंसे मलकी और कनक पापाणमेंसे किट्टादिकी निवृत्तिके समान व्यावृत्तिरूप ही है।

इस प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार ने यहाँ पर ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयरूप प्रध्वंसाभावको, उसकी अकर्मरूप उत्तरपर्याय के रूप में ग्रहण न करके, क्षयरूप प्रध्वंसाभाव को ही ग्रहण किया है यह स्पष्ट है।

इसी प्रकार मीमांसकने पृष्ट २८० (वरैया) में मुद्दा ५ को उपस्थित करके परावलम्वन रूप वृत्तिको जो वास्तविक संसारका कारण कहकर उपचरित माननेका निपेध किया है, सो उसका ऐसा लिखना भी ठीक नहीं है, क्योंकि परावलम्वनवृत्ति रागानुरंजित सविकल्प परिणति है, जो कि परवस्तु में अपनेपन की कल्पना के कारण होती है और इसीलिये उसे आचार्योंने उपचरित माना है। इसका अर्थ यह है कि जव परवस्तु परमार्थ से अपनी हो ही नहीं सकती, ऐसी अवस्था में उसे अपना मानना या कहना, मात्र कल्पना के और क्या हो सकता है ? और ऐसी कल्पना ही अज्ञान की जननी होने से वही अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्वादिभाव संसारके कारण होते हैं, यह स्पष्ट है। इसी प्रसंग से शंकाकार ने यह लिखा है कि "इससे जीव के संसार की सृष्टि में निमित्तों की आश्रितता सिद्ध हो जाने से कार्य केवल उपादानके वल पर ही उत्पन्न होता है, इस सिद्धान्त का व्याघात होता है" सो उसका ऐसा लिखना भी आगमविरुद्ध है, क्योंकि किसी वस्तु में (अपने कार्य के समय) अन्य वस्तुकी आश्रितता नहीं होती। अन्य द्रव्य के कार्य में अन्य की आश्रितता मानना यह मात्र अज्ञानी का एक विकल्प है। इसलिये जो आगममें यह स्वीकार किया गया है कि निचश्यसे कार्य केवल उपादान के वल पर ही होता है, वह यथार्थ है और निमित्तसे वस्तुतः कार्य होता है, यह एक अज्ञानी का विकल्प है।

आगे पृष्ठ २८८ (वरैया) में मीमांसक ने जो जीव और पुद्गल की मिलावट को संसार लिखा है, सो उसका ऐसा लिखना भी आगमविरुद्ध है, क्योंकि जीव की मिथ्यादर्शनादिरूप पर्याय का नाम ही संसार है और जीव का सम्यग्दर्शनादिरूप परिणत होने का नाम ही मोक्ष है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है :—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ।। ३ ।।

धर्म के ईश्वर अर्थात् तीर्थंकर देव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से परिणत जीव को धर्म कहते हैं। अतः इनकी पूर्णता का नाम ही मोक्ष है। तथा इनसे उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से परिणत जीव का नाम संसार है · · इसलिये जीव और पुद्गल के मिलावट को संसार कहना मात्र उपचार को छोड़कर और कुछ नहीं है। और वह भी जब इन दोनों का निमित्त-नैमित्तिक भाव से परस्पर संयोग होता है, तब ही इनकी मिलावट अर्थात् संयोगको उपचार से संसार कहा जाता है, क्योंकि वह वास्तविक न होनेसे उपचरित ही माना गया है। कोई भी द्रव्य अपने स्वरूपको छोड़कर पररूप कभी होता ही नहीं, इसलिये मिलावट कहना मात्र व्यवहार ही है।

आगे इसी पृष्ठ में मीमांसकने प्रत्येक द्रव्यके परिणमन स्वभाववाले होने से अपनी स्वतन्त्रता के आधार पर प्रत्येक समय के परिणमन को जो मात्र स्वप्रत्यय सिद्ध किया है, सो उसका ऐसा लिखना भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि जीव द्रव्यकी स्वतंत्रता स्वावलम्बन के आधार पर ही बनती है और उसी आधार पर उसका सम्यग्दर्शनादिरूप स्वप्रत्यय परिणमन सिद्ध होता है। इस प्रकार के सम्यग्दर्शनादिरूप जितने भी परिणमन होते हैं, वे आगममें स्वप्रत्यय ही माने गये हैं तथा जीवके संसार की परिपाटीरूप जितने भी परिणमन होते हैं या पुद्गलके स्कंधरूप जितने भी परिणमन होते हैं, वे सब आगम में स्व-पर प्रत्यय परिणमन माने गये हैं तथा उन का नाम ही विभाव पर्याय है। इसके लिये नियमसार की इस गाथा पर दृष्टिपात कीजिये :—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो ता सहावपज्जाओ ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ।। २८ ।।

जो अन्य निरपेक्ष परिणाम होता है वही स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय है और जो पुद्गल की स्कंधरूप पर्याय होती है वह स्व-पर प्रत्यय विभाव पर्याय है।

यह पुद्गल की स्वप्रत्यय और स्व-पर प्रत्यय पर्याय का लक्षण है। जीव द्रव्यकी विवक्षा में भी स्वप्रत्यय पर्याय और स्व-पर प्रत्यय पर्याय का यही लक्षण है। जैसा कि नियमसार की गाथा १४ से स्पष्ट ज्ञात होता है। वहाँ लिखा है :—

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ।

जीवकी पर्याय दो प्रकार की होती हैं—स्व-पर सापेक्ष पर्याय और पर निरपेक्ष पर्याय। इन्हें स्पष्ट करते हुये नियमसार गाथा १५ में लिखा है :—

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जयपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ।

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव—ये चारों विभाव पर्याय कही गयी हैं, क्योंकि इनके होने में परावलम्बन के पूर्व कर्मरूप उपाधिकी निमित्तता स्वीकार की गयी है तथा स्वावलम्बन

के आधार पर कर्मरूप उपाधिसे रहित सम्यग्दर्शनादिरूप जितनी भी पर्यायें होती हैं, वे सब पर निरपेक्ष स्वभाव पर्याय कही गयी हैं ।

इनके सिवाय ऐसी कोई अन्य षड्गुणहानिवृद्धिरूप पर्यायें नहीं हैं जो आगममें केवल स्वप्रत्यय पर्याय मानी गयी हों और न ही आगममें मोक्षरूप पर्यायको स्व-पर प्रत्यय स्वीकार किया गया है ।

साथ ही मीमांसकने जो नाना 'क्षणवर्ती' स्व-पर प्रत्यय परिणमनका उल्लेख किया है, वह भी यथार्थ नहीं है क्योंकि जो भी व्यंजन पर्यायरूप और अर्थपर्यायरूप परिणमन होता है, वह एक समयवर्ती अर्थात् समय-समयमें अन्य-अन्य ही होता है । सदृश परिणमन होने के कारण किसी पर्यायको व्यवहारनयसे अनेक क्षणवर्ती कहा जावे – यह अन्य बात है । जो भी वस्तु है, वह पर्याय की अपेक्षा समय-समय में अन्य-अन्य ही होती है – यह अबाधित सिद्धान्त है ।

अ. ५ सू. ७ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें उत्पाद के दो भेद किये गये हैं—एक स्वप्रत्यय उत्पाद और दूसरा परप्रत्यय उत्पाद । इनका विवेचन करते हुये वहाँ लिखा है — आगमकी प्रमाणता से जाननेमें आने वाले तथा षड्गुणी हानि और वृद्धि के द्वारा प्रवृत्त होने वाले अनंत अगुरुलघु गुणों का स्वभावसे उत्पाद और व्यय होता है तथा घोड़े आदि की गति स्थिति और अवगाहन में हेतु होनेसे क्षण-क्षण में उनमें भेद पड़ने के कारण उनका हेतु भी अन्य-अन्य होता है – इस प्रकार परसापेक्ष भी उनमें उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है, वह उद्धरण इस प्रकार है :—

द्विविध उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च । स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागम प्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धयाहान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो-व्ययश्च ।। परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्क्षणे क्षणे तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते ।।

अतः यह प्रकरण धर्मादिक तीन द्रव्यों का है और धर्मादिक तीन द्रव्योंकी स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याप्त होनेका नियम है, यहाँ जो षड्गुणहानिवृद्धिरूप स्वप्रत्यय कही गयी है वह धर्मादिक तीन द्रव्यों की उसी तरह की स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय जाननी चाहिये जैसी कि जीव द्रव्यकी संवर, निर्जरा और मोक्षरूप स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय होती है तथा जिस प्रकार जीवकी इन तीनों प्रकारकी पर्यायोंको उपशम और क्षय निमित्तक कहा जाता है । उसी प्रकार प्रकृतमें अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनके निमित्तसे धर्मादिक तीन द्रव्यों की पर्याय भी परप्रत्यय कही गयी है । इसप्रकार इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय को छोड़कर छहों द्रव्योंमें अनन्त अगुरुलघुगुण निमित्तक षडगुणहानिवृद्धिरूप अन्य कोई स्वतन्त्र स्वभाव पर्यायके अतिरिक्त स्वप्रत्यय पर्याय नहीं पायी जाती और न ही जीव की संवर, निर्जरा और मोक्षरूप परमार्थसे स्व-पर प्रत्यय पर्याय ही होती है । इतना अवश्य है कि जब यह जीव त्रिकाली स्वाभावके सन्मुख होकर अपने आत्मिक पुरुषार्थ के बल पर संवर, निर्जरा और मोक्षरूप स्वप्रत्यय स्वभाव पर्यायको उत्पन्न करता है, तब उन पर्यायोंमें, कर्मोंके उपशम या क्षयसे हुई है—ऐसा व्यवहार (उपचार) हो जाता है । प्रकृत में यहाँ अगुरु-लघुगुणका अर्थ अविभाग प्रतिच्छेद है । इसके लिए देखो—पंचास्तिकाय गाथा ८४ की समयव्याख्या टीका उसमें लिखा है —

अपि च धर्मः अगुरुलघुभिर्गुणैरगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबंधनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदैः प्रतिसमयसंभवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिः सदा परिणतत्वादुत्पादव्ययवत्वेपि स्वरूपादप्रच्यवनान्नित्यः ।।

और धर्मद्रव्य अगुरुलघुगुणोंरूपसे अर्थात् अगुरुलघुत्व नाम का जो स्वरूप प्रतिष्ठितका कारणरूप स्वभाव है, उसके अविभाग प्रतिच्छेदोंरूपसे जो कि प्रति समय होनेवाली षट्स्थान पतित वृद्धि हानिवाले अनन्त हैं, उन रूपसे सदैव परिणमन करनेके कारण उत्पाद व्यय वाला है, तथापि स्वरूप से च्युत नहीं होता, इसलिये नित्य है ।

आशा है, इतने कथन से मीमांसक स्वप्रत्यय और स्व-पर प्रत्यय पर्याय के विषयमें जो अपनी कल्पित मान्यता बनाये हुये है, उसमें संसोधन कर लेगा ।

पृष्ठ २८९ (वरैया) में पुनः उसने स्व-पर प्रत्यय पर्यायका उल्लेख करते हुये जो पर पदार्थों की कारणताका समर्थन किया है सो यहां प्रश्न यह है कि वह कारणता निश्चय से उसने मानी है या असदभूत व्यवहार से । यदि उपचरित व्यवहार से वह विभाग पर्याय में कारणता का समर्थन करता है तो इसमें आगमसे कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उपचरित व्यवहार से कार्यमें पर पदार्थों की निमित्तता आगममें स्वीकार की ही है। इतना अवश्य है कि आगम में सर्वत्र विभाव पर्याय को ही स्व-पर प्रत्यय स्वीकार किया है । स्वभाव पर्याय तो पर निरपेक्ष अर्थात् स्वप्रत्यय ही होती है, जो जीवकी अपेक्षा वाह्य संयोगमें अहंकार और ममकार भावके यथासम्भव छोड़ने पर ही उत्पन्न होती हैं ।

पृ. २९० (वरैया) में उसने अहंकार और ममकारमें जो पर द्रव्य के अवलम्बन की बात लिखी है, सो इस विषय में इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि परद्रव्य अहंकार और मसकारको उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जीव स्वयं ही अपने अज्ञान के कारण परद्रव्यको निमित्त कर स्वयं में अहंकार और ममकार को उत्पन्न कर लेता है, इसलिए जीव स्वयं ही मिथ्यात्वादि अज्ञानके कारण अहंकार भमकारका कर्त्ता बनता है, परद्रव्य नहीं । वह तो उनके होने में उपचारसे निमित्तमात्र है ।

पृष्ठ २९१ (वरैया) में मीमांसक ने घटादि निर्माणमें किये गये अपने व्यापारको क्या मूर्खता का कार्य माना जावे, ऐसी जो पृच्छा की है, सो हमारा इस विषय में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि जो कोई परद्रव्यकी क्रियाको "मैं स्वयं कर सकता हूँ"—यदि ऐसा मानता है तो उसका ऐसा मानना मूर्खता अर्थात् अज्ञान के सिवाय और क्या हो सकता है ? इस विपयको विशेषरूपसे समझने के लिए समयासार गाथा १०० आत्मख्याति टीका पर तथा पूरे कर्ताकर्म अधिकार पर दृष्टिपात करना उचित होगा । उससे पूरी वस्तु स्थिति स्पष्ट हो जायेगी ।

पृष्ठ २९३ (वरैया) में मीमांसकने जो जैनतत्व मीमांसा को लेकर निमित्त-नैमित्तक भाव रूप कार्यकारणभावसंबंधी विशेष चर्चा की है, सो इस संबंधमें हमें जैनतत्वमीमांसा जैसे ग्रन्थकी रचना करने का भाव क्यों हुआ — यह मीमांसाकसे छिपी हुई बात नहीं है । जैनतत्व मीमांसमें प्रारम्भ में हमने जो मंगलाचरण किया है, उसमें भी हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि मोक्षमार्गको ध्यान में रखकर इसकी रचना की जा रही है।

वह मंगलाचरण इस प्रकार है :—

करि प्रणाम जिनेदेवको मोक्षमार्ग-अनुरूप ।
विविध अर्थ गर्भित महा कहिये तत्वस्वरूप ।।

फिर भी मीमांसकके इस मत से हम सहमत हैं कि चाहे लौकिक प्रयोजन होया पारमार्थिक उन दोनोंमें निमित्त-नैमित्तकभावका कथन आगम सम्मत है । इतना अवश्य हैं कि लौकिक प्रयोजन में जहां संसारी प्राणी निमित्त को प्रधानता देकर उसी में कर्तृत्व का आरोप करके लौकिक प्रयोजन की सिद्धि मानता है, वहाँ परमार्थको जानकर पुरुष या उस पर आरूढ़ होनेवाला पुरुष अपने निज पुरुपार्थ को उजागर करके स्वयंके वल पर आत्मकार्य की सिद्धि करता है, उसकी दृष्टि में बाह्य पदार्थ में निमित्तताका व्यवहार गौण रहता है । जैसाकि तीर्थंकर वासपूज्य भगवान की स्तुति के प्रसंग में स्वत्रभूस्तयंमें आचार्य समन्तभद्रने कहा भी है —

यद्वस्तु वाह्यं गुणदोपसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ।। ५६ ।।

अभ्यन्तर जिसका मूल हेतु है, उसकी उत्पत्ति में जो बाह्य हेतु निमित्त है, अध्यात्मवृत्ति अर्थात् मोक्षमार्गी के लिए वह गौण है, क्योंकि आपके मत में मात्र अंतरंग कारण ही उसके लिए पर्याप्त है ।

यह संसाररूप कार्य और मोक्षकार्य की आगम सिद्ध व्यवस्था है । इसमें कार्य कारण भाव का कहाँ निषेध होता है ? मात्र कहाँ कौन गौण है और कौन मुख्य है, इसके विचारपूर्वक ही साधक या अन्य व्यक्ति इष्ट कार्य की सिद्धि में प्रवृत्त होता है ।

पृष्ठ २९७ (वरैया) में मीमांसकने जो निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति व्यवहार रत्नत्रय के आधार पर मानी है, सो उसका ऐसा लिखना आगम सम्मत नहीं है, क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय पराश्रितभाव होने से उसके आधार पर परमार्थसे निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होना संभव नहीं है । इतना अवश्य है कि दृष्टि में स्वभाव के अवलम्वन पूर्वक जिस समय निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होती है उसी समय चरणानुयोग के अनुसार होने वाला समस्त बाह्य आचार सम्यक्पने को प्राप्त होकर व्यवहार रत्नत्रय कहलाने लगता है । आगममें व्यवहार रततत्रय को साधक कहा है, वह मात्र उपचार से ही कहा है ।

पृष्ठ ३०१ (वरैया) में मीमांकने जो व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप लिखा है वह भी संशोधनीय जान पड़ता है, क्योंकि परद्रव्य और परद्रव्योंके निमित्त से होनेवाले भावोंसे भिन्न, स्वभावरूप आत्माके अनुभवपूर्वक जो आत्माश्रित श्रद्धा होती है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है । और इसके साथ परमार्थ स्वरूप देव, गुरु, शास्त्र और जीवादि तत्वों की जो श्रद्धा होती है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है ।

पृष्ठ ३०७ (वरैया) में मीमांसक ने जो शुभयोग और अशुभयोग का लक्षण लिखा है, उसके लिए उसे सर्वार्थसिद्ध अ० ७ सूत्र ३ पर दृष्टिपात करना चाहिए । वहां शुभयोग और अशुभयोग का लक्षण करते हुये लिखा है—

शुभपरिणामनिवृत्तः योगः शुभयोगः, अशुभपरिणामनिवृत्तः योगः अशुभयोगः ।

शुभ परिणामोंसे रचा गया योग शुभयोग है और अशुभ परिणामों से रचा गया योग अशुभ योग है। इसका विशेष खुलासा तत्वार्थवार्तिक—इसी अध्यायके तीसरे सूत्रसे किया गया है। इसलिए जिज्ञासुओं को वहाँ से जान लेना चाहिये।

पृष्ठ ३१७ (बरैया) में मीमांसक ने १०वें गुणस्थान तक जो आरम्भी पापाचरण का उल्लेख किया है, वह उसका ऐसा लिखना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ७ वें गुणस्थान[1] में धर्मध्यानकी पूर्णता और आठवें से शुक्लध्यान का प्रारम्भ हो जाता है। जैसा कि तत्वार्थवार्तिक के अ. ९ सू. ३६ के वार्तिक और उसके भाष्य से ज्ञात होता —

धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्यैवेति तन्न.किं कारणं ? पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसंगात्। असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयतप्रमत्तसंयतानामपिधर्मध्यानमिष्यते, सम्यक्त्वप्रभावत्वात्। इति धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्येत तर्हि तेषां निवृत्तिः प्रसज्येत।

धर्म्यध्यान अप्रमत्त संयत के ही होता है, ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि ऐसा मानने पर ४ थे आदि गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है, इसका निषेध हो जाता है।

शंका—कोई कहता है कि धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत के ही होता है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर ४थे आदि गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है, उसका निषेध हो जाता है। असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत जीवों के भी सम्यग्दर्शन के प्रभावसे धर्म्यध्यान कहा जाता है। यदि धर्म्यध्यान अप्रमत्तसंयतके ही कहा जावे तो उनके धर्मध्यान होने का निषेध हो जाता है।

इसलिए ७वें आदि गुणस्थानों में आरम्भी पापाचरणरूप कार्य नहीं हो सकते यह स्पष्ट है, क्योंकि वे निर्विकल्परूप धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानके गुणस्थान हैं। वहां जो संज्वलन कषाय का मंद, मंदतर और मंदतम उदय पाया जाता है, वह अबुद्धिपूर्वक ही आगममें स्वीकार किया गया है।

यद्यपि धवला पु. १३ में १०वें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान स्वीकार किया गया है, क्योंकि वहां तक संज्वलन कषायका उदय पाया जाने से वहाँ तक कषायका सद्भाव माना गया है, परन्तु वहाँ उपयोगकी मुख्यता होने से उपयोग में कषाय का उदय गौण हो जाने के कारण तथा सहज स्वभावभूत आत्माका अनुभव होने के कारण आगम में वहाँ शुक्लध्यानकी ही मुख्यता स्वीकार की गयी है, धर्म्यध्यानकी नहीं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुये तत्वार्थसूत्र अ. ९ सू. ३७ की टीका में लिखा है—

वक्ष्यमाणेषुशुक्लध्यानविकल्पेषु आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवतः श्रुतकेवलिन इत्यर्थः। च शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्यम्, श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते।

---

(1) [1]यहाँ पर विवक्षा से 7वें में धर्मध्यान लिखा है, जबकि 4थे से 7वें तक होता है।

आगे कहे जाने वाले शुक्लध्यानके भेदोंमेंसे आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वोंको जाननेवालों के होते हैं, श्रुतकेवली के होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। सूत्रमें आये हुये "च"- शब्द से धर्म्य-ध्यान का भी समुच्चय हो जाता है। उसमें भी व्याख्यानसे विशेषता का ज्ञान होता है, इसलिए दोनों श्रेणियों के पहले धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों मे शुक्लध्यान होता है, प्रकृत में ऐसा समझना चाहिये।

इससे स्पष्ट होता है कि दशवें गुणस्थान तक जो धर्म्यध्यान कहा गया है, वह मात्र संज्वलन कषाय के सद्भाव की मुख्यता से ही कहा गया है, आत्माश्रित उपयोग की मुख्यता से नहीं। इसी लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृत अ. । श्लोक ११० की स्वोपज्ञ भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका में लिखा है—

अत्र च शुद्धनिश्चये शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठतीति शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बन-त्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च भावसंवर इत्युच्यते।

और यहां पर शुद्धनिश्चयनय में शुद्धबुद्ध एकस्वभाव निजात्मा ध्येय निश्चित होता है, इसलिये शुद्धध्येय होने से, शुद्ध आत्मा का अवलम्बन होने से और शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग बन जाता है। वह भाव संवर कहा जाता है।

इस प्रकार आगम की साक्षीपूर्वक इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सातवें से दसवें गुणस्थान तक जो समीक्षक उत्तरोत्तर मन्द, मन्दतर और मन्दतम पापाचरण की कपोल कल्पना की है, वह मिथ्या कथन होने के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

आगम में श्रावक की ग्यारह प्रतिमा कही गयी हैं, उनमें आठवीं प्रतिमा का नाम आरम्भ त्याग प्रतिमा है। इससे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि आठवीं प्रतिमा को स्वीकार करते समय ही जब समस्त प्रकार के आरम्भ का बुद्धिपूर्वक त्याग कर देता है, ऐसी अवस्था में पूर्ण महाव्रत आदि २८ मूलगुणों को गुरुसाक्षी पूर्वक स्वीकार करने वाले पूर्ण संयमी श्रमण (मुनि) जब किसी भी प्रकार का आरम्भ सम्भव ही नहीं होता फिर ध्यानी मुनि के ७वें गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक किसी भी प्रकार के आरम्भ की उसमें भी पापाचरणरूप आरम्भ की सम्भावना कैसे की जा सकती है, अर्थात् कभी भी नहीं की जा सकती है।

आगे पृष्ठ ३२० (वरैया) में मीमांसक ने ७वें गुणस्थान से १०वें गुणस्थान तक धर्माचरण-रूप धर्म्यध्यान को मानकर पृष्ठ ३०७ (वरैया) में प्रतिपादित अपने मत के विरुद्ध विचार व्यक्त किया है सो उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसे ही स्वयं यह खबर नहीं कि पहले हम क्या लिख आये हैं और अब क्या लिख रहे हैं। वस्तुतः ७वें गुणस्थान से लेकर पापाचरण की बात तो छोड़िये प्रवृत्तिरूप धर्माचरण की सम्भावना ही नहीं है। वहां से लेकर तो आत्मा को मुख्यकर अन्य सब विकल्पों के निरोधस्वरूप ध्यान की ही मुख्यता रहती है। "एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्" ध्यान का लक्षण भी यही है। विशेष खुलासा हम पिछली शंका का उत्तर लिखते समय कर ही आये हैं।

पृष्ठ २२५ (वरैया) में मीमांसक ने जो उपचरित कथन के सम्बन्ध में हमारा अभिप्राय लिखकर उसकी सार्थकताका समर्थन किया है सो इस सम्बन्ध में मीमांसक को यह अच्छी तरह से

समझ लेना चाहिए कि जितना भी कथन किया जाता है वह सब सप्रयोजन ही किया जाता है। अन्यथा वह नयाभास हो जाता है, इसलिये यदि उपचरित कथन से अनुपचरित अर्थ की सिद्धि होती है तो उसे (उपचरित कथन को, मीमांसकके मतानुसार भूतार्थ कैसे माना जा सकता है मीमासक को जो उपचरित कथनको भूतार्थ मानने का आग्रह है, सो उसे उसका ही त्याग करना है, अन्य कुछ नहीं।

आगे पृष्ठ ३३३ (वरैया) मीमांसक ने कुम्भकार में जो मिट्टी के समान कुम्भनिर्माण का कर्तव्य स्वीकार किया है सो उसके इस कथन को जिनागम का अपलाप करने के सिवाय और क्या कहा जा सकता है। जिसने समयासार के कर्ताकर्म अधिकार को पढ़ा है वह यह अच्छी तरह से जानता है कि कुम्भकार में मिट्टी के कुम्भनिर्माण का कर्तृत्व त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। परमार्थ से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं होता यह उतना ही सत्य है, जितना कि यह कहना कि यह जीव अपने अज्ञान के कारण संसारी बना हुआ है। यह मानना सत्य है क्योंकि अपने अज्ञान के कारण ही जीव संसारी बना हुआ है। हाँ यदि कुम्भकार का योग और विकल्प घट निर्माण में निमित्त हैं, इस अपेक्षा से उसे उपचार से निमित्त कर्ता कहा जाता है तो उससे यह कभी भी सिद्ध नहीं होता कि कुम्भकार ने मिट्टी के परिणमन की क्रिया करके योग और विकल्प की क्रिया करने के साथ मिट्टी में कुम्भ निर्माण की भी क्रिया की है। वस्तुतः कुम्भकार ने मिट्टी के परिणमन की क्रिया न करके कुम्भ उत्पत्ति के व्यवहार से अनुकूल योग और विकल्प ही किया तथा मिट्टी ने स्वयं परिणमन करके घट की उत्पत्ति की क्रिया की है। देखो, समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका।

आगे पृ० ३५३ में मीमांसक का कहना है कि पं० फूलचन्द जी की मान्यता सभी कार्यों में स्वभाव आदि के समवाय को कारण मानने की है, परन्तु मीमांसक के मतानुसार प्रत्येक द्रव्य के षड्गुणी हानि वृद्धि रूप परिणमन में निमित्तों की कारणता नहीं प्राप्त होती तो इसका ऐसा लिखना इसलिए स्ववचन बाधित है, क्योंकि एक ओर षड्गुणी हानि-वृद्धि रूप उस कार्य को स्वप्रत्यय के साथ पर प्रत्यय भी स्वीकार किया जाय और दूसरी ओर उस (कार्य) में निमित्तों की कारणता अस्वीकार की जाय उसका यह लिखना कहाँ तक तर्क संगत है इसका उसे स्वयं ही विचार करना है।

आगे पृष्ठ ३५४ (वरैया) में वह स्वभाव (शुद्ध) पर्याय के मूक और पर निरपेक्ष मानता है और दूसरी ओर काल निमित्तक भी लिखता है। साथ ही उसका यह भी लिखना है कि काल किसी भी वस्तु के परिणमन में निमित्त नहीं होता। और इसके साथ ही वह यह भी लिखता है कि काल द्रव्य उस परिणमन का समय आवली आदि के रूप में विभाजन मात्र करता रहता है। परन्तु स्व-प्रत्यय परिणमन में काल के अन्वय व्यतिरेक के घटित होने की कभी सम्भावना नहीं है।

इस प्रकार मीमांसक के पूर्वोक्त मत को पढकर लगता है कि उसे कार्यकारण भाव की जरा भी खबर नहीं है। एक ओर काल द्रव्य को अन्य द्रव्य के परिणमन में निमित्त मानना और दूसरी ओर उसका निषेध करना इसे कार्य कारण भाव की अनभिज्ञता ही कहा जा सकता है।

आगम में धर्मादिक द्रव्यों को उदासीन कारण के रूप में स्वीकार किया गया है काल द्रव्य भी जीवादि द्रव्यों के परिणाम का बहिरंग निमित्त है। जैसाकि पंचास्तिकाय गाथा १०० की समय व्याख्या टीका में आ० अमृतचन्द्र लिखते हैं—

जीवपुद्गलानां बहिरंगनिमित्तभूतद्रव्यकाल सद्भावे सति संभूतत्वात् द्रव्यकाल-संभूतः इत्यभिधीयते ।

जीव पुद्गलों का परिणाम तो बहिरंग निमित्तभूत द्रव्यकाल के सद्भाव में होता है, इसलिए द्रव्यकाल से उत्पन्न हुआ कहा जाता है।

इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए आ० जयसेन अपनी तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में लिखते हैं—

परिणाम दव्वकालसंभूदो-अणोरण्यंतरव्यक्तिक्रमणप्रभृति – पूर्वोक्तपुद्गल परिणामस्तु शीतकाले पाठकस्याग्निवत् कुम्भकारचक्रभ्रमण-विषये-अघस्तनशिलावद्बहिरंग-सहकारीकारणभूतन्न कालाणुरूपद्रव्यकालेनोत्पन्नत्वाद् द्रव्यकालसंभूत ।

परिणाम द्रव्यकाल के निमित्त से उत्पन्न हुआ है अर्थात् जैसे शीतकाल में पाठक के लिए अग्नि निमित्त है तथा कुम्भकार के चक्र में भ्रमण के विषय में नीचे की शिला बहिरंग निमित्त है, उसी प्रकार एक अणु के दूसरे अणु के उल्लंघन आदि पूर्वोक्त पुद्गल परिणाम बहिरंग सहकारी कारण कालाणुरूप द्रव्यकालसे उत्पन्न होने के कारण द्रव्यकाल से उत्पन्न हुआ है – ऐसा व्यवहार होता है।

ये दो प्रमाण हैं — इनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैसे धर्मादिक द्रव्य जीव और पुद्गलो के गमन आदि में निमित्त होते हैं उसी प्रकार काल द्रव्य भी सभी द्रव्योंके परिणमन में निमित्त होता है। इस विषय में मीमांसक का यह कहना कि काल द्रव्य समय, आवलि आदि के विभाजन में ही निमित्त है, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। आशा है कि मीमांसक इन दो प्रमाणों के प्रकाश में अपने विचारों को बदल लेगा।

पृष्ठ ३४६ (वरैया) में मीमांसक का यह लिखना कि उपादान हमेशा द्रव्य ही हुआ करता है, वह पर्याय विशिष्ट ही है आदि यह दूसरी बात है, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऋजुसूत्रनय से अव्यवहित पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय का उपादान होता है और प्रमाण से अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य अव्यवहित उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य का उपादान होता है। जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ के इस प्रमाण से ज्ञात होता है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ।।२०३।।

पूर्व पर्याय से युक्त द्रव्य कारणरूप से रहता है और उत्तर पर्याय से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य होता है।

इस प्रकार आगम की साक्षी पूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसक ने 'जैनतत्त्व मीमांसा की मीमांसा' को निमित्त कर जो अनर्गल बातें लिखी हैं वे किस प्रकार आगम सम्मत नहीं हैं इस बात का यहां तक विशेषरूप से विचार किया साथ, ही उक्त कथन से मीमांसक के इस विचार का भी खण्डन हो जाता है कि "बाह्य निमित्त कारण अन्यद्रव्य के कार्य में सहायक होकर भूतार्थ है", क्योंकि यहाँ जिस काल पदार्थ को निमित्त कहा गया है उसमें भूतार्थ रूप से अर्थात्

परमार्थ से अन्य द्रव्य के कार्य की निमित्तता (कारणता) नहीं ही पायी जाती है। मात्र काल प्रत्यासत्ति या बाह्य व्याप्ति को ध्यान में रखकर विवक्षित कार्य की अपेक्षा उस कालद्रव्य में निमित्तता का व्यवहार आगम में किया गया है, जो अभूतार्थ होने से उपचरित ही माना गया है।

(ग) इस प्रकार यहां तक पृष्ठ ९ में लिखित (क) और (ख) मुद्दों को ध्यान में रखकर ऊहापोह किया। आगे (ग) मुद्दे के आधार से विचार किया जाता है। उसमें जो उपचार को कथंचित अभूतार्थ और कथंचित भूतार्थ कहा गया है, वह कैसे ठीक है — इसकी मीमांसा की जाती है—

आगम में व्यवहारनय के दो भेद किये गये हैं। एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहारनय। सद्भूत व्यवहार का दूसरा नाम भेदव्यवहार भी है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से अभेद स्वरूप ही है, परन्तु प्रयोजन को ध्यान में रखकर गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायवान् में भेद करना सद्भूत व्यवहार है। इसके दो भेद हैं – शुद्ध सद्भूत व्यवहार और अशुद्ध असद्भूत व्यवहार। यहाँ इनके कथन का विशेष प्रयोजन नहीं है।

असद्भूत व्यवहार का दूसरा नाम उपचार है जैसाकि आलाप पद्धति में कहा है—

असद्भूत व्यवहार एवोपचारः।

असद्भूत व्यवहार किसे कहते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए आलाप पद्धति में पुनः कहा है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्य अन्यत्र समारोपणादसद्भूत व्यवहारः।

अन्य वस्तु में प्रसिद्ध हुए धर्म का उससे अन्य वस्तु में समारोप करना असद्भूत व्यवहार है। इसके ९ भेद हैं—

द्रव्ये द्रव्योपचारः द्रव्ये गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योपचारः, गुणे गुणोपचारः, गुणे पर्यायोपचारः, पर्याये द्रव्योपचारः, पर्याये गुणोपचारः, पर्याये पर्यायोपचारः।

अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य का समारोप करना यह द्रव्य में द्रव्योपचार है। द्रव्यको गुण कहना यह द्रव्यमें गुण का उपचार है। द्रव्य को पर्याय कहना यह द्रव्य में पर्याय का उपचार है। गुण को द्रव्य कहना यह गुण में द्रव्य का उपचार है। अन्य गुणको अन्य गुण कहना यह गुण में गुण का उपचार है, गुण को पर्याय कहना यह गुण में पर्याय का उपचार है। पर्याय को द्रव्य कहना यह पर्याय में द्रव्य का उपचार है। पर्याय को गुण कहना यह पर्याय में गुण का उपचार है। अन्य की पर्याय को अन्य की पर्याय कहना यह पर्याय में पर्याय का उपचार है।

पर्याय में पर्याय के उपचार का उदारहण—

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।।५९।। (समयसार)

इसी प्रकार जीव में कर्मो का और नोकर्मो का वर्ण देखकर जीव का यह वर्ण है, इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार से कहा है।

यह एक उदाहरण है। इसमें व्यवहार का अर्थ असद्भूत व्यवहार लिया है। जीव में कर्म और नोकर्म का वर्णन नहीं पाया जाता, इसलिए तो वह उसमें असद्भूत है। तथा कर्म और नोकर्म के वर्ण को जीव का कहा गया, इसलिए वह व्यवहार है। इस प्रकार यह असद्भूत व्यवहार का उदाहरण है, जो प्रयोजन विशेष से आगम में स्वीकार किया गया।

इस प्रकार उक्त आगम के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपचार असद्भूत अर्थका मुख्यतासे कथन करता है। अतः उसे मीमांसक के द्वारा कथंचित् असद्भूत और कथंचित् सद्भूत कहना आगम विरुद्ध होने के कारण मान्य नहीं है।

(घ) आगे समीक्षकने जो उपचार को ही व्यवहार कहकर कथंचित् भूतार्थ और कथंचित् अभूतार्थ स्वीकार किया है, सो प्राकृत में जिस अर्थ में वह व्यवहार शब्द का प्रयोग कर रहा है वह व्यवहार भी असद्भूत ही है, क्योंकि वह अन्य का अन्य में उपचार स्वरूप होने से अभूतार्थ ही है। उसे सद्भूत भेद व्यवहार नहीं माना जा सकता। इस प्रकार प्रश्नोत्तर की सामान्य समीक्षा नाम पर समीक्षक ने जो अपना कल्पित अभिमत व्यक्त किया है उसका विचार किया अन्तरमहदन्तरम्।

आगे मतैक्य के नाम पर समीक्षक ने पृष्ठ ४ में जो चार मुद्दे उपस्थित किये हैं, उनमें मौलिक अन्तर क्या है उसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है यथा—

संख्या (१) के अन्तर्गत समीक्षक का कहना है, कि दोनों ही पक्ष संसारी आत्मा के विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण में द्रव्यकर्म को निमित्त कारण और संसारी आत्मा को उपादान कारण मानते हैं। सो उसका कहना बाह्य दृष्टि से भले ही ठीक प्रतीत हो। पर उसने ऐसा लिखकर भी जो यह लिखा है कि "अव्यवहित पूर्वपर्यायियुक्तद्रव्य उपादान होकर भी वह उनके योग्यतावाला होता है, इसलिए जब जैसा निमित्त होता है, उसके अनुसार कार्य होता है उपादान के अनुसार नहीं" इसलिए उसके मतानुसार ऐसा लगता है कि उपादान में कार्य हुआ इतना ही वह उपादान का अर्थ करता है। उसके मतानुसार कार्य तो मात्र निमित्त के अनुसार ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं संख्या (१) के अन्तर्गत जो समीक्षक ने लिखा है वह यथार्थ नहीं है।

(२) इस संख्या के अन्तर्गत समीक्षक ने जो कुछ भी लिखा है उसे संख्या १ के सन्दर्भ में देखने पर स्थिति स्पष्ट हो जाती है। समीक्षक वस्तुतः अपनी बात को छिपा रहा है। आगम से समीक्षक के दृष्टिकोण में जो महान् अन्तर है उसे हम संख्या १ में स्पष्ट कर ही आये हैं।

(३) इस संख्या में समीक्षक ने दोनों पक्षों के अभिप्राय से जो उपादान कारण रूप संसारी आत्मा को यथार्थ कारण और मुख्य कर्ता लिखा है तथा निमित्तकारणभूत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्य कर्म को अयथार्थ कारण और उपचरित कर्ता लिखा है सो वस्तु स्थिति तो ऐसी ही है, परन्तु जब वह उपादान कारण को अन्य योग्यता वाला मानकर निमित्त के अनुसार कार्य के होने का विधान करता है, तब उसका पूर्वोक्त मत अपने आप खण्डित हो जाता है, क्योंकि उसके आगम विरुद्ध इस मत के अनुसार उपादान कारण मात्र आश्रय कारण रह जाता है और निमित्त कारण यथार्थ कारण मुख्य कर्ता बन जाता है। यदि वह कहे कि निमित्त के अनुसार कार्य होता है यह हम व्यवहार से कहते हैं तो भी उसका ऐसा लिखना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में निश्चय उपादान को

भी उसी मत वाला मानना चाहिये जो कार्य हुआ है कारण कि उपादान और निमित्त में कार्य की अपेक्षा काल प्रत्यासत्ति है।

(४) समीक्षक ने दोनों के मतानुसार संख्या ४ के अन्तर्गत उपादान कारणता यथार्थ कारणता और मुख्य कर्तृत्व निश्चय नय का विषय लिखा है और निमित्त कारण भूत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म से स्वीकृत निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहारनय के विषय हैं — सो उसका ऐसा लिखना यथार्थ होकर भी इसलिये संगत प्रतीत नहीं होता है, क्यों कि वह न तो उपादान को वास्तविक कारण रहने देना चाहता है और न बाह्य निमित्त को ही अयथार्थ कारण रहने देना चाहता है।

हम किसी पर आरोप करना जानते नहीं, जो वस्तु स्थिति है मात्र वह स्पष्ट की है।

पृष्ठ ७ में समीक्षक ने "जो उत्तरपक्ष का पूर्व पक्ष पर उल्टा आरोप" शीर्षक के अन्तर्गत जो वक्तव्य दिया है सो इसे उसकी मात्र कल्पना के अतिरिक्त हम और क्या कह सकते हैं। वह अपने आगम के विरुद्ध मत को न छोड़कर उत्तर पक्ष पर "उल्टा चोर कोतवाल को डाटे" यह युक्ति चरितार्थ कर रहा है। ऐसा एक भी प्रसंग नहीं आया जब हमने पूर्व पक्ष के प्रश्न का उत्तर न दिया हो, यदि पूर्व पक्ष हमारे उत्तर में अपने प्रश्न का उत्तर समझनेमें असमर्थ रहता है तो यह उसका ही दोष है, हमारा नहीं। न तो हमने अपने उत्तर में प्रासंगिक और अनावश्यक चर्चा ही प्रारम्भ की है और न ऐसा करने का हमारा अभिप्राय ही रहा है। उसकी बात तो यह है कि वह चाहता था कि हम नय विभाग के बिना यह उत्तर दें, परन्तु प्रश्न में गर्भित नय विभाग को ध्यान में लेकर उसके अनुसार उत्तर दिया है तो अप्रासांगिक और अनावश्यक कैसे हो गया — इसका निर्णय वह स्वयं करे, क्योंकि जिनागम की लगभग पूरी प्ररूपणा नय विभाग पर आश्रित है। उसकी सभी शंकायें नयविभाग पर आश्रित है, ऐसी हालत में उनका समाधान नय विभाग के अनुसार ही होगा। उसके अस्वीकार करने से क्या होता है।

आगे समीक्षक ने जो दोनों पक्षों के मध्य मतभेद की जिस रूप में रेखा खींची है, उसका वह मतभेद बाह्य निमित्त को उसके द्वारा अयथार्थ कारण मानने के कारण स्वयं ही खण्डित हो जाता है। वैसे वस्तुतः उसे (पृष्ठ-६ में) कारण न कहकर उपचरित कारण कहना चाहिये।

खानिया तत्त्वचर्चा समीक्षक की दृष्टि में भले ही वितंडावाद बन गयी हो, परन्तु विचारकों के लिये तो वह तत्त्वचर्चा ही है। उससे समीक्षक आदि के विचार कैसे आगम विरुद्ध हैं इसे समझने में विचारकों को बड़ी सहायता मिली है।

हमारे ऊपर समीक्षक ने जो यह आरोप किया है कि अपने पक्ष की विजय बनाने की दृष्टि से पूरे तीनों दौरों में हमने अपना प्रयत्न चालू रखा था – सो यह समीक्षक का अपना विचार है, उसे पूरे शंका समाधान में अपनी हार दिखायी देती है, इसलिये उसने अपना यह मत बना लिया है, जबकि इसमें हार-जीत का कोई सवाल ही नहीं है। इतना अवश्य है कि समीक्षक को जिस रूप में अपने व्यवहार पक्ष को उपस्थित करना चाहिये था उसमें वह असफल रहा। यदि वह व्यवहार पक्ष को व्यवहार पक्ष मानकर ही उपस्थित करता और निश्चय पक्ष के खण्डन के चक्कर में न पड़ता तो पूरी तत्त्वचर्चा का रूप ही दूसरा होता। हमें दुःख इसी बात का है कि वह पक्ष को उपस्थित करने में असफल रहा।

हमने (पृष्ठ-६ में) न तो कहीं आगम के अर्थ को बदलने का प्रयत्न किया है और न ही कहीं उसका दुरुपयोग ही किया है। पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष – यह तो चर्चा के समय उस पक्ष के द्वारा अपनायी गयी नीति के कारण ही बन गये थे। वस्तुतः यदि वह तत्त्वचर्चा के तीसरे दिन अपने पक्ष के द्वारा उपस्थित की गयी शंकाओं को दोनों ओर की सामान्य शंका न बनाता और न ही प्रथम दिन की 6 शंकाओं के हमारे द्वारा दिये गये उत्तर को पूर्व पक्ष मान कर उन पर लिखे गये प्रति-शंकाओं को प्रत्युत्तर न बनाता तो सम्भव था कि हमारे पक्ष द्वारा भी अपर पक्ष के सामने कतिपय शंकाएं उपस्थित की जातीं; परन्तु उस पक्ष द्वारा अपनाई गयी नीति के अनुसार ही ऐसा लगा कि अपर पक्ष, हमें अन्त में हारा हुआ सिद्ध करने के अभिप्राय से ही पूरी तैयारी के साथ यहाँ आया है, तब हमें अवश्य ही पूरी चर्चा में सावधान रहना पड़ा।

समीक्षा पृ.-६ के प्रारम्भ में समीक्षक का जो यह कहना है कि उत्तर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में जिस आगम की पग-पग पर दुहाई दी है उसका उसने बहुत से स्थानों पर साभिप्राय अनर्थ भी किया है। जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है कि पद्मनन्दि पंचविंशतिका 23-7 का उसने पूर्व पक्ष का मिथ्या विरोध करने के लिये जान-बूझ कर विपरीत अर्थ करने का प्रयत्न किया है।

सो इस सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि समीक्षक ने प्रेरक कारण मानकर उसका जो यह लक्षण किया है कि प्रेरक निमित्त वे हैं, जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं। साथ ही ऐसे निमित्तों की सहायता को वह भूतार्थ मानता है। इतना ही नहीं समीक्षक उपादान का लक्षण पर्याययुक्त द्रव्य न करके मात्र द्रव्य (सामान्य) ही करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह (समीक्षक) "द्वयकृती लोके विकारो भवेत" इस वचन के अनुसार संसार रूप कार्य को उपादान और भूतार्थ कार्य मानता है। हम क्या करें, उक्त बातें लिखकर हमने उसकी कथनी का ही भण्डाफोड़ किया है स्पष्ट किया है।

यह एक बात हुई, दूसरी बात यह है कि समीक्षक अनेक जगह कर्ता के अर्थ में विवक्षित क्रिया का कर्ता अर्थ नहीं करता है। उदाहरणार्थ समीक्षा पृष्ठ १३ में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की समीक्षक ने जो कारिका उद्धृत की है उसमें "परिणमंन्ते" क्रिया का अर्थ परिणमित होते हैं यह न करके परिणमते हैं यह करना चाहिये। इससे भी यही ध्वनित होता है कि समीक्षक उपादान का अर्थ नहीं करता है फिर भी वह अपनी भूल नहीं स्वीकार करता — यह उसकी हठ है।

(२) शंका १, दौर १, समीक्षा का समाधान

समीक्षक का कहना है कि आपने प्रथम दौर में जो समयसार गाथा ८१ को उपस्थित कर उसका अर्थ किया है उसमें आपने बौद्धिक भूल की है। आगे उसका खुलासा करते हुए वह लिखता है कि उस गाथा के प्रथम पाद का यह अर्थ होना चाहिये "जीव कर्म गुण को नहीं करता" और आपने उसके स्थान में यह किया है कि "जीव कर्म में विशेषता को (पर्याय को) उत्पन्न नहीं करता" ऐसा अर्थ करना ही आपकी बौद्धिक भूल है सो हमसे कहाँ भूल हुई यह बात हम अभी तक नहीं समझ पाये। समीक्षक ने जहाँ "कम्मगुणे" का अर्थ "कर्म गुण को" यह किया है वहाँ हमने कर्म

'विशेपता को' (पर्याय को) यह किया है । दोनों अर्थ एक समान हैं, क्योंकि यहाँ पर गुण शब्द का अर्थ विशेषता अर्थात् पर्याय ही ली गयी है । समीक्षक ने "गुण" शब्द की जगह "गुण" शब्द रख दिया है । इसमें भूल हमारी कहाँ हुई ? हमने "गुणे" शब्द का अर्थ सप्तमी विभक्ति परक कहाँ किया है ? द्वितिया विभक्तिपरक ही तो किया है । यदि ऐसी व्यर्थ की टीकाओं से वह समीक्षा का कलेवर न भरता तो यह अच्छी वात होती ।

प्रथम शंका के समाधान में इन गाथाओं की वड़ी उपयोगिता है । इन गाथाओं से ही तो हमें यह मालूम पड़ता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है । काल प्रत्यासत्तिवश बाह्य द्रव्य तो उसमें मात्र निमित्त होता है । ऐसा लगता है कि नय विभाग से दिये गये हमारे समाधान को समीक्षक सहन नहीं कर सका, क्योंकि उसे नय विभाग के विना दिया गया समाधान ही इष्ट था । अन्यथा वह ऐसे समीचीन समाधान को अवश्य ही स्वीकार कर लेता ।

समीक्षक चाहता है कि निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध को भूतार्थ रूप से कार्यकारी माना जाय । सो उसकी परमार्थसे कार्यकारिता तो तव ही वन सकती है, जव वह निमित्त के स्थान में समर्थ उपादान होकर अन्य द्रव्य के कार्य करने में वह अकिंचित्कर ही रहता है । इसे समीक्षक जितने जल्दी स्वीकार करेगा उतनी ही उससे जैन सिद्धान्त की रक्षा होगी ।

भले ही पूर्व पक्ष की ओर से नय को मुख्य कर प्रश्न नहीं किया गया हो, परन्तु समीक्षक यह जानता है कि पूर्व पक्ष की ओर से जो पृच्छा की गई, वह व्यवहार नय की विपक्षा में ही शंका उपस्थित की गई थी । अतः उत्तर पक्ष ने उनका समाधान परमार्थ को ध्यान में रखकर ही किया था । इसलिये हमने उत्तर पक्ष की ओर से जो भी प्रमाण उपस्थित किये थे, वे सव प्रकृत विपय को स्पष्ट करने में सहायक होने के कारण ही उपस्थित किये थे, अतः प्रकृत में उनकी उपयोगिता सुतरां सिद्ध हैं ।

हमने प्रवचनसार गाथा २/७७ आदि के जो प्रमाण उपस्थित किये थे, वे उस प्रयोजन को ध्यान में रखकर ही उपस्थित किये थे। समीक्षक यदि भूतार्थ रूप से निमित्त की कार्यकारिता स्वीकार नहीं करता तो अवश्य ही यह कहा जा सकता था कि आगम में निमित्त का स्थान सुप्रयोजन किया गया है, परन्तु समीक्षक की रट तो यह रही कि निमित्त को भूतार्थ रूप से कार्यकारी मनवाया जाय । इसलिये विवश होकर हमें इस रूप में उसका निषेध करने के लिये वाध्य होना पड़ा है ।

यदि समीक्षक वाह्य निमित्त को भूतार्थ रूप से कार्यकारी मानने की रट छोड़कर अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से एक द्रव्य के कार्य में अन्य द्रव्य की निमित्तता को स्वीकार करता है और इस आधार पर उसकी (वाह्य निमित्त की) उपयोगिता स्वीकार करता है या वाह्य निमित्त कथन को इस अपेक्षा प्रयोजनीय मानता है तो ऐसा मानने में हमें क्या आपत्ति है । इतना अवश्य है — जितनी भी आगम में वाह्य निमित्त की चर्चा है, वह यह दिखलाने के लिए ही है कि निमित्त परमार्थ से कार्यकारी न होकर वह मात्र उपचरित कथन है, उसको सहायक मानना यथार्थ नहीं है । वाह्य व्याप्तिवश अन्य वस्तु में अन्य कार्य के समय उपचार से हेतुपना अवश्य स्वीकार किया जाता है, परन्तु वह (वाह्य वस्तु) परमार्थ से कार्य की साधक नहीं होती है । जो उसकी

(निमित्त कथन की) कार्यकारिता का निषेध करते हैं। वाह्य निमित्त को यदि शंकाकार कार्य का सूचक होने से उपयोगी अर्थात् कार्यकारी या सहायक मानना चाहता है तो ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

(३) शंका १, दौर २, समीक्षा का समाधान :

हमने, द्वितीय दौर में पूर्व पक्ष ने जितने प्रमाण उपस्थित किये थे, उनको ५ (पांच) भागों में विभक्त कर, उन पर क्रमशः विचार किया था। यहाँ उसके द्वारा प्रत्येक भाग पर समीक्षा के नाम जो कुछ लिखा गया है, उस पर फिर से विचार किया जाता है।

प्रथम भाग के आधार पर शंका-समाधान

इस चर्चा में वाह्य निमित्त को दो भागों में विभक्त किया गया है विस्त्रता निमित्त और प्रायोगिक निमित्त। तथा इनके समर्थन में सर्वार्थसिद्धि और इष्टोपदेश की टीका के प्रमाण दिये थे। साथ ही यह स्पष्ट कर दिया था कि ये दोनों ही प्रकार के निमित्त कार्य के प्रति उदासीन ही होते हैं। अब यहाँ शंका यह है कि समीक्षक जो दोनों प्रकार के निमित्तों को भूतार्थ रूप से सहायक मान रहा है और उपादान का कार्य न करने के कारण हमारे द्वारा दोनों प्रकार के निमित्तों को जो भूतार्थ रूप से सहायक नहीं माना जा रहा है – इन दोनों विकारों में कौन वाह्य समीचीन है, इसकी यहाँ समीक्षा करनी है —

दोनों प्रकार के बाह्य निमित्तों के लक्षण

यद्यपि हम अपने समाधान में उक्त दोनों प्रकार के निमित्तों के लक्षण दे आये हैं – "एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा द्रव्य के कार्य में निमित्त होते हैं और दूसरा वे जो चाहे क्रियावान् द्रव्य हों और चाहे अक्रियावान् द्रव्य हों, परन्तु जो क्रिया के माध्यम से निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्यों के समान अन्य द्रव्यों के कार्य में निमित्त होते हैं।" (स. प्र. १३)

ये उस समय प्रसंग से हमारे द्वारा किये गये दोनों प्रकार के निमित्तों के लक्षण हैं। समीक्षक ने उक्त दोनों निमित्तों के जो लक्षण दिये हैं, वे इस प्रकार हैं,—"प्रेरक निमित्त वे हैं जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं और उदासीन निमित्त वे हैं जिनकी कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करतो हैं।"[2]

अपने इन लक्षणों में अन्तर दिखाते हुए समीक्षक लिखता है कि अनुकूल निमित्तों का सहयोग मिलने पर उपादान की विवक्षित कार्यरूप परिणति होना और जब तक अनुकूल निमित्तों का सहयोग प्राप्त न हो तब तक उनकी (उपदान की) विवक्षित कार्य रूप परिणति न हो सकना, यह निमित्तों के साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं। तथा उपादान को अपना सहयोग प्रदान करना और उपादान जब तक अपनी कार्यरूप परिणति होने की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं करता, तब तक उनका (निमित्तों का) अपनी तटस्थ स्थिति में बना रहना यह निमित्तों की कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं। इनमें से पहिले प्रकार की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियों का सद्भाव जिन निमित्तों में पाया जावे, वे प्रेरक निमित्त कहलाने योग्य हैं और दूसरे प्रकार की अन्वय

और व्यतिरेक व्याप्तियों का सद्भाव जिन निमित्तों में पाया जावे, वे उदासीन निमित्त कहलाने के योग्य हैं। यतः पहिले प्रकार की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियों का सद्भाव प्रेरक निमित्तों में पाया जाता है, अतः उनके (प्रेरक निमित्तों के) वल पर कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है और यत दूसरे प्रकार की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियों का सद्भाव उदासीन निमित्तों में पाया जाता है, अतः उनके (उदासीन निमित्तों के) वल पर कार्य आगे-पीछे तो नहीं किया जा सकता, फिर भी उनका सहयोग उपादान की कार्यरूप परिणति में अवश्य रहा है।" (स. पृ.-१३)

आगे समीक्षक ने अपने दोनों प्रकार के लक्षणों के समर्थन में क्रमशः रेल के इन्जिन और रेल पटरी के उदाहरण उपस्थित किये हैं तथा हमारे द्वारा किये गये दोनों प्रकार के लक्षणों का इस आधार पर निषेध किया है कि उक्त प्रकार के लक्षणों के आधार से दोनों ही निमित्त कार्योत्पत्ति में अकिंचित्कर सिद्ध होते है। जवकि पूर्व पक्ष दोनों ही निमित्तों को कार्योत्पत्ति में पूर्वोक्त प्रकार से कार्यकारी मानता है। (स पृ-१४)

हमारे द्वारा दिए गये लक्षणों के खण्डन में शंकाकार की युक्ति यह है कि उन्हें कार्योत्पत्ति में अकिंचित्कर माना जाता है तो उस काल में उपस्थित अन्य वस्तुओं को भी निमित्त मानने का प्रसंग आ जावेगा। साथ ही समीक्षक द्वारा अपने लक्षणों के समर्थन में यह युक्ति दी है कि दोनों प्रकार के निमित्त उपादान की कार्य रूप परिणति में अपने-अपने ढंग से सहायक होने रूप से यदि कार्यकारी मान लिया जाता है तो इससे कार्योत्पत्ति के अवसर पर उनकी निमित्त रूप से उपस्थिति युक्तियुक्त हो जाती है। साथ ही उनकी कार्य के साथ अपने-अपने से अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियाँ भी बन जाती हैं।"

आगे समीक्षक ने प्रमेयरत्नमाला का उद्धरण उपस्थित करके उपादान के कार्य के प्रति निमित्तों की सार्थकता सिद्ध की है। साथ ही वह निचोड़ को सूचित करते हुए लिखता है — तात्पर्य यह है कि जैनागम में कार्योत्पत्ति की व्यवस्था इस प्रकार स्वीकृत की गयी है कि "उपादान कार्यरूप परिणति होने की स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट पदार्थ तो कार्यरूप परिणत होता है, परन्तु वह तभी कार्यरूप परिणत होता है, जव उसे प्रेरक और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तों का सहयोग प्राप्त हो जाता है। उसको प्रेरक निमित्तों का सहयोग प्रेरकता के रूप में और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तों का सहयोग अप्रेरकता (उदासीनता) के रूप में मिला करता है। इस तरह उपादान कारण, प्रेरक निमित्त कारण और अप्रेरक (उदासीन) निमित्त कारण — इन तीनों के रूप में कारण सामग्री के मिलने पर ही कार्योत्पत्ति (उपादान की कार्यरूप परिणति) होती है।" (स. पृ.-१४)

यहाँ तक हमने यथासम्भव समीक्षक के अभिमत को दिखलाने का प्रयत्न किया है। आगे उसे ध्यान में रखकर विचार किया जाता है —

यहाँ समीक्षक ने स्वकल्पित बाह्य निमित्त के दो लक्षण दिये हैं (स. पृ.-१३) वस्तुतः विवक्षित कार्य के साथ जिस बाह्य पदार्थ की त्रिकाल व्याप्ति होती है, उसमें आगम के अनुसार निमित्त व्यवहार किया जाता है और उस कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है, इसी बात को ध्यान में रखकर स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभूस्त्रोत में इस सिद्धान्त की घोषणा की है —

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६॥

श्लोकार्थ :—भगवन् ! आपके सभी कार्यों में वाह्य और अभ्यन्तर उपाधि की समग्रता रहती है। यह द्रव्यगत स्वभाव है ऐसा स्वीकार किया है। अन्यथा संसारी जीवों की मोक्ष विधि नहीं वन सकती, इस कारण ऋषिस्वरूप आप वुद्धिमान पुरुषों के लिये वन्दनीय हैं।

कार्य-कारण भाव का यह अकाट्य मियम है जिसकी स्वामी समन्तभद्र ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है। अव सवाल यह है कि कौन कार्य किस विधि से सम्पन्न होता है, किसमें किस की मुख्यता रहती है ? इसमें तो कोई विवाद नहीं कि प्रत्येक कार्य में दोनों की समग्रता रहती है। विवाद मुख्यता और गौणता का है। साथ ही नियत उपादान हो और उसका निमित्त हो या उपादान अनेक योग्यता वाला हो और निमित्त उनमें से किसी एक कार्य का साधक हो या विवक्षित कार्य का नियत उपादान मौजूद हो और उसकी वाधक सामग्री उपस्थित हो जाय तो कार्य होगा या नहीं और होगा तो वह किसके अनुसार होगा ? इस प्रकार विवाद के अनेक मुद्दे हैं, जिन पर यहाँ साँगोपाँग विचार करना है। साधारणतः सभी कार्यो के जितने भी वाह्य निमित्त स्वीकार किए जाते हैं, वे दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं — एक वे, जो त्रैकालिक बाह्य व्याप्तिवश अपनी क्रिया द्वारा निमित्त होते हैं और एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा निमित्त नहीं होगा, मात्र विवक्षित कार्य के साथ त्रैकालिक व्याप्ति को देखकर उनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। इतना अवश्य है कि वाह्य निमित्त किसी भी प्रकार का क्यों न हो, उपादान के कार्य रूप परिणति के काल में त्रैकालिक व्याप्तिवश उसका होना आवश्यक है। यह एक निश्चित नियमवद्ध व्यवस्था है, जिसे ध्यान में रखकर ही स्वामी समन्तभद्र ने भगवान् परम भट्टारक तीर्थङ्कर देवाधिदेव के कथन को अनुस्मरण करते हुए "वाह्येतरोपाधि……"इत्यादि कारिका निवद्ध की है।

(२) इस वियम को ध्यान में रखने पर तो यही निश्चित होता है कि जितने भी कार्य होते हैं उतने ही उनके समर्थ या नियत उपादान होते हैं। उपादान अनिश्चित हो या उपादान अनेक योग्यता वाला हो और निमित्त के आधार पर उसमें कार्य की उत्पत्ति होती हो ऐसा आगम में कहीं बतलाया नहीं गया है। अन्यथा उपादान से होने वाले कार्य के साथ उनकी निमित्तों की वाह्य व्याप्ति नहीं वन सकती। यहाँ कारण है कि आगम में नियत प्रति नियत उपदान का लक्षण दृष्टिगोचर होता है —

अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को उपादान कहते हैं।

यहाँ जिसे नियत उपादान कहा गया है उसकी आगम में दूसरी संज्ञा प्रागभाव है। अष्टसहस्री में आचार्य विद्यानन्द इसे ध्यान में रखकर लिखते हैं —

ऋजुसूत्रनयापर्णाद्धि प्रागभावस्तावत् कार्यस्योपादानपरिणाम एवं पूर्वोनन्तरात्मा। न चैतस्मिन् पूर्वानादि-परिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसंगः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात् (पृ.-१००)

यह उपादान उपादेयभाव की निश्चित व्यवस्था है। शंकाकार इस व्यवस्था को न मानकर अपनी इच्छानुसार उपादान उपादेयभाव की व्यवस्था करने पर तुला हुआ है — यही उसकी भूल है।

अब उक्त प्रमाण का अर्थ देते हैं—

ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से तो पूर्व अनन्तर (अव्यवहित) पर्याय ही प्रागभाव कहलाता है, और ऐसा होने पर कार्य के पूर्व परिणाम की अनादि सन्तति में कार्य के सद्भाव का प्रसंग नहीं प्राप्त होता, क्योंकि प्रागभाव के विनाश में ही कार्यरूपता स्वीकार की गई है ।

यह आगम वचन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा कार्य से अव्यवहित पूर्व पर्याय का नाम प्रागभाव है। समर्थ पर्यायार्थिक निश्चय उपादान भी उसी का नाम है।

(३) यदि समीक्षक कहे कि हमने उपादान को जो अनेक योग्यता वाला लिखा है वह व्यवहारनय से ही लिखा है, सो उसका ऐसा लिखना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि व्यवहार नय से उपादान अर्थात् प्रागभाव का लक्षण लिखते हुए आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्री में कहते हैं —

व्यवहारनयार्पणात्तु मृदादिद्रव्यं घटादेःप्रागभाव इति वचनेऽपि प्रागभावस्वभावता घटस्य न दुर्घटा, यतो द्रव्यस्याभावासंभवान्न जातु चिदुत्पत्तिर्घटस्य स्यात्, कार्य-रहितस्य पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य घटादिप्रागभावरूपतोपगमात्, तस्य च कार्यो-त्पत्तौ विनाशसिद्धेः कार्यरहितविनाशमन्तरेण कार्यसहितयोत्पत्त्योगमात् कार्योत्पत्ते-रेवोपादानात्मकप्रागभावक्षयस्य वक्ष्यमाणत्वात् । (पृ.—१००)

व्यवहारनय की मुख्यता से तो मिट्टी आदि द्रव्य घटादि कार्यो का प्रागभाव है ऐसा कथन करने पर भी प्रागभाव की अभावस्वभावता घट की दुर्घट नहीं है, जिससे कि द्रव्य का अभाव सम्भव न होने से कभी भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी यह कहा जावे, क्योंकि जिनागम में पूर्व काल-विशिष्ट कार्यरहित मिट्टी आदि द्रव्य घटादि कार्यों की प्रागभावरूपता स्वीकार की गई है और उसका कार्य की उत्पत्ति होने पर विनाश होना सिद्ध है, क्योंकि कार्यरहित मिट्टी आदि द्रव्य आदि का विनाश हुए विना कार्यसहित रूप से उसकी उत्पत्ति नहीं बन सकती। कार्य की उत्पत्ति ही उपादान स्वरूप प्रागभाव का क्षय है यह आगे कहेंगे ही।

(4) इस प्रकार उभयनय की युगपत् विवक्षा में अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त मिट्टी ही घटका उपादान सिद्ध होने पर उससे अव्यवहित उत्तर समय में नियत घट की ही उत्पत्ति होगी। वहाँ कुंभ-कार के योग और उपयोग (विकल्प) के वल पर अन्य सकोरादि कार्यो की किसी भी अवस्था में उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये समीक्षक ने प्रेरक निमित्त का जो यह लक्षण किया है कि "प्रेरक निमित्त वे हैं जिसके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं" ठीक नहीं है, क्योंकि प्रेरक निमित्तों के बल पर वह (समीक्षक) नियत उपादान से नियत कार्य की उत्पत्ति होती है इस सिद्धान्त का अपलाप कर देना चाहता है। चाहे कार्यों के साथ बाह्य निमित्तों की अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियाँ कही जायें और चाहे बाह्य निमित्तों के साथ नियत कार्यों की अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियाँ कहीं जावें, दोनों ही अवस्थाओं में नियत उपादान से ही नियत कार्यों की उत्पत्ति होती है, यह निश्चित है। आगम में समर्थ उपादान कारण का जो लक्षण दिया गया है वह इस नियम का उल्लंघन नहीं करता। आगम प्रमाण सहित समर्थ उपादान का लक्षण हम पहले दे ही आये हैं।

परीक्षामुख के इस सूत्र से भी उपादान के इस लक्षण की पुष्टि होती है; यथा —

"पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्चः क्रमभावः" (अ.३ सू १८)

पूर्व और उत्तरचारी में तथा कार्यकारण में क्रमभाव नियत अविनाभाव होता है।

(४) यहाँ पर कार्य-कारण भाव का कथन करते समय, उससे उपादान-उपादेय भाव का ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि जितने भी बाह्य निमित्त होते हैं उनका सद्भाव आगम में कार्यकाल में ही किया गया है; जैसे जब क्रोध कषाय कर्म का उदय होता है उसी समय क्रोध परिणाम होता है।

यद्यपि कषाय कर्म चार हैं, उनमें से किस कषाय कर्म का उदय हो उसकी व्यवस्था एक समय पूर्व बन जाती है, वही उदयरूप कषाय कर्म का उपादान है। और इसके उदयकाल में आत्मा भी स्वयं उस कषाय रूप परिणम जाता है। यहाँ हमने कर्म के उदय की मुख्यता से कषाय परिणाम का विचार किया है, इसी बात को यदि आत्मा को मुख्य कर के कहा जावे तो ऐसा कहा जावेगा कि जिस समय आत्मा क्रोध कषाय रूप परिणाम करता है उसी समय क्रोध कषायकर्म का उदय होता है। इस प्रकार इन दोनों में समव्याप्ति है। काल प्रत्यासत्ति इसी का दूसरा नाम है।

अतः समीक्षक का यह कहना, कि प्रेरक निमित्त के अनुसार कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है, जिनागम के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि बाह्य निमित्तों की सत्ता उपादान काल में ही मानी गयी है, ऐसी अवस्था में प्रेरक निमित्तों के बल पर कार्य का आगे-पीछे किया जाना कैसे संभव हो सकता है?

(५) बाह्य निमित्त और कार्य एक काल में होते हैं, इसकी पुष्टि छहढाला के इस वचन से भी होती है—

सम्यक् साथे ज्ञान होय पै भिन्न अराधो।
लक्षण श्रद्धा जान दुहू में भेद अबाधो॥

सम्यग्दर्शन निमित्त कारण है, और सम्यग्ज्ञान कार्य है, फिर भी ये दोनों एक समय में युगपद् होते हैं, फिर भी ये दो हैं—क्योंकि सम्यग्दर्शन का लक्षण श्रद्धा है और सम्यक्ज्ञान का लक्षण ज्ञान है, यह इन दोनों में बाधा रहित भेद है।

जैसे जिस समय क्रोध कषाय का उदय होता है उसके एक समय पूर्व उदयावलि में स्थित उस समय शेष ३ कषायों के कर्म परमाणु स्तिवुकसंक्रमण द्वारा स्वयं क्रोध कर्मरूप परिणम जाते हैं — ऐसी व्यवस्था है।

(६) केवल पर्याय उपादान नहीं होती और न केवल द्रव्य ही उपादान होता है, किन्तु विकसित पर्याययुक्त द्रव्य ही अगली पर्याययुक्त द्रव्य का उपादान होता है। इस तथ्य का समर्थन तत्वार्थश्लोकवार्तिक के इस वचन से भी होता है —

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनम। तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तो, पर्यायमात्र निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत्। (त. श्लो., त. चि. पृ.-५१५)

सम्यग्दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा सम्यग्दर्शन है। वह विशिष्ट ज्ञान परिणाम की उत्पत्ति का उपादान है, क्योंकि केवल पर्यायमात्र और केवल जीवादि द्रव्यमात्र उपादान नहीं हो सकता। जैसे कि कछुए के (असत् रूप) रोम आदि किसी के उपादान नहीं होते।

इसप्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक कार्य का (जो कि प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय में होता है) नियत उपादान होता है और कार्यकाल में उसके नियत बाह्य निमित्त होते हैं। यह आगम परम्परा है। इसी आधार पर जिनागम में ईश्वरवाद का निषेध किया गया है, क्योंकि जिनागम के अनुसार सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं और उनके परिणाम भी स्वतन्त्र हैं। यही कारण है कि जिनागम में एक द्रव्य की विवक्षा में भी कर्ता का स्वरूप कर्म निरपेक्ष स्वतन्त्र माना गया है और इसी प्रकार कर्म का स्वरूप भी कर्तृ निरपेक्ष स्वतन्त्र माना गया है। केवल इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष अवश्य किया जाता है।[1] जब कि जिनागम के अनुसार कार्य-कारणभाव की यह व्यवस्था है, ऐसी अवस्था में कार्य परमार्थ से बाह्य निमित्त सापेक्ष माना जाय, यह किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं है। तथा इसी प्रकार उपादान का स्वरूप उपादेय निरपेक्ष होता है और उपादेय का स्वरूप उपादान निरपेक्ष होता है। मात्र इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष अवश्य किया जाता है। आगम की इस व्यवस्था को ध्यान में रखने पर जिनागम में प्रेरक निमित्त कारण हो यह सिद्ध नहीं होता।

कार्यों की अपेक्षा बाह्य निमित्तों में भेद नहीं

खानिया तत्त्वचर्चा में हमने इसे (प्रेरक नाम के निमित्त को) केवल शाब्दिक प्रयोग के आधार पर ही स्वीकार किया था। और इसीलिये इष्टोपदेश टीका के आधार पर कार्यकाल में उसको (प्रेरक निमित्त को) उदासीन निमित्त के समान उल्लिखित कर दिया था। इतना अवश्य है कि आगम में प्रायोगिक और विस्रसा इन दो शब्दों का निमित्त कारणों के अर्थ में अवश्य प्रयोग हुआ है। जो बुद्धि निरपेक्ष दैव सापेक्ष कार्य होते हैं, उन्हें विस्रसा कार्य कहते हैं। यह आगम की व्यवस्था है। यथा —

बंधोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोगभेदात् ॥१०॥
बंधोऽपि द्वैविध्यमश्नुते। कुत: ? विस्रसाप्रयोगभेदात् वैस्रसिकः प्रायोगिकश्चेति।
[तत्वार्थवर्तिक अ—५—सू—२४]

विस्रसा व प्रयोग के भेद से बंध भी दो प्रकार का है (१०)

विस्रसा और प्रयोग के भेद से बंध भी द्विविधता को प्राप्त होता है। यथा — वैस्रसिक और प्रायोगिक।

यहां पुरुषार्थ निरपेक्ष के अर्थ में विस्रसा शब्द का प्रयोग हुआ है तथा जीव के मन-वचन-काय के संयोग को प्रयोग कहते हैं और प्रयोग पूर्वक होने वाले कार्यों को प्रायोगिक कहते हैं।

---

१. नहि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्वप्रसंगात्। नापि कर्तृव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः। (अष्टसहस्री का० ७५)

प्रायोगिक कार्य दो प्रकार के होते हैं — अजीव सम्बन्धी और जीवाजीव सम्बन्धी। प्राणियों के द्वारा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति पूर्वक अजीव सम्बन्धी जितने कार्य होते हैं, वे अजीव विषयक प्रायोगिक कार्य कहलाते हैं। तथा जीव के द्वारा जो कर्म और नोकर्म का ग्रहण होकर जो सम्बन्ध बनता है, वे जीवाजीव विषयक प्रायोगिक कार्य कहे जाते हैं। इनके सिवाय जीवों के मन-वचन और काय को निमित्त न करके अन्य जितने भी कार्य होते हैं, वे सब विस्रसा कार्य कहलाते हैं। इतना अवश्य है कि प्राणियों के पुरुषार्थपूर्वक जितने कार्य होते हैं, उनमें दैव की गौणता रहती है[1] और दैव की मुख्यता से जितने कार्य होते हैं उनमें पुरुषार्थ[2] की गौणता रहती है। यह जिनागम की सम्यक् व्यवस्था है। [तत्त्वार्थ वार्तिक अ० ५ सू० २४, आप्तमीमांसा का० ९१]

इस प्रकार इतने विवेचन से हम पहले विवक्षित कार्य और बाह्य निमित्त को ध्यान में रखकर जो अनेक विकल्प लिख आये हैं उन सबका निराकरण होकर केवल एक यही विकल्प प्रकृत में आगम सम्मत ठहरता है कि प्रतिसमय नियत उपादान से नियत कार्य की ही निष्पत्ति होती है और बाह्य व्याप्ति या कालप्रत्यासत्तिवश इस कार्य के नियत निमित्त होते हैं। इसी बात का समर्थन कर्मशास्त्र की समग्र प्ररूपणा से भी होता है। यथा—जिस समय कर्म का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होता है उसी समय औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव भी होते हैं, इनमें समय भेद नहीं है। इसी प्रकार जिस समय इस जीव के दर्शनमोह और चारित्रमोह निमित्तक जीव का जो भाव होता है, उसी समय उसको निमित्तकर कर्मबन्ध भी होता है। इसमें भी समय भेद नहीं है। इस प्रकार कार्य और उसके निमित्त — ये दोनों यद्यपि एक काल में होते हैं; फिर भी यह इनके निमित्त से हुआ ऐसा निमित्त-नैमित्तक व्यवहार इन दोनों में बन जाता है। और यही कारण है कि इसे उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से स्वीकार किया गया है। जहां दोनों एक क्षेत्र में परस्पर अवगाहित होकर होते हैं, वहाँ उपचरित असद्भूत का व्यवहार होता है तथा जहाँ ये दोनों क्षेत्र भेद से होते हैं, वहाँ अनुपचरित असद्भूत व्यवहार होता है। यद्यपि बाह्य निमित्त से अन्य द्रव्य का कार्य नहीं होता, फिर भी यह इससे हुआ या इसने इसे किया ऐसा व्यवहार किया जाता है। यही कारण है कि आगम में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का विषय स्वीकार किया गया है।

अर्थ विपर्यास—

यहाँ समीक्षक ने समयसार की "जं कुणई भावमादा" गाथा ९१ तथा पुरुपार्थसिद्ध्युपाय की "जीवकृतं परिणामं" कारिका १२ को स० पृ० १७ में उद्धृत कर उनसे प्रेरक निमित्तों को सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है। जबकि समयसार की उक्त गाथा में इतना ही कहा गया है कि जिस समय जीव अपने भाव करता है उसी समय पुद्गल कर्मवर्गणाएं स्वयं कर्मस्वरूप परिणम जाती हैं। तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की कारिका द्वारा "जीव के द्वारा किये गए भावों को निमित्त कर कर्मवर्गणायें स्वयं ही कर्मरूप परिणम जाती है" यह कहा गया है। ऐसी अवस्था में

---

१. पुराकृतं कर्म योग्यता च दैवम्। अष्ट स. का. १०१

२. पुरुषार्थः पुनः इहिचेष्टिकृत मदष्टम्। अष्ट स. का. १११।

इन उद्धरणों को प्रेरक निमित्त के अर्थ में उपस्थित करना समीक्षक के अर्थविपर्यास को सिद्ध करता है।

दूसरे इन उद्धरणों का अर्थ करते समय इनसे प्रेरक निमित्तों के समर्थन के अभिनय से समीक्षक ने जो "परिणमदे" और "परिणमन्ते" इन क्रियाओं का क्रम से जो यह अर्थ किया है "कर्मरूप परिणत होता है" और "कर्मरूप से परिणत होते हैं।" सो इससे समीक्षक के द्वारा किये गये इस अर्थ को अर्थविपर्यास की संज्ञा दी जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि वास्तव में उन दोनों क्रियाओं का क्रम से अर्थ होता है—"परिणमन करता है या परिणमता है" तथा "परिणमन करते हैं या परिणमते हैं।" उसी प्रकार "स्वयं" पद के अर्थ करने में भी समीक्षक ने अपनी मान्यता को पुष्ट करने का असफल प्रयत्न किया है, क्योंकि यहां "स्वयं" पद का अर्थ "आप ही" है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पुद्गल कर्मवर्गणायें विना किसी दूसरे की सहायता के स्वयं कर्मरूप परिणम जाती हैं। दूसरे की सहायता से परिणमती है, यह असद्भूत व्यवहार है।

उपसंहार [स० पृ० १८]

(१) इस प्रकार उपसंहार के रूप में हम यहां उत्तर स्वरूप इतना ही कहना चाहते हैं कि आगम में शब्द प्रयोगों के अर्थ को बदलकर तत्त्व का निर्णय न किया जाकर वस्तु स्वरूप के आधार पर तत्त्व का निर्णय किया जाना योग्य है और यही जिनागम का सार है।

(२) नैयायिक दर्शन भी निमित्तों को स्वीकार करता है। उसने ईश्वर को इसी रूप में स्वीकार किया है तथा जैन दर्शन भी निमित्तों को स्वीकार करता है। परन्तु इन दोनों के दृष्टिकोण में जो मौलिक अन्तर है उसे देखते हुये समीक्षक लौकिक कार्यों में जैन दर्शन के दृष्टिकोण को छोड़कर नैयायिक दर्शन के दृष्टिकोण को अपना लेता है। इतना ही नहीं वह (समीक्षक) मोक्ष कार्य को स्वपर प्रत्यय स्वीकार करके भी उस मोक्ष कार्य को भी पर सापेक्ष स्वीकार कर लेता है। वस्तुतः देखा जाय तो नैयायिक दर्शन का दृष्टिकोण भी यही है। जैन दर्शन तो कार्य का मुख्य कर्त्ता उपादान रूप उस वस्तु को ही स्वीकारता है। जहां स्वभाव को गौण कर परभाव को कर्त्ता मानकर कार्य का विधान किया जाता है, उसे ही लौकिक दृष्टि कहा जाता है, किन्तु जहां पर परभाव को कर्त्ता न मान कर स्वभाव पर दृष्टि रखकर कार्य का विधान किया जाता है उसको ही अलौकिक या जैन दृष्टि कहते हैं। आशय यह है कि संसार के कार्यों में अज्ञानी के सदा दृष्टि में परावलम्बन की मुख्यता रहती है और मोक्ष कार्यों में ज्ञानी की दृष्टि में सदा स्वावलम्बन की मुख्यता रहती है। फिर भी एक द्रव्य परमार्थ से दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं होता यह निश्चित है। इसी बात को ध्यान में रखकर स्वामी समन्तभद्र ने "**बाह्यतरोपाधि**"··· इत्यादि कारिका निबद्ध की है। इसलिये लौकिक कार्यों को पर सापेक्ष कहा जाता है और मोक्षकार्यों को पर निरपेक्ष कहा जाता है यह जिनागम की संगति है। इसे समीक्षक जब भी हृदयंगम करेगा उसका हम स्वागत करेंगे।

तत्त्वविमर्श में भय का कोई कारण नहीं [स०पृ० १९]

(१) जब हम यह भले प्रकार जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य के स्वचतुष्टय जुदे-जुदे हैं। ऐसी अवस्था में एक द्रव्य का स्वचतुष्टय दूसरे द्रव्य के स्वचतुष्टय में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता। कहा भी है—

नहि स्वतोऽसती शक्ति कर्तु मन्येनर्य पाते।

आत्मख्याति टीका समय सार, गाथा ११९–१२०

(२) तीनों कालों के जितने समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं, ऐसी अवस्था में उपादान को अनेक योग्यता वाला मानना कदापि सम्भव नहीं है। आगम में भी ऐसा वचन नहीं मिलता, जिससे उपादान अनेक योग्यता वाला होता है इसका समर्थन हो।

(३) तीसरे द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप होता है। इस अपेक्षा से विचार करने पर जैसे प्रत्येक द्रव्य ध्रौव्य स्वरूप स्वतः है, उसी प्रकार वह उत्पाद और व्ययस्वरूप भी स्वतः है और स्वरूप किसी के द्वारा किया नहीं जा सकता यह वस्तुस्थिति है। इसलिए मनुष्यगति नाम कर्म के उदय से जीव मनुष्य हुआ या अमुक निमित्त से अमुक कार्य हुआ या इसने अपने से भिन्न दूसरे का कार्य कर दिया इत्यादि कहना या लिखना मात्र प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा या लिखा जाता है। परमार्थ से तो जिस पर्याय का जो स्वकाल है, उस समय पूर्व पर्याय का व्यय होकर उत्तर पर्याय का उत्पाद स्वयं होता ही है यह उपादान उपादेय भाव की स्वयं सिद्ध व्यवस्था है।

(४) प्रवचनसार की दोनों टीकाओं में द्रव्य को उत्पाद व्यय-ध्रुवस्वरूप सिद्ध करने के लिए लटकते हुए हार का उदाहरण दिया है।

हार में डोरा अन्वय (ध्रौव्य) का प्रतीक है और मणि उत्पाद-व्यय के प्रतीक हैं। जैसे हार में जिस स्थान पर जो मणि हैं उसे वहां से हटाया नहीं जा सकता, वैसे ही अन्वय में जिस पर्याय का जो स्वकाल है वहां से उसे अलग नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य है कि जैसे एक मणि पर से अंगुली उससे अगले मणि पर रखने पर पिछला मणि गौण हो जाता है और अगला मणि मुख्य वैसे ही विवक्षित एक पर्याय का व्यय होने पर उसी समय उससे अगली पर्याय का नियम से उत्पाद होता है। निमित्त से उसमें क्रमभंग होना सम्भव नहीं है।

(५) नियत कार्य का नियत प्राग्भाव (उपादान) होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय नई-नई पर्याय उत्पन्न होती है यह कथन नहीं बन सकता। इसलिए भी प्रत्येक पर्याय अपने उपादान के अनुसार होती है यह सिद्ध होता है। बाह्य निमित्त तो मात्र उसका सूचक या ज्ञापक होता है। तात्पर्य यह है कि कार्य की विवक्षा में सूचक होता है और जानने की विवक्षा में ज्ञापक होता है; उसमें जो कारणपने का व्यवहार करते हैं उसे मात्र उपचरित ही जानना चाहिए।

(६) यदि कार्य की प्रतिवन्धक सामग्री उपस्थित रहती है तो इससे वह कार्य नहीं होता यह जो परीक्षामुख के एक सूत्र में कहा गया है, सो वह विवक्षित कार्य की अपेक्षा से ही कहा गया है,

तदतिरिक्त कार्य की अपेक्षा से नहीं । यदि इसे सिद्धान्त मान लिया जाय तो जबतक वह प्रतिबन्धक सामग्री बनी रहेगी, तब तक उस द्रव्य को अपरिणामी मानना पड़ेगा । किन्तु ऐसा है नहीं, अतः परीक्षामुख में जो प्रतिबन्धक सामग्री का कथन आया है वह विवक्षित कार्य की अपेक्षा से नहीं ऐसा यहां निश्चय करना चाहिये । वस्तुतः जिसे हम प्रतिबन्धक कारण कहते हैं वह विवक्षित कार्य के अतिरिक्त उस समय अपने उपादान के अनुसार होने वाले कार्य का निमित्त ही है ।

(७) चाहे लौकिक कार्य हो या पारमार्थिक कार्य हो, कार्य किसी भी प्रकार का क्यों न हो, दोनों प्रकार के ही कार्य बाह्य और अभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में होते हैं, इसमें सन्देह नहीं । इन दोनों प्रकार के कार्यों में जो भेद होता है वह दृष्टिकोण के भेद से ही भेद होता है । लौकिक दृष्टि वाला अज्ञानी होता है । वह पर से अपने कार्य की सिद्धि मानता है, इसलिए परलक्ष्यी होने से वह पर की उठाधरी में अपने को लगाये रखता है । जब कि पारमार्थिक दृष्टि वाला ज्ञानी होता है, वह अन्य कार्य की सिद्धि में सुनिश्चित स्वभाव को साधक जानकर बुद्धि में उसका आलम्बन लेकर स्वभावभूत आत्मा की भावना करता है । इस प्रकार जितने भी कार्य होते हैं वे अपनी-अपनी कारक सामग्री की समग्रता में नियत उपादान के अनुसार नियत समय में ही होते हैं ऐसा वह जानता है, इसलिए आकुलित नहीं होता । कदाचित् कषाय का उद्रेक होता है तो वह उसे अपना दोष-जान कर उसे शान्त करने का यत्न करता है ।

यहाँ अभी तक जो लिखा गया है, यह उसका सार है जो सबके लिये मार्गदर्शक है ।

कोई भी बाह्य निमित्त हो वे अन्य द्रव्य का कार्य करते ही नहीं

समीक्षक पृष्ठ २० में "निमित्तों का कार्य में प्रवेश संभव क्यों नहीं और निमित्तों का कार्य में प्रवेश अनावश्यक क्यों" इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत समीक्षक ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे पूरे वस्तुस्वरूप पर प्रकाश डालने में असमर्थ हैं, क्योंकि जिन्हें हम निमित्त कहते हैं वे विवक्षित द्रव्य के कार्य के काल में स्वयं उपादान होकर अपने ही कार्यों के कर्ता होते हैं, इसलिए न तो उसका विवक्षित कार्यों में उन कार्यों के स्वचतुष्टय बनकर प्रवेश होता है और न वे परमार्थतः विवक्षित कार्यों की उत्पत्ति में सहायक ही हो सकते हैं उनमें एक काल-प्रत्यासत्तिवश या बाह्यव्याप्तिवश सहायकपने या विवक्षित कार्यों के हेतु-कर्त्ता बनने का व्यवहार अवश्य किया जाता है जो उपचरित होने से असद्भूत ही होता है ।

योग्यता से तात्पर्य

समीक्षक ने पृ० २२ (समीक्षा) में 'योग्यता से' वस्तु की नित्य उपादान शक्ति को ग्रहण किया है, सो उसका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि न तो केवल अन्वयरूप द्रव्य ही उपादान होता है और न केवल पर्याय ही, परमार्थ से पर्याय युक्त द्रव्य ही कार्य का उपादान होता है । यहां शंकाकार ने प्रमेयकमलमार्तण्ड का जो उदाहरण उपस्थित किया है, उसके इस वचन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि पर्याय शक्ति से युक्त द्रव्य शक्ति ही विशिष्ट कार्य को जन्म देती है ।

"पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्ट पर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः"

हमने अर्थ करने में कोई भूल नहीं की

समीक्षक ने (स० पृ० २३ में) इष्टोपदेश के अर्थ को लेकर जो विवाद खड़ा किया है वह योग्य नहीं प्रतीत होता। इष्टोपदेश श्लोक का तीसरा चरण इतना ही है—"निमित्तमात्रमन्यस्तु"। इस चरण में अन्य निमित्त मात्र इतना ही कहा गया है। सवाल यह है कि जो भी निमित्त होगा वह किसी कार्य का तो निमित्त होगा ही। अतएव "विवक्षित कार्य का" इतना वाक्यांश अपने आप फलित हो जाता है। वह विवक्षित कार्य कुछ भी हो सकता है। यहां [स० पृ० २४] समीक्षक ने निमित्त का अर्थ सहकारी कारण किया है सो उपचार से ऐसा अर्थ करने में आगम में कोई बाधा नहीं आती।

"नन्वेवं" इत्यादि पदों का समीक्षक ने जो अर्थ लिया है, वह उसकी केवल बुद्धि का व्यायाम मात्र ही है। निष्कर्ष रूप में यहाँ यह समझना चाहिये—

१. पृ. २६ के आधार पर निमित्त किसी प्रकार का भी क्यों न हो, वह कार्य का व्यापार करने के प्रति उदासीन ही होता है।

२. निमित्त अन्य के कार्य का व्यापार नहीं करता — इस अपेक्षा से वह परका कार्य करने में अकिंचित्कर ही है।

३. योग्यता द्रव्य रूप भी होती है और पर्यायरूप भी होती है, दोनों के मिलने पर उनके अनुसार नियम से कार्य होता है — यह जिनागम का सार है।

स. पृ. १७ में समीक्षक ने स. पृ. २२ में दिये गये 'प्रमेय कमलमार्तण्ड' के उद्धरण का जो आशय फलित किया है, वह उसकी अपनी सूझ है, क्योंकि पर्याय के उत्पत्तिकाल में ही काल प्रत्यासत्तिवश अन्य में निमित्त व्यवहार किया जाता है — ऐसा आगम का नियम है। कोई किसी को खींचकर नहीं लाता, ऐसा व्यवहार अवश्य होता है।

स. पृ. २६ में अष्टसहस्रीगत अष्टशती में यह वचन आया है —

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् (पृ. १०५)

यह वचन भट्टाकलंकदेव ने मीमांसकों के प्रति उपालम्भ के रूप में प्रयुक्त किया है, क्योंकि मीमांसक शब्द को सर्वथा नित्य मानता है, फिर भी तालु आदिका आलम्बन लेकर शब्द की प्रवृत्ति भी स्वीकार करता है। उसके ऐसे दुराग्रहपूर्ण मन्तव्य को ध्यान में रखकर ही भट्टाकलंकदेव ने उलाहने के रूप में उससे यह वचन कहा है कि "शब्द के सर्वथा नित्य होने के कारण उसके कार्यरूप में न हो सकने रूप असामर्थ्य का खण्डन न करते हुए सहकारी कारण क्या अकिंचित्कर ही बना रहता है ?"

सो यहां सामने प्रतिपक्ष है, उसके एकान्त मत का खण्डन किया जा रहा है, इसलिये उसके एकान्त मत के खण्डन को ध्यान में रखकर आचार्यदेव ने यह वचन कहा है। अतः ऐसे वचन को ध्यान में रखकर समीक्षक ने जो अपने इष्टार्थ को फलित करना चाहा, वह योग्य नहीं है। शब्दों के प्रयोग में तालु आदि निमित्त होते ही हैं, और वे उपचार से सहकारी कारण भी कहे जाते हैं, यह

स्वपक्ष की बात है। परपक्ष की दृष्टि में कौन उपचरित कथन है और कौन अनुपचरित कथन है इस विवेचना में पड़ने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होता। यहां तो आचार्य को मीमांसक के ऐकान्तिक मत का खण्डन करना इष्ट था। इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य ने अष्टशती के उक्त वचन का प्रयोग किया है।

आगम का कथन स्पष्ट है

स. पृ. २७ में समीक्षक ने "समाधान पक्ष के दृष्टिकोण का अन्य प्रकार से निराकरण" शीर्षक के अन्तर्गत सर्वार्थसिद्धि (अ. ५ सू. ७) का उद्धरण देकर जो अपनी इच्छानुसार अर्थ फलित किया है, उसे उनकी ही अप ी स्वतन्त्र कल्पना कहना चाहिये, क्योंकि हम यह पहले ही बतला आये हैं कि सर्वत्र स्वप्रत्यय परिणमन का अर्थ स्वभाव पर्याय लिया गया है और स्वपर प्रत्यय परिणमन का अर्थ विभाव पर्याय लिया गया है। यद्यपि स्वप्रत्यय परिणमन में बाह्य निमित्त अवश्य होता है, पर उसकी वहां दृष्टि में गौणता रहती है। इतना अवश्य है कि षड्गुणी हानि और षड्गुणी वृद्धि में से एक काल में कोई एक हानि या कोई एक वृद्धि नियम से होती है। तब कौन हानि होती है और कौन वृद्धि होती है इसका निश्चय नियम होकर भी वह हमारी प्रत्यक्ष बुद्धि का विषय नहीं है। कार्य के आधार पर अनुमान अवश्य समर्थ उपादान के आधार पर किया जा सकता है।

(स. पृ. २९) मिट्टी का अन्वय सदाकाल पाया जाता है। घट के फूटने पर भी मिट्टी का अन्वय बना रहता है। यहां मिट्टी अन्वय के रूप में विवक्षित है, कुशून का अन्वय सदाकाल बनता नहीं है, इसलिये घट में कुशूल का अन्वय नहीं कहा जाता है इतना समीक्षक को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। अतः ऐसी बातें लिखकर व्यर्थ के कलेवर को बढ़ाना योग्य प्रतीत नहीं होता। विवाद का मुद्दा तो इतना ही है कि कार्य होते समय बाह्य वस्तु में जो निमित्तता स्वीकार की गयी है, वह निमित्तता उसमें भूतार्थ है या उपचार से कही जाती है। आगम के अनुसार तो वह उपचरित ही मानी गयी है। यही हमारा लिखना भी है और कहना भी है। आगम से भी इसका समर्थन होता है, वह आगम है समयसार गाथा १०६, १०७ और १०८ आदि।

यदि कहा जाय कि उक्त गाथा में अन्य द्रव्यों के कार्य भूतार्थ से अन्य द्रव्य करते हैं इसका निषेध किया है, इससे निमित्त के सहायक होने का निषेध कहां हुआ। तो इस पर हमारा कहना यह है कि यदि जब अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्य के रूप परिणमने की परमार्थ से क्रिया नहीं कर सकता, जैसा कि समयसार गाथा १०७ से स्पष्ट ज्ञान होता है, तो फिर उसे अन्य द्रव्य के कार्य का सहायक कहना यह उपचार से ही तो बनेगा, भूतार्थ से उसे सहायक कहना यह आगम के नाम पर अपने विचारों को चलाना ही तो कहलायेगा।

पृ. २४ (स.) में गुणस्थानों की चर्चा करते हुए जो द्वादश आदि गुणस्थानों की उत्पत्ति के जिन निमित्तों का उल्लेख किया सो उनका हमने तो निषेध किया नहीं। हमारा कहना तो इतना ही है कि बारहवां आदि गुणस्थानों की उत्पत्ति का मूल कारण तो उपयोग में स्वभाव के आलम्बन से रत्नत्रय का सद्भावरूप परिणमना ही है। जब यह जीव आत्म पुरुषार्थ को जाग्रत कर रत्नत्रयरूप परिणाम से परिणत होता है. तब स्वयं कर्म की हानि होने लगती है और अंत में मोहनीय और ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वयं क्षय होकर स्वयं ही यह जीव आत्मपुरुषार्थ को जाग्रत कर इन गुणस्थानों को प्राप्त कर

लेता है। फिर भी मोहनीय और ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने से इन गुणस्थानों की प्राप्ति हुई, यह असद्भूत व्यवहार नय से कहा जाता है।"

द्वितीय भाग की समीक्षा के आधार पर

पृ. २९ (स.) में समीक्षक ने उदासीन निमित्त के समान व्यवहार से कहे जाने वाले प्रेरक निमित्तों को व्यवहारहेतु मान लिया है, यह प्रसन्नता की बात है। फिर भी उसका जो यह कहना है कि "प्रश्न प्रेरक और उदासीन निमित्तों को व्यवहारहेतु मानने न मानने के विषय में नहीं है, अपितु प्रश्न यह है कि व्यवहारहेतु होते हुए भी प्रेरक निमित्त को कार्योत्पत्ति में उपादान का सहायक होने रूप में कार्यकारी माना जाय या उसे वहां सर्वथा अकिंचित्कर स्वीकार किया जाय। पूर्वपक्ष तो अपने उक्त कथन में यह भी स्पष्ट स्वीकार कर रहा है कि प्रेरक निमित्त के समान पंचास्तिकाय की गाथा ८७ और ९४ वें की टीकाओं के आधार पर उदासीन निमित्त भी कार्योत्पत्ति में उपादान का सहायक होने से कार्यकारी है, अकिंचित्कर नहीं।" यह समीक्षक का वक्तव्य है। इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि जैसे समीक्षक ने लोक में माने गये दोनों प्रकार के निमित्तो को व्यवहारहेतु रूप में स्वीकार कर लिया है, उसी प्रकार उसे उपादान के कार्यों में व्यवहार से (उपचार से) सहायक भी मान लेना चाहिये था, तो यह विवाद समाप्त हो जाता और समीक्षक इस आधार पर जिनागम के अनुसार उपादान के लक्षण को भी स्वीकार कर लेता और अन्य बातों को भी स्वीकार कर लेता; परंतु उसकी अपनी हठ ही आगम के अनुसार मान्यता बनाने में बाधक हो रही है।

पंचास्तिकाय गाथा ८७ और ९४वे में व्यवहार हेतु की मात्र सिद्धि की गयी है, पर इससे व्यवहार हेतु पर के कार्य की क्रिया करती है यह सिद्ध नहीं होता। इस अर्थ में अर्थात् पर की क्रिया करने में व्यवहार अकिंचित्कर ही है। और इसीलिये पंचास्तिकाय की गाथा ८७ में प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र रूप से अर्थात् पर की सहायता की अपेक्षा किये बिना अपना कार्य करते हैं, इसकी पुष्टि में यह वचन उपलब्ध होता है—

"तत्र जीव पुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ"।

वहाँ जीव और पुद्गल स्वरस से (स्वभाव से ही) गति परिणाम को तथा गति पूर्वक स्थिति परिणाम को प्राप्त होते हैं।

तृतीय भाग की समीक्षा के आधार पर (स. पृ. ३०-३१)

अन्य जीव और द्रव्य अन्य की क्रिया नहीं कर सकता :—

पृष्ट ३० (स.) में भी समीक्षक ने निमित्तों की कार्यकारिता का समर्थन किया है, किन्तु पूर्व में किये गये कथन के समान यहां इतना ही कहना है कि जब वह उपादान के कार्यो में निमित्तों को व्यवहार से ही स्वीकार करता है — ऐसी हालत में उसे उपादान के कार्यों में उनकी (निमित्तों की) कार्यकारिता भी व्यवहार से अर्थात् उपचार से ही स्वीकार कर लेनी चाहिये। यहां जो सहकारी कारण का लक्षण — **"यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहाकारिकारणमितरत् कार्यमिति"** — इस लक्षण से जिन्हें सहकारी कारण कहा गया है, उनमें निमित्तता ही सिद्ध होती है। उससे यह सिद्ध नहीं होता कि जो कार्य का सहकारी कारण कहलाता है, वह उपादान कर्ता के समान उस कार्य की क्रिया करने में समर्थ होता है। मात्र इससे तो इतना ही सिद्ध होता है कि उपादान के

जिस कार्य के साथ अन्य द्रव्य की त्रिकाल बाह्य व्याप्ति होती है, उसमें सहकारी कारण या निमित्त कारण का असद्भूत व्यवहार किया जाता है।

चतुर्थ भाग की समीक्षा के आधार पर

स्वयमेव पद का अर्थ :—

पृ. ३१ (स.) में समीक्षक ने 'स्वयमेव' पद का जो अर्थ 'अपने रूप' किया है, उसमें उसका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि 'उपादान अपने कार्य को निमित्त के सहयोग से ही कर सकता है अन्यथा नहीं', किन्तु 'उपादान से कार्य होता है' यह निश्चयनय का कथन है, जो पर निरपेक्ष होने से उपादान स्वयं ही अपना कार्य करने में समर्थ है, इस अर्थ को सूचित करने के लिये ही प्रवचनसार गाथा १६६ में 'स्वयमेव' पद द्वारा व्यक्त किया गया है। निश्चयनय का लक्षण है :—

स्वाश्रितो निश्चयनयः या अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते इति निश्चयः।

इन लक्षणों को ध्यान में लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय से वस्तु की सिद्धि या प्राप्ति में उपचार को कोई स्थान नहीं है। उपचरित नय अर्थात् व्यवहारनय अवश्य ही पर सापेक्ष होता है, किन्तु निश्चयनय पर सापेक्ष नहीं होता, स्वाश्रित कथन का नाम ही निश्चयनय है ऐसा यहां समझना चाहिये, क्योंकि वह परनिरपेक्ष ही होता है। अतएव 'स्वयमेव' पद का अर्थ 'अपने आप ही' करना योग्य है, अन्य नहीं।

पंचम भाग की समीक्षा के आधार पर

उपचार शब्द का अर्थ :— पृ. ३१ (स.) के अनुसार समयसार गाथा १०५ में जो 'उपचार' शब्द आया है, वह केवल 'अन्य ने अन्य का कार्य किया' या इसी प्रकार का जो अज्ञानियों का विकल्प होता है उसको ही सूचित करता है, परमार्थ को नहीं। अर्थात् वह विकल्प उपचार है, परमार्थ नहीं।

यदि समीक्षक को प्रयत्न करने पर भी प्रथम प्रश्न के उत्तर में 'उपचार' का अर्थ नहीं उपलब्ध हुआ तो यहां अर्थ दे रहे हैं :—

सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते।

निमित्त या प्रयोजन के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है।

इस विषय में अनेक स्थानों पर लिखा जा चुका है, इसलिये विशेष स्पष्टीकरण नहीं कर रहे हैं। नोंक-झोंक करना हमारा काम नहीं, इसका विचार तो उसे ही करना चाहिये जो उपचार कथन को भूतार्थ ही रखकर पाठकों को भ्रम की भूमिका में ला खड़ा करना चाहता है।

जीव भूतार्थ रूप से पुद्गलों का निमित्त कर्ता भी नहीं होता :—आगे इसी पृष्ठ में समीक्षक ने जीव को जो पुद्गल कर्मों का निमित्त कर्ता लिखा है, सो यहां उसे ऐसा लिखना चाहिये था कि जीव पुद्गल कर्मों का उपचार से निमित्त कर्ता है। जहां तथ्यों के आधार पर वस्तु का विचार किया जाता है, वहां नय विभाग को आधार बनाकर ही लिखा-पढ़ा जाना चाहिये।

'मुह्यते' पद का अर्थ :— 'मुह्यत इति मोहनीयम्' इसका अर्थ जीव द्वार चूलिका ११ में 'जिसके द्वारा मोहित हो वह मोहनीय कर्म है' यह किया गया है। उसे देखकर ही हमने अपने उत्तर

में भूल से वही अर्थ कर दिया था, जबकि यह प्रयोग कर्मकारक में है, अतः वहां उस प्रकार का संशोधन कर लेना हमें इष्ट है।

निमित्त अकिंचित्कर क्यों है, इसका अर्थ :— पृ. ३२ (स.) में समीक्षक ने जो यह लिखा है 'परन्तु इससे निमित्त को अकिंचित्कर नहीं सिद्ध किया जा सकता है' सो उसका ऐसा लिखना तभी उपयोगी माना जा सकता था, जब वह निमित्त के सहयोग को पूरी तरह अभूतार्थ स्वीकार कर लेता। हमने यदि कहीं उसे अकिंचित्कर लिखा भी है तो यहां 'निमित्त उपादान मिलकर उपादान के कार्य को करने की क्रिया करता है' इस अर्थ में अकिंचित्कर लिखा है जो ठीक है।

४. शंका १. दौर ३. समीक्षा का समाधान

तृतीय दौर में भी हमने पूर्वपक्ष की शंका का जो समाधान किया था, उसे वह समीक्षक की भूमिका स्वीकार करके भी उस पर टिककर नहीं रह सकता, यह हमें ही नहीं, सभी को खेद जनक लगेगा। साथ ही जो उसने हम पर कल्पित लांछन लगाने का दुष्प्रयत्न किया है, वह और भी खेदजनक है।

उसने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए नयविभाग का विचार किये विना जो यह लिखा है कि 'वस्तु की विकारी परिणति दूसरी वस्तु का सहयोग प्राप्त होने पर ही होती है, उसका सहयोग प्राप्त हुए विना अपने आप नहीं हो जाती' सो उसका एकान्त से ऐसा लिखना और मानना यही विवाद की स्थिति है। कदाचित् उपचार से ऐसा कहा जाय तो भले ही कहा जाय, परन्तु विना नयविभाग के तत्त्वविमर्श के समय ऐसा लिखना और मानना जैनदर्शन को मटियामेट करने के सिवाय और कुछ भी नहीं है, क्योंकि कार्यकाल में एक वस्तु दूसरी वस्तु को भूतार्थ रूप से सहयोग देती है — ऐसी मान्यता ही जब अज्ञान का फल है, ऐसी हालत में उसे जैन दर्शन बतलाना जैन दर्शन को मटियामेट करने के सिवाय और क्या हो सकता है?

पूर्व पक्ष का मूल प्रश्न इस रूप में था—

"द्रव्यकर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नही?"

उत्तरपक्ष की ओर से मूल प्रश्न का हमारे द्वारा दिया गया उत्तर समीचीन था। हमने तीसरे दौर में इसका उत्तर दूसरे दौर के आधार पर इस प्रकार दिया था—

"संसारी जीव के विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण में कर्मोदय व्यवहार से निमित्तमात्र है, मुख्य कर्ता नहीं।" (त. च. पृष्ठ ३६)

यह तो विचारक ही देखेंगे कि हमारे द्वारा नयविभाग से दिया गया यह उत्तर समीचीन होते हुए भी समीक्षक की भूमिका स्वीकार करके भी वह यह लिखने से नहीं चूकता कि "यह हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं है।"

यद्यपि उक्त प्रश्न कौन नय से किया गया है, इसका उल्लेख उक्त प्रश्न में नहीं किया गया था, फिर भी यह प्रश्न कौन नय के अन्तर्गत आता है, इसे विस्मृत या उपेक्षित कर उत्तर देना भी तो सम्यक् उत्तर नहीं देता, सिवाय इसके कि वह वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर नयविभाग से इस प्रश्न का समाधान करता है, हमने किया भी वही। ऐसी अवस्था में समीक्षक इसे अपने प्रश्न का

उत्तर नहीं मानना चाहता, इसका हमें आश्चर्य हैं। शायद वह सभी प्रश्नों के समाधानों को नय-विभाग के विना गोलमाल रखना चाहता था, तभी तो वह वारवार "यह हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं है" – यह लिखकर समाज को भ्रम में रखना चाहता है। यह समीक्षक का विडम्बना भरा माहोल पैदा करना है। और फिर उल्टा हम पर आरोप करते हुए यह लिखना कि "विडम्बना यह है कि इस दौर में उसने पूर्वपक्ष पर अनेक कल्पित आरोप लगाये हैं और उनके आधार पर पूर्वपक्ष की यद्वातद्वा आलोचना की है।" (स. पृ ३३) सो यह उसकी कोरी कल्पना मात्र है। न तो हमने उसपर कोई आरोप लगाया है और न ही हमने उसकी आलोचना की है। कोई और तो और उसका यह कहना है कि पर की सहायता के विना कार्य नहीं होता और दूसरी ओर उसका आगम से झूठा समर्थन कराने का प्रयत्न करना। फिर भी यह लिखा जाय कि यह उपचार से ही कहा जा सकता है तो इस पर यह लिखना कि यह हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं है तो इसे विडम्बना नहीं तो और क्या कहा जाय ?

शंकाकार द्वारा किये गये असमीचीन अर्थ का निराकरण

(१) 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' रूप से स्वीकृत उक्त वचन के अनुसार यद्यपि समीक्षक दो वस्तुएं मिलकर एक विकार परिणति रूप होती है, इसे तो नही मानते, इसे हम स्वीकार करते, पर वह यह तो मानता ही है कि "वस्तु की विकारी परिणति दूसरी वस्तु का भूतार्थ से सहयोग प्राप्त होने पर ही होती है, उसका सहयोग प्राप्त हुए विना अपने आप नहीं हो जाती।" तो उसकी ऐसी मान्यता ही मुख्य रूप से विवाद का विषय बनी हुई है।

(२) पहले समीक्षक 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की इस गाथा को उद्धृत करके उसका अर्थ भी लिख आया है। यथा —

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलः कर्मभावेन ।। १२ ।।

उसके द्वारा किया हुआ अर्थ इस प्रकार है : –

जीव द्वारा कृत परिणाम को निमित्तरूप से प्राप्त कर अन्य पुद्गल वहां स्वयं (अपनी-योग्यता के अनुसार) कर्मरूप से परिणत होते हैं।

हम इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं —

जीवकृत परिणाम को निमित्त मात्र प्राप्त कर यहां अन्य पुद्गल कर्मरूप से स्वयं ही (अन्य की सहायता के विना) परिणमन करते हैं।

यहां विवाद के मुद्दे दो हैं – प्रथम "स्वयमेव" पद का अर्थ और दूसरा "परिणमन्ते" क्रिया का अर्थ।

समीक्षक "स्वयमेव" का अर्थ स्वयं ही (अपने आप ही) नहीं करना चाहता और इसलिये उसने यहां इसका अर्थ किया है "अपनी योग्यतानुसार, दूसरे "परिणमन्ते" क्रिया का अर्थ" परिणमते हैं" नहीं करना चाहता, इसलिये उसने इसका अर्थ किया है — "परिणत होते हैं।"

इस प्रकार ये दो अर्थ हैं। अब सर्वप्रथम किसका किया हुआ अर्थ समीचीन है – इस बात का यहां विचार करना है। उसमें भी सर्वप्रथम "स्वयमेव" पद का जो अर्थ समीक्षक ने किया है, वह

ठीक है कि हमने जो अर्थ किया है वह ठीक है यह देखना है। इसके लिये हम समयसार गाथा १२१ से १२५ तक की टीका को उद्धृत कर रहे हैं :

यदि कर्म स्वयमेवबन्ध: सन् जीव: क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत् स किलापरिणाम्येव स्यात्। तथा सति संसाराभाव: अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्क: । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीव क्रोधादिभावेन परिणामयेत? न तावत्स्वयमपरिणममाण: परेण परिणामयितुं पार्येत। न हि जगत शक्तय: परमपेक्षन्ते। ततो जीव: परिणामस्वभाव: स्वयमेवास्तु तथा सति गरुडध्यान परिणत: साधक: स्वयं गरुड इव ज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोग: स एव स्वयं क्रोधादि: स्यात् इति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम्।

यह समयसार आत्मख्याति टीका का वचन है। इसमें जीव का परिणाम स्वभाव सिद्ध किया गया है। जीव परिणामस्वभाव स्वंय है, किसी के कारण वह परिणामस्वभाव नहीं है। जब जीव स्वयं परिणामस्वभाव है तो प्रतिक्षण स्वंय ही वह अपने उत्पाद-व्ययरूप परिणाम को प्राप्त करता है अन्यथा ध्रौव्य के समान उत्पाद-व्यय लक्षण नहीं बनता।

अन्य द्रव्य के समान जीव का यह सामान्य लक्षण है, जो आत्मभूत होने से उसका ही अपना स्वरूप सिद्ध होता है। और स्वरूप पर द्वारा किया जाता नही, इस अपेक्षा से आगम में उसे स्वंयसिद्ध स्वीकार किया गया है। अष्टसहस्री पृ० २०७ मे कहा भी है —

"स्थित्यादित्रयस्य समुदितस्य वस्तुत्वव्यवस्थानात्"

स्थिति आदि तीन मिलकर वस्तु है ऐसी व्यवस्था है। सत् भी इसी का नाम है। कहा भी है —

"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" (त० सू०)

जीव अजीव का भेद किये बिना यह प्रत्येक वस्तु का सामान्यस्वरूप है। जीव का विशेष लक्षण ज्ञान-दर्शन है, यह अपने अनन्त विशेष गुणों का प्रतिनिधित्व करता है। इस द्वारा जीव द्रव्य का अन्य द्रव्यों से व्यतिरेक सिद्ध होता है। इस प्रकार जिसमें ज्ञानरूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का अन्वय पाया जाता है, वह जीव है, यह हमारे अनुभव में आये बिना नही रहता।

इस प्रकार विवेक बुद्धि से देखने पर प्रत्येक जीव स्वयं उत्पाद है, स्वयं व्यय है और स्वयं ध्रौव्य है। इन तीनों में लक्षण भेद से भेद है और वस्तुपने की अपेक्षा अभेद है। साथ ही इस दृष्टि से देखने पर जो उत्पाद है वही कथंचित् व्यय है और कथंचित् ध्रौव्य है। जो व्यय है, वही कथंचित् उत्पाद है और कथंचित् ध्रौव्य है। तथा जो ध्रौव्य है, वही कथंचित् व्यय है और कथंचित उत्पाद है। इसी विषय को भगवत्स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्ददेव परम भट्टारक तीर्थंकरदेव भगवान महावीर की दिव्यध्वनि के सार को हृदयंगम करते हुऐ प्रवचनसार मे लिखते हैं —

ण भवो भंगविहीणो भंगोवा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगोवा विणा धोव्वेण अत्थेण। १००॥

उत्पाद भंगरहित नही होता और भंग उत्पाद के विना नहीं होता तथा उत्पाद और भंग ध्रौव्य के बिना नही होते।॥

न खलु सर्ग : संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारो स्थिति-मन्तरेण, न स्थिति सर्गसंहारमन्तरेण । य एव हि सर्गः स एव सहारः, य एवं संहारः स-एव सर्गः, यावेव सर्ग-संहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति ।

वास्तव में उत्पाद व्यय के विना नही होता, व्यय उत्पाद के विना नही होता, उत्पाद और व्यय ध्रौव्य के विना नही होते तथा ध्रौव्य उत्पाद और व्यय के विना नही होता, क्योंकि जो उत्पाद है, वही व्यय है जो व्यय है, वही उत्पाद है, जो उत्पाद और व्यय, है वे ही ध्रौव्य है, जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है ।

इस प्रकार आगम प्रमाण, तर्क और अनुभव से देखने पर प्रत्येक जड़ और चेतन वस्तु त्रयात्मक है । प्रति समय वस्तु का यह स्वरूप है, उसे किसी ने वनाया नही । किसी कारण से वह वनी या कारण विशेष ने उसे वनाया है ऐसा भूतार्थ से मानना ही जैनदर्शन में ईश्वरवाद का प्रवेश है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु ने प्रति समय स्वंय ही विवक्षित स्वभाव से स्वभावान्तर को स्वीकार किया । इस प्रकार इसी अर्थ को सूचित करने में कारण द्रव्य को स्वीकार किया गया है । वह विवक्षित कार्यरूप परिणमनेवाले द्रव्य से मिलकर कार्यरूप परिणमनेवाले द्रव्य की क्रिया नही करता वस्तुतः वह (कारण द्रव्य निमत्त कारण) स्वयं अपनी क्रिया करता है ।

विविक्षित कार्यरूप परिणमनेवाले द्रव्य की क्रिया करता है, ऐसा यदि कहा जाता है, तो वह असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है, फिर कार्यकाल में वाह्य व्याप्तिवश प्राप्त हुऐ अन्य पदार्थ में कालप्रत्यासत्तिवश निमित्त व्यवहार तो होता है ।

काल प्रत्यासत्तिवश हो निमित्त मे कारण व्यवहार होता है

आगम में सम्वन्ध को विवक्षा में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सम्वन्ध को चार प्रकार का स्वीकार किया गया है । इसी वात को स्पष्ट करते हुऐ श्री भट्टाकलंकदेव अष्टसहस्री पृष्ठ १११ में लिखते है ।

"न हि कस्यचित् केनचित् साक्षात्परंपरया वा सम्वन्धो नास्तिताल्पाल्त्व प्रसंगात्" ।

किसी का किसी के साथ साक्षात् या परमपरा से सम्वन्व नही है ऐसा नहीं कहा जा सकता, अन्यथा उसे शून्यपने का प्रसंग आता है ।

द्रव्य प्रत्यासत्ति लक्षण सम्वन्ध — जैसे, गुण और गुणी में या पर्याय और पर्यायवान् में द्रव्यप्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध है । इससे यह व्यवहार होता है कि इस गुणी का यह गुण है और इस पर्यायवान् की यह पर्याय है यदि इसमें साक्षात्तादात्म्यलक्षण संवन्ध नहीं माना जाता है तो जैसे स्वतंत्र द्रव्य और पर्याय का अभाव प्राप्त होता है । वैसे ही समस्त गुण और पर्यायों से रहित द्रव्य का भी अभाव प्राप्त होता है ।

क्षेत्र प्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध — जैसे चक्षु रूप में इस नाम का सम्वन्ध है । यदि उक्त दोनों में यह सम्बन्ध नही माना जाता है तो अयोग्य देश में स्थित रूप का चक्षु द्वारा जैसे ज्ञान नहीं होता, वैसे ही योग्य देश में स्थित रूप का भी चक्षु द्वारा ज्ञान नहीं हो सकेगा ।

काल प्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध — कारण और कार्यरूप परिणाम में कालप्रत्यासत्तिलक्षण सम्वन्ध है । यदि कारण और कार्य में यह सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया जाता तो अनाभिमत काल में रहने वाले दो पदार्थों में जैसे कार्यकारण भाव नहीं बनता उसी प्रकार अभिमत काल में भी कारण-कार्य भाव का सद्भाव सिद्ध नहीं होने से दोनों का अभाव हो जायगा ।

भावप्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध — यथा-व्याप्ति व्यवहारकालवर्ती धूमादि लिंग और अग्नि आदि लिंगी में भावप्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध है। यदि यह नहीं माना जाता है तो अग्नि आदि लिंगी का धूमादि लिंग के द्वारा अनुमान हो सकने के कारण अनुमान और अनुमेय के असत्त्व का प्रसंग आता है।

इस प्रकार द्रव्यादिप्रत्यासत्ति लक्षण चारों सम्बन्धों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे निमित्त कारण कहा गया है वह केवल कालप्रत्यासत्ति वश उस काल में होने वाले कार्य का सूचक मात्र है। न तो वह उस कार्य का भूतार्थ रूप से सहायक ही है और न ही निमित्त कर्ता ही। ये दोनों मात्र असद्भूत व्यवहार के विषय अवश्य हैं।

प्रेरक निमित्त भूतार्थरूप से अन्य के कार्य के प्रेरक नहीं

(२) समीक्षक जिसे प्रेरक कारण कहता है, वह भी अन्य के कार्यरूप परिणाम क्रिया रूप व्यापार में सहभागी नहीं होता। मात्र वह कार्यद्रव्य से भिन्न रहकर ही अपनी कार्यरूप परिणाम क्रिया रूप व्यापार में प्रवृत्त रहता है। इसी से समयसार गाथा ८६ की आत्मख्याति टीका में यह वचन उपलब्ध होता है—

यथा किल कुलाल: कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्त-मात्मनोव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण: प्रतिभाति, न पुन: कलशकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकाया: अव्यतिरिक्तं मृत्तिकाया: अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण: प्रतिभाति।

जैसे कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादि क्रियारूप) व्यापार परिणाम को, जो कि अपने से अभिन्न परिणति क्रिया से किया जाता है, करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घड़ा बनाने के अहंकार से भरा हुआ होने से भी वह कुम्हार अपने व्यापार के अनुरूप मिट्टी के घट परिणाम को जो कि मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है—करता हुआ प्रतिभासित नही होता।

यह आत्मख्याति का वचन है। इसके अनुसार जिसे समीक्षक प्रेरक कारण कहता है, वह भी अन्य के कार्य का व्यापार करने में स्वयं असमर्थ है और ऐसी हालत में अन्य के कार्य को वह आगे-पीछे कर सकता है, यह केवल समीक्षक की अपनी बुद्धि के व्यायाम के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

जो कार्य का नियत प्रागभाव है वही उपदान है।

(३) ऐसा नियम है कि जो जिस कार्य का नियत प्रागभाव या निश्चय उपादान होता है, उसके अभाव में ही कार्य उत्पत्ति होती है। जैसा कि अष्टसहस्री के इस वचन से सिद्ध है—

"यदभावे हि नियमत: कार्यस्योत्पत्ति: स प्रागभाव:"

जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह प्रागभाव कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि कार्य अपने नियत काल में ही होता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति प्रागभाव में ही होती है और प्रत्येक कार्य का प्रागभाव प्रति समय है अन्यथा कार्य के साथ निमित्त कारण की कालप्रत्यासत्ति नहीं बन सकती। आगे कहे जाने वाले इन वचनों से भी इसकी पुष्टि होती है।

(४) कथंचित् सतः कार्यत्वम्, उपादानस्योत्तरी भवनात् ।

जो कथंचित् सत् है उसमें ही कार्यपना घटित होता है, क्योंकि उपादान का अलगी पर्यायरूप होना इसका नाम कार्य है ।

(५) पहले हम उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य में कथंचित् अभेद सिद्ध कर आये हैं और साथ में यह भी संकेत कर आये हैं कि यदि उत्पाद और व्यय भूतार्थ रूप से अन्य की सहायता से माने जाते हैं, तो पूरी वस्तु ही भूतार्थ से अन्य की सहायता से बनी है यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा, किन्तु ऐसा नहीं है । किन्तु प्रति समय प्रत्येक वस्तु का उत्पाद जो कि पर्याय की अपेक्षा व्यय स्वरूप है, वह अपने उपादान के अनुसार ही होता है । अतः बाह्य निमित्त के अनुसार कार्य (उत्पाद) होता है ऐसा कहना मात्र असद्भूत व्यवहार ही है । इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा कारिका ७५ की अष्टसहस्री टीका में लिखा है—

"उपादानस्य पूर्वकारणेन क्षयः कार्योत्पाद एव हेतोर्नियमात्"

उपादान का पूर्व आकार रूप से क्षय का नाम ही कार्यका उत्पाद है, क्योंकि दोनों में एक हेतु का नियम देखा जाता है ।

(६) पर की अपेक्षा से धर्म या धर्मी की, कर्ता या कर्म की, कारण या कार्य की, प्रमाण या प्रमेय की सिद्धि तो होती है, पर इनमें से किसी भी एक का स्वरूप पर से नहीं बना करता है, वह स्वयं होता है, इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वामी समन्तभद्रदेव आप्तमीमांसा में कहते हैं—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धत्यन्योन्यवीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतोह्येतत् कारकज्ञापकांगवत् ।।७५।।

यद्यपि धर्म और धर्मी का अविनाभाव एक दूसरे की अपेक्षा सिद्ध होता है, परन्तु उनका स्वरूप एक दूसरे की अपेक्षा से नहीं सिद्ध होता, क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है । जिस तरह से कारकांग कर्ता और कर्म तथा ज्ञापकांग प्रमाण और प्रमेय की सिद्धि एक दूसरे की अपेक्षा सिद्ध होती हुई भी उनका स्वरूप स्वतः सिद्ध होता है, अन्य के द्वारा तो बनाया जाता ही नहीं ।

(७) इसीलिए समयसार कलश में आचार्यदेव समयसार कलश में घोषणा करते हुए कहते हैं—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्टया ना यद्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वभावेन यस्मात् ।।२१९।।

तत्त्वदृष्टि से राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाला अन्य द्रव्य किंचितमात्र भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि सब द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में अत्यन्त व्यक्त प्रकाशित होती है ।

ऐसी अवस्था में समीक्षक ही बतावें कि उसके द्वारा माने गये प्रेरक कारण को जिनागम में क्या स्थान रह जाता है, अर्थात् कुछ भी स्थान नहीं रहता । वह मात्र कल्पना का विषय है । इसके सिवाय और कुछ नहीं ।

(८) और इसीलिए ही अमृतचन्द्रदेव ने आत्मख्याति टीका में जीव पुद्गल कर्म को करता है, इस अज्ञान के कारण अनादि काल से चला आ रहा व्यवहार वतलाया है। (देखो समयसार गाथा ८४वीं) कर्मशास्त्र भी इसी अर्थ का समर्थन करता है।

अब थोड़ा कर्मशास्त्र की दृष्टि से भी इस विषय पर विचार कर लिया जाय—

(९) यह सभी शास्त्र स्वीकार करते हैं कि भय, शस्त्रप्रहार, संक्लेश परिणाम और श्वासोच्छवास के निरोध से आयु का विच्छेद हो जाता है। और इसीलिए इन साधनों के वलपर जो मरण होता है, उसे अकाल मरण कहते हैं। कर्मकाण्ड कर्मशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। उसमें भी इस वात का स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। मरण के तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। उनमें से च्यावित मरण की इसी कोटि में परिगणना की जा सकती है। ऐसा होते हुए भी कर्मशास्त्र में आयुकर्म की अपेक्षा क्या व्यवस्था है इस पर थोड़ा दृष्टिपात कर लें—

कर्मशास्त्र के अनुसार ज्ञानावरणादि सात कर्मो का आवाधाकाल स्थिति वन्ध में सम्मिलित रहता है, परन्तु आयुकर्म का वन्ध होते समय उसका आवाधाकाल स्थिति बंध की स्थिति में सम्मिलित न होकर आयुवन्ध के काल में जो भुज्यमान आयु शेष रहती है, तत्प्रमाण होता है।

अव प्रश्न यह है कि जैसे सात कर्मों के आवाधाकाल को परिणाम विशेष से घटाकर मात्र एक आवलिप्रमाण किया जा सकता है, उस प्रकार वध्यमान आयुकर्म के आवाधाकाल को क्या कम किया जा सकता है? अर्थात् जितनी भुज्यमान आयु के शेष रहने पर आगामी भव की आयु का वन्ध होता है, उस शेष रही भुज्यमान आयु को संक्लेश आदि अन्य कारणों के मिलने पर क्या कम किया जा सकता है या शेष रही उस भुज्यमान आयु के पूरा होने पर ही इस जीव का मरण होगा? यह एक मौलिक प्रश्न है। कर्मशास्त्र इस विषय में क्या व्यवस्था देता है, इसे आगमप्रमाण के प्रकाश में देखा जाय—जीवट्ठाण चूलिका अनुयोग द्वार में नरकायु और देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध ३३ सागरोपमप्रमाण वतलाकर उसकी उत्कृष्ट आवाधा पूर्व कोटि के त्रिभागप्रमाण वतलाई गई है।

इस पर यहां यह शंका की गई है कि इस उत्कृष्ट स्थिति की उत्कृष्ट आवावा पूर्व कोटि के त्रिभाग से लेकर आसंक्षेपाद्धा काल प्रमाण तक कोई भी हो सकती है। ऐसी अवस्था में सूत्र में उत्कृष्ट आवाधाकाल पूर्वकोटि के त्रिभाग-प्रमाण ही क्यों कहा गया है?

इसका समाधान करते हुए वतलाया है कि आयुकर्म का जितना स्थिति-वन्ध होता है, उसकी निषेक स्थिति भी उतनी ही होती है। अन्य कर्मो का जितना स्थितिवन्ध होता है, वन्धकाल में उनकी निषेक स्थिति आवाधाकाल प्रमाण कम होती है। अर्थात् स्थितिवन्ध में से आवाधाकाल घटाने पर जो वन्ध स्थिति शेष रहती है, तत्प्रमाण उनकी निषेक स्थिति होती है। उदाहरणार्थ किसी ने १०० समय प्रमाण स्थिति बंध किया, अतः १०० समय में से प्रारंभ के आवावा सम्बन्धी ८ समय कम कर देने पर उसकी निषेक स्थिति ९२ समयप्रमाण शेष रहेगी।

किन्तु आयुकर्म का जितना स्थिति-वन्ध होता है, उतनी ही उसकी निषेक स्थिति होती है। आवाधाकाल आयुबन्ध काल से अलग भुज्यमान शेष रही स्थिति प्रमाण होता है। यहाँ आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थिति-वन्ध लाना है, इसलिए ३३ सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति-बंध है उससे पूर्व कोटि का त्रिभाग अलग है। इसका अर्थ यह हुआ कि उस जीव ने ३३ सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिवन्ध ही

किया। पूर्व कोटि का त्रिभाग उसमें सम्मिलित नहीं है। इस प्रकार इस बात को बतलाने के लिए ही यहाँ सूत्र में उत्कृष्ट आबाधा पूर्व कोटि का त्रिभागप्रमाण ही कही है।

अब सवाल यह है कि जिस जीव ने भुज्यमान आयु के पूर्व कोटि का त्रिभाग शेष रहने पर (आबाधाकाल को सम्मिलित कर) ३३ सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबन्ध किया है, वह आबाधाकाल के पूरा होने पर ही मरेगा या बीच में ही विषभक्षण आदि से पूर्व कोटि के त्रिभाग शेष रही भुज्यमान आयु को घटाकर कभी भी मर सकेगा। सवाल महत्व का है, इसका समाधान करते हुए आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि कहते हैं—

आबाधा ॥ २४ ॥ ध० पु० ६ पृ० १६८

वह आबाधाकाल सब प्रकार की बाधाओं से रहित है।

इसी बात को धवला में इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है—

पुव्वुत्तावाधाकालब्भंतरे णिसेयट्ठिदीए वाधा णत्ति। जधणाणावरणादीणं आबाधापरूव-सुत्तेण बाधाभावो सिद्धो, एवमेत्थवि सिज्झदि, किमट्ठविदियवारमावाधाउच्चदे? ण; जधा णाणा-वरणादि समयपबद्धाणं वंधावलियवदिक्कंताणं ओकड्डण-परपयडिसंकमादीहि वाधाभावपरूवणहं विदयवारमावाधा णिद्देसादो।

पूर्वोक्त आबाधाकाल के भीतर विवक्षित किसी भी आयुकर्म की निषेक स्थिति में बाधा नहीं होती।

शंका—जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कार्यो की आबाधा का प्ररूपण करनेवाले सूत्र से बाधा का अभाव सिद्ध है, उसी प्रकार यहाँ पर भी बाधा का अभाव सिद्ध होता है, फिर दूसरी बार "आबाधा" सूत्र किसलिए कहा?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार ज्ञानावरणादि के समयप्रबद्धों का बन्धावलि के व्यतीत हो जाने पर आकर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण होकर बाधा होती है, उस प्रकार आयुकर्म में अपकर्षण और परप्रकृति संक्रम आदि के द्वारा बाधा का अभाव है—यह प्ररूपण करने के लिए दूसरी बार "आबाधा" सूत्र का निर्देश किया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मो का बन्ध होने पर बन्धावलि काल के बाद उसका अपकर्षण होकर आबाधाकाल को भरा भी जाता है और अन्य सजातीय कर्म में संक्रम भी होता है। वह स्थिति आयु कर्म में नहीं उत्पन्न होती, कारण कि एक आयुकर्म का दूसरे आयुकर्म में एक तो संक्रम नहीं होता, दूसरे भुज्यमान आयु के रहते हुए आगामी रूप में उदय में आनेवाली आयु का उदय पूर्व कोटि के त्रिभाग के व्यतीत होने पर ही हो सकेगा, इसीलिए आगामी भव की आयु का बन्ध होने के बाद ही भुज्यमान आयु की आगामी भव सम्बन्धी आयु के बन्ध के समय, जितनी भुज्य-मान आयु की निषेक स्थिति शेष है, उसके समाप्त होने पर ही उसका उदय होगा, यह निश्चित हो जाता है। इसलिए इस दृष्टि से विचार करने पर अकाल मरण नाम की कोई वस्तु नहीं है, यह निश्चित होता है।

यह तो कर्मशास्त्र के अनुसार एक हेतु है, जिससे समीक्षक द्वारा माने गये प्रेरक कारण का पूरी तरह से निषेध होता है।

(१०) प्रेरक कारण के निषेध का दूसरा कारण नियत उपादान से नियत कार्य की स्वीकृति है ।

यह समीक्षक भी जानता है कि आगम में अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य को उपादान और अव्यवहित उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य को कार्य रूप में स्वीकार किया है । नियत उपादान और उसके आधार पर होने वाले नियत कार्य की यह श्रृंखला अनादिकाल से चली आ रही है । इसलिए इस आधार पर ही शंकाकार के द्वारा मानी गई न केवल प्रेरक कारण की मान्यता का खण्डन हो जाता है, अपितु इस आधार पर उसकी "उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, अतः इस आधार पर कार्य आगे पीछे कभी भी किया जा सकता है" इस मान्यता का भी खण्डन हो जाता है । उपादान के लक्षण का और उससे होने वाले नियत कार्य का स्पष्टीकरण हम क्रमांक ५ में कर आये हैं ।

हमारा लिखना छलपूर्ण नहीं—हमने जो यह लिखा है कि "संसारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण में द्रव्यकर्म का उदय निमित्तमात्र है, उसका मुख्य कर्ता तो स्वयं आत्मा है।" सो हमारा यह लिखना इसलिए छलपूर्ण नहीं, क्योंकि जिनागम ऐसा ही है और आगे हमने जो यह लिखा है कि जिस-जिस समय जीव क्रोधादिभावरूप से परिणत होता है, उस-उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्म के उदय की कालप्रत्यासत्ति होती है सो यह भी लिखना सही है, क्योंकि क्रोधभाव का जब जीव मुख्य कर्ता है तो उसने स्वयं ही वह कार्य किया है । और हमने जो यह लिखा है कि उस-उस समय द्रव्यकर्म के उदय की काल प्रत्यासत्ति होती है सो इसका यह अर्थ है कि द्रव्यकर्म का उदय उस-उस समय उपचार से निमित्त होता है, क्योंकि कार्य और निमित्त में काल प्रत्यासत्ति ही स्वीकार की गई है । देखो अष्टसहस्री पृष्ठ १११

बाह्य निमित्त को सहकारी कहना उपचार से ही सम्भव है—बाह्य-निमित्ति अन्य के कार्य में सहकार करता है, सो यहाँ सहकार का समीक्षक क्या अर्थ करता है यह उसने कहीं भी स्पष्ट नहीं किया । उसने कार्य की उत्पत्ति होने पर सहकार को भूतार्थ अवश्य कहा है और स० पृ० २० में समीक्षक ने "कार्य की उत्पत्ति में निमित्ति होता ह" ऐसा स्वीकार करने मात्र को "कार्य की उत्पत्ति में निमित्त की कार्यकारिता स्वीकार की है" । इस प्रकार कार्य की उत्पत्ति में निमित्त को दो प्रकार से समीक्षक स्वीकार करता है–

(१) कार्य की उत्पत्ति में निमित्त सहायक है या उसकी सहायता से कार्य की उत्पत्ति होती है यह मानना भूतार्थ है । स० पृ० ५

(२) कार्य की उत्पत्ति में बाह्य निमित्त है, इसप्रकार कार्य की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य निमित्त है, इसका अर्थ ही यह निमित्त का कार्यकारीपना मानता है । स० पृ० ५

इन दोनों बातों का क्रम से समाधान किया जाता है–

(१) यह तो आगम स्वीकार करता है कि आगम में जितना भी नयकथन किया गया है, वह प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर ही किया गया है । इष्टार्थ की सिद्धि ही नय कथन का मुख्य प्रयोजन है, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती ।

ऐसी अवस्था में जब समीक्षक निमित्त कारण को अयथार्थ कारण मानता है, तब, उसे उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से यह भी मान लेना चाहिये कि वह अन्य द्रव्य के कार्यरूप परिणमनरूप क्रिया को भूतार्थ से नहीं कर सकता, अतः वह परमार्थ से अन्य द्रव्य के परिणमन-

रूप क्रिया के करने में अकिञ्चित्कर ही है। ऐसी अवस्था में अन्य द्रव्य की परिणमनरूप क्रिया के करने में सहायता करता है, यह कहना भूतार्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

समीक्षक ने स० पृ० ६ में हमसे यह भी पूछा है कि "वह यहाँपर उक्त रूप सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है और संसारी आत्मा द्रव्यकर्मोदय के निमित्त हुए बिना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणरूप परिणमन करता रहता है।"

सो इसके उत्तर में जब शास्त्रकार ही चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणाम स्वभाव के कारण प्रत्येक समय में विद्यमान परिणाम का व्यय कर अगले परिणाम-रूप अपने आप ही परिणमता है, उसमें कोई अन्य द्रव्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता; किन्तु समीक्षक इस प्रसंग से आगम में आये हुए "स्वयमेव" पद का अर्थ "अपने आप" मानने के लिए तैयार न होने के कारण, दूसरे शब्दों में "सहायता" के नाम पर ही यह निमित्त को अन्य द्रव्य की क्रिया का परमार्थ कर्ता मान लेता है। अन्यथा वह निमित्त के दो भेद करके प्रेरक निमित्त के नाम पर कार्य का आगे-पीछे होने की वकालात त्रिकाल में नहीं करता।

(२) अन्य द्रव्य के कार्य में तद्भिन्न अन्य द्रव्य की निमित्तता को ही यदि समीक्षक कार्य-कारीपने की संज्ञा देता है तो असद्भूत व्यवहारनय से हमें ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। परमार्थ से देखा जाय तो कोई किसी कार्य का निमित्त होता ही नहीं। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने कार्य का निमित्त है और स्वयं ही अपने कार्य का कर्ता है।[1]

स० पृ० ३५ में समीक्षक रेलगाड़ी की गति में पटरी की सहायता होने से कार्यकारी मानता है। सो यहाँ देखना यह है कि पटरी रेलगाड़ी की गति में असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त अर्थात् सहायक है या परमार्थ से निमित्त है। यदि कहा जाय असद्भूत व्यवहारनय से सहायक है तो इसका अर्थ यह हुआ कि परमार्थ से वह सहायक नहीं है, पर सहायकपने का व्यवहार (कथन या विकल्प) अवश्य होता है। इसलिए जब तत्वत: एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध ही नहीं है, ऐसी अवस्था में पटरी रेलगाड़ी की गति में परमार्थ से सहायक कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती; किन्तु रेलगाड़ी स्वयं अपनी क्रियावती शक्ति के कारण ही गति करती है यह कहना और मानना ही परमार्थ से युक्ति-युक्त ठहरता है।

स० पृ० ३५ में समीक्षक का कहना कि "प्रेरक निमित्त का कार्य उपादान (कार्यरूप परिणत होने की योग्यता विशिष्ट वस्तु) को कार्यरूप परिणत होने के लिए सक्षम बनाने का है या यों कहिये कि इसे कार्यरूप परिणत होने के लिए प्रेरित करने का है" सो यहाँ देखना यह है कि प्रेरक निमित्त उपादान द्रव्य के कार्य रूप से परिणमन के काल में निमित्त है या इसके पहले निमित्त है। यदि उपादानभूत द्रव्य के कार्यरूप से परिणमन करते समय निमित्त है तो 'प्रेरक निमित्त उपादान को कार्यरूप परिणत होने के लिए सक्षम बनाता है' यह कहना मिथ्या ठहरता है।

यदि कार्यकाल के पहले निमित्त है यह स्वीकार किया जाता है तो यह मानना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि कर्मशास्त्र के अनुसार जब उपादान द्रव्य कार्य रूप परिणमता है, तभी उसके योग्य

(१) नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्ध: परद्रव्यात्मतत्त्वयो: ।
कर्तृ-कर्मत्व सम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुत: ।।समयसार कलश २००।।

कर्म की उदय-उदीरणा होती है यह स्वीकार किया गया है, पहले नहीं। इसलिये विचार करने पर यही निश्चित होता है कि जिनागम में प्रेरक नाम का कोई निमित्त नहीं है। मात्र व्यवहार से ऐसा शब्द प्रयोग अवश्य किया जाता है, क्योंकि आगम में भी ऐसा प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

समीक्षक ने स० पृ० ३६-३७ में जयधवला पृ० ११७ के "वज्झकारणणिरवेक्खो वत्थु-परिणामो" इस वचन को माध्यम बनाकर जो यह लिखा है कि आगम मानता है कि सभी कार्यो की उत्पत्ति में उपादान, प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त ये तीनों कारण अनिवार्य हैं, जैसा कि हम अनेक जगह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। वस्तुतः परिणाम वस्तु में ही उत्पन्न होगा, वस्तु के अतिरिक्त वह कदापि उत्पन्न नहीं होगा, ऐसा नयकथन किया जाता है सो उससे वक्ता का यही अभिप्राय होता है कि वह उपादान की अपेक्षा कथन कर रहा है, वाह्य कारणों (प्रेरक व उदासीन निमित्तों) की सहकारिता का निषेध नहीं करता। कर भी कैसे सकता है अन्यथा वस्तु की अनेकान्तात्मकता जो उसका प्राण है, लुप्त हो जायेगी। आदि"

यहाँ समीक्षक कहता है कि आगम मानता है कि सभी कार्यो की उत्पत्ति में उपादान, प्रेरकनिमित्त और उदासीन निमित्त ये तीनों कारण अनिवार्य हैं, सो एक तो प्रेरक नामका कोई निमित्त ही नहीं है, क्योंकि सभी कार्यो की उत्पत्ति अन्य किसी वाह्य कारण की प्रेरणा से होती है यह जिनागम नहीं है, क्योंकि कोई भी कार्य अपने निश्चित उपादान के अनुसार अपने नियत समय को छोड़कर निमित्त के वल पर आगे-पीछे नहीं किया जा सकता। दूसरे उसके ऐसा मानने पर तो उक्त प्रकार का निमित्त ही कार्य करने का अधिकार ग्रहण कर लेगा और उपादान का वही स्थान हो जायेगा जो आगम में निमित्त का माना गया है, वह हेतु नहीं रहेगा। वस्तुतः उसके इस सव कथन पर दृष्टिपात करने से तो ऐसा लगता है कि "वस्तु स्वयं परिणमती है" आगम की इस मान्यता को वह हृदय से मानना ही नहीं चाहता और नाना प्रकार शब्दजाल के प्रपंच रचकर आगम को ही वदल देना चाहता है।

आगे समीक्षक ने "वज्झकारणनिरवेक्खो वत्थु-परिणामो" इस पर अपनी व्याख्या करते हुए जो यह लिखा है कि "वस्तु से अतिरिक्त वह कदापि उत्पन्न नहीं होगा" ऐसा जव कथन किया जाता है तो उससे वक्ता का यही अभिप्राय होता है कि वह उपादान की अपेक्षा कथन कर रहा है। वाह्य कारणों (प्रेरक व उदासीन निमित्तों) की सहकारिता का निषेध नहीं करता।

सो यहाँ समीक्षक ने उक्त कथन से यह मान लेता है कि वस्तु से अतिरिक्त जो कारण होते हैं, उनसे यह (कार्य) कदापि उत्पन्न नहीं होता। ऐसी हालत में यह जो आगम में लिखा है कि वस्तुतः परिणामस्वरूप वस्तु ही स्वयं परिणमती है, वाह्य कारण नहीं, सो वह ठीक ही लिखा है। दूसरे उक्त वचन "वज्झकारणणिरवेक्खो", पद आया है सो जयधवला के उक्त वचन से तो यही सिद्ध होता है कि "वाह्यकारण से निरपेक्ष होकर अपने परिणाम को वस्तु स्वयं करती है।" इसलिये उक्त वचन से समीक्षक जो आशय फलित करना चाहता है, वह कदापि फलित नहीं होता।

दूसरी वात यह है कि निश्चयनय आत्माश्रित होने से वस्तु के पराश्रितपने का निषेध ही करता है। समयसार में कहा भी है–

एवं ववहारणओ पडिसिद्ध जाण णिच्छयणएण ॥२७२॥

इस प्रकार व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जानो। कल्पनारोपित अध्यवसान भावों का नाम ही व्यवहारनय है। अतः निश्चयनय से वे अध्यवसान भाव छोड़ने योग्य ही माने गये हैं।

परवस्तु में अपनापन देखना और पर के आलम्बन से इष्टानिष्ट बुद्धि करना ही अध्यवसान भाव कहलाते हैं, जिन्हें जिनागम में छोड़ने योग्य ही कहा है। उसके आधार से कार्य-कारण की व्यवस्था करना यह न्याय नहीं है। परमार्थ से जिनदेव वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं। अतः उनके ज्ञान में यह तो आता है कि अज्ञानी कब कैसे विकल्प करते हैं। पर आगम उनके वीतराग कथन का सार है, इसलिए उन विकल्पों के आधार से वस्तु व्यवस्था का निर्देश नही किया गया — यह निश्चत है।

प्रकृत में ऐसा समझना चाहिए कि जिसे आगम में निमित्त कहा गया है अन्य के कार्य की उत्पत्ति में वह परमार्थ से अणु मात्र भी सहायता नहीं करता, फिर भी उसकी सहायता के बिना कार्य हो ही नहीं सकता — ऐसा मानना ही अध्यवसानभाव है। इसी का प्रत्येक वस्तु अपने कार्यकाल में स्वयं निषेध करती है, क्योंकि जितनी जड़-चेतन वस्तुएं हैं, उनका परिणाम परकी अपेक्षा किए बिना स्वयं ही होता है। फिर भी भिन्न सत्ताक दो द्रव्यों में जो विशेषण-विशेष्यभाव, निमित्त-नैमित्तक, और आधार-आधेय सम्बन्ध माने गये हैं, वे मात्र असद्भूत व्यवहारनय से ही माने गये हैं। परमार्थ से उनमें कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिये जहाँ भी आगम में ऐसा कहा गया है कि क्रोध नामक चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव में क्रोध की उत्पत्ति होती है, सो वहाँ उसे कालप्रत्यासत्तिवश उपचरितकथन ही जानना चाहिए। अर्थात् उस समय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से निरपेक्ष होकर क्रोध नामक चारित्र-मोहनीय परिणाम स्वयं ही उत्पन्न हुआ न तो उक्त कर्म क्रोध की उत्पत्ति में परमार्थ से सहायक हुआ और न उक्त क्रोधभाव ही उक्त कर्म के उदय में परमार्थ से सहायक हुआ। दोनों ने एक-दूसरे की अपेक्षा किये बिना ही अपना-अपना परिणाम किया। फिर भी काल प्रत्यासत्तिवश प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर यह असद्भूत व्यवहार किया जाता है कि क्रोध कर्म के उदय से क्रोधभाव हुआ।

पृ० ३७ में समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह उसके अभाव में भी हो जाता है। यह तो जैनदर्शन का सिद्धांत है, जिसे उत्तरपक्ष भी अस्वीकार नहीं कर सकता।" तो इस सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि कार्यकाल में हो या कार्यकाल के अभाव में हो, एक वस्तु में दूसरी वस्तु का सर्वथा अभाव रहता ही है। भिन्न सत्ताक दो वस्तुओं में अत्यन्ताभाव इसी आधार पर माना गया है। इतना अवश्य है कि दो वस्तुओं में जो निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, वह काल प्रत्यासत्तिवश असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार किया गया है, केवल व्यवहारनय से नहीं, क्योंकि मात्र व्यवहारनय ऐसा कहने से सद्भूतव्यवहानय का भी ग्रहण हो जाता है, जो निमित्त का नैमित्तक के साथ क्या सम्बन्ध है, इसके कथन में प्रयोजनीय नहीं है।

समीक्षक का मूल प्रश्न था कि "यदि क्रोध आदि विकारी भावों को कर्मोदय के बिना माना जावें तो उपयोग के समान ये भी जीव के स्वभाव हो जावेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावों का नाश न होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जावेगा।"

इसका समाधान हमने यह किया था कि क्रोध आदि विकारी भावों को जीव स्वयं करता है, इसलिए निश्चयनय से वे परनिरपेक्ष ही होते हैं, इसमें संदेह नहीं; कारण कि एक द्रव्य के स्वचतुष्टय में अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टय का अत्यन्ताभाव है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर श्री जयधवला पु० ७ पृ० ११७ में कहा है — "बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।"

अब देखना यह है कि यहाँ आचार्य ने यह उत्तर क्यों दिया ? वात यह है कि अनन्तानुवंधी क्रोध आदि चारों के जघन्य प्रदेश सत्कर्म का स्वामित्व एक ही काल में प्राप्त होता है, क्योंकि जो अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया और लोभ के जघन्य प्रदेश का सत्कर्म का स्वामी होता है, उसके इन चारों कषायों के जघन्य प्रदेश सत्कर्म में तरतमभाव देखा जाता है; इसलिए वाह्य कारण चारों के समान होते हुए भी इन चारों के प्रदेश सत्कर्म के हीनाधिक होने में अन्तर पड़ा है, वह चारों प्रकृतियां अलग-अलग होने के कारण ही अन्तर पड़ा है। इसका अर्थ यह है कि एक काल में अनेक कार्यों का एक वाह्य निमित्त होने पर भी जो कार्यभेद दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण निमित्तभेद न होकर भी वस्तुभेद ही जानना चाहिये। यही कारण है कि यहां आचार्य को यह उत्तर देने के लिए सन्मुख होना पड़ा है–"**बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।**"

उत्तर प्रश्न के अनुरूप–

समीक्षक द्रव्यकर्म के उदय को संसारी आत्मा के विकारभाव के होने और चतुर्गतिपरिभ्रमण में भूतार्थरूप से सहायक या कार्यकारी मानता है, किन्तु आगम के अनुसार द्रव्यकर्मोदय संसारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण में असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त माना गया है; क्योंकि द्रव्यकर्म का उदय द्रव्यकर्म में है, आत्मा में नहीं। इसलिये तो वह (द्रव्यकर्मोदय) आत्मा में असद्भूत है। फिर भी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण द्रव्यकर्मोदय से होता है – ऐसा उपचार (व्यवहार) किया जाता है, इसलिये यह कथन उपचरित ही है, भूतार्थ नहीं है। फिर भी समीक्षक इसे भूतार्थ ही मानता है, यह उसका आगमानुकूल मानना नहीं है।

सूक्ष्म विमर्श का फल–

आगम में "*अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्यकारणभावः*" यह वचन आया है, किन्तु परमार्थ से यह वचन उपादान कारण और उसमें होने वाले कार्य के लिए ही आया है। इसकी पुष्टि परीक्षामुख के इस सूत्र से भी होती है—

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्य-कारणयोश्च क्रमभावोऽविनाभावः।

पूर्वचर और उत्तरचर नक्षत्रों में तथा कार्य और कारण में क्रमभाव अविनाभाव होता है।

निमित्त-नैमित्तिक की दृष्टि से आगम में सूत्ररूप में ऐसा कोई वचन नहीं उपलब्ध होता जिससे निमित्त को परमार्थ रूप दिया जा सके। इतना अवश्य है कि लौकिक मान्यता को ध्यान में रखकर जैनधर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध को स्वीकार कर उसकी आगमाविरुद्ध किस प्रकार व्यवस्था बनती है इसका स्पष्टीकरण नयदृष्टि से किया गया है, इसलिये परमार्थ से देखा जावे तो एक द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य में न तो सहायक ही होता है और न ही बाधक होता है। मात्र लौकिक दृष्टि से एक काल प्रत्यासत्तिवश ही उसमें (वाह्यद्रव्यों में) निमित्त या सहायकपने का व्यवहार किया जाता है। ऐसा समझना ही सूक्ष्म विमर्श का फल है, अन्य सव कल्पना मात्र है।

हमारे वक्तव्यों में कोई विरोध नहीं है। (स० पृ० ३८)

(१) हमने क्रोधादि भावों के उदय होने में द्रव्यकर्म निमित्त है, यह असद्भूत व्यवहारनय

से लिखा है और क्रोधादि विकारी भावों को स्वयं स्वतंत्र होकर जीव उत्पन्न करता है, क्रोधादि कर्म नहीं, यह निश्चयनय से लिखा है।

(२) वहीं हमनें जो यह लिखा है कि जिस-जिस समय जीव क्रोधादिभाव रूप से परिणमता है, उस-उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्म के उदय की कालप्रत्यासत्ति होती है, इसलिये व्यवहारनय से क्रोधादि कर्म के उदय को निमित्त कर क्रोधादिभाव हुए यह कहा जाता है तो यह व्यवहारनय से ही लिखा है। यहाँ व्यवहारनय से असद्भूत व्यवहारनय लिया गया है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, इन दोनों वक्तव्यों में कोई विरोध नहीं है।

समीक्षक यह कहता तो अवश्य है कि क्रोधादि कषाय के उदय को निमित्त कर जीव के विकारी भाव होते हैं, पर उनके होने में बाह्य निमित्त को भूतार्थरूप से सहायक भी मान लेता है। एक ओर उसे असद्भूत व्यवहार से बाह्य निमित्त कहना और दूसरी ओर उसे भूतार्थ से सहायक भी मान लेना, यह अवश्य ही चिन्ता का विषय है। वह यह समझ ही नहीं पाता कि बाह्य निमित्त कार्यकाल में ही होता है, आगे-पीछे नहीं होता। फिर वह कार्य की उत्पत्ति में भूतार्थरूप से सहायक कैसे हो सकेगा? अर्थात् कभी नहीं हो सकेगा।

दूसरी विडम्बना की बात यह है कि आगम में प्रयोजन विशेष से लिखे गये वचनों को देखकर उसने (समीक्षक ने) प्रेरक नाम का अलग से एक दूसरा निमित्त और मान लिया है और उसके आधार पर उसने कार्य आगे-पीछे होना भी स्वीकार कर लिया है। साथ ही इसके समर्थन में वह "उपादान अनेक योग्यतावाला होता है" यह भी स्वीकार कर लिया है। जब कि आगम में अव्यवहित उत्तर समयवर्ती द्रव्य को कार्यरूप में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है, इसलिये हमें तो यह लगता है कि समीक्षक को आगम को स्वीकार करने से कोई प्रयोजन नहीं है, उसे तो अपने मन की पुष्टि करने का ही ख्याल है, आगम का नहीं।

अनेक कथनों पर की गई आपत्ति का समन्वयरूप एक उत्तरः-(स.पृ. ४२ से ४६)

समीक्षक ने एक से लेकर दस तक के हमारे कथनों को आलम्बन बनाकर समीक्षा के नाम पर जो कुछ भी लिखा है, उसका एक मात्र उत्तर यही है कि बाह्य निमित्त प्रायोगिक या वैस्रसिक किसी प्रकार का ही क्यों न हो, वह आगम में कार्य के प्रति असद्भूत-व्यवहारनय से ही स्वीकार किया गया है, परमार्थ से नहीं। इसका अर्थ यह है कि वह न तो दूसरे के कार्य में भूतार्थरूप से सहायक ही होता है और न भूतार्थरूप से निमित्त ही होता है। केवल उसे कालप्रत्यासत्तिवश उपचार से निमित्त के रूप में स्वीकार किया गया है। समीक्षक व्यर्थ ही बाह्य निमित्त में भूतार्थ रूप से सहायकपने का ढिंढोरा पीटने का असफल प्रयत्न करता है, यह उसका आगम विरुद्ध ही साहस कहा जायेगा। जैसा कि समीक्षक की मान्यता है कि "बाह्य निमित्त की सहायता के बिना उपादान अपना कार्य करने में असमर्थ ही रहता है। यदि उसकी इस मान्यता को आगम मान लिया जावे तो मोक्ष की चर्चा करना ही व्यर्थ ठहर जावेगा।

जब कि वस्तुस्थिति यह है कि कर्मोदय रहे, किन्तु जीव उसमें उपयुक्त न हो अर्थात् उसके निमित्तभूत बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि न करे तो यह जीव उसके फल का भोक्ता नहीं होता: इसलिये बाह्य पदार्थों का सम्पर्क करना ही गुण-दोष का जनक है, बाह्य वस्तु नहीं, यह जिनागम का सार है।

समयसार गाथा ८३ में तो यह कहा गया है कि "एक-दूसरे के निमित्त से दोनों का परिणाम जानो।" सो समयसार का कथन असद्भूत व्यवहारनय का विषय होने से उपचार से ही जानना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि कालप्रत्यासत्तिवश एक दूसरे के कार्य के सूचक होने से उनमें परस्पर निमित्त व्यवहार किया गया है। परमार्थ से उनमें निमित्तता नहीं है। यही स्थिति समयसार गाथा ६१ की है। उसमें यही तो कहा गया है कि जब जीव अज्ञान आदि रूप स्वयं परिणमता है, तब पुद्गल द्रव्य भी स्वयं कर्मरूप परिणमता है। इससे कर्म जीव के परिणमन होने में सहायता करता है या जीव पुद्गल के कर्मरूप परिणमन होने में सहायता करता है यह यथार्थ रूप में कहां सिद्ध होता है? दोनों ही अपने-अपने परिणाम एक काल में स्वयं करते हैं, उस वचन से मात्र इतना ही तो सिद्ध होता है। रही १०५ संख्याक गाथा सो उसमें यह साफ कहा गया है कि आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म के होने में निमित्त नहीं है, उपचार से ही उसे निमित्त कहा गया है। सो इससे तो यही सिद्ध होता है कि आत्मा पौद्गलिक कर्म के होने में निमित्त है यह कथनमात्र है, वस्तुस्थित नहीं है।

कथन ११ का समाधान:—समयसार गाथा ३२ को ध्यान में रखकर हमने जो आशय व्यक्त किया था वह ठीक है। मिथ्यात्व विभाव परिणति है। जब तक आत्मा उसमें एकत्वबुद्धि करता है, तभीतक वह ज्ञानभाव से आत्मा का निर्णय करने में असमर्थ रहता है। पर जब मिथ्यात्व अबुद्धिपूर्वक वर्तता है और आत्मा अपने उपयोग के द्वारा ज्ञान-रूप भाव आत्मा को ही स्वरूप से स्वीकार कर वैसी भावना करता है, उसी समय से उसके मिथ्यात्वकर्म उदय की और मिथ्यात्वभाव दोनों ही नाम शेष होने लगते हैं। मिथ्यात्वकर्म उदय की अपेक्षा नामशेष होने लगता है, तभी तो अपूर्वकरण में ही मिथ्यात्व कर्म स्थिति अनुभागकाण्डक के घातपूर्वक गुणश्रेणि निर्जरा द्वारा हानि होने लगती है। तथा उपयोग के स्वभाव सन्मुख होकर ज्ञायक स्वभावरूप आत्मा की भावना करने से मिथ्यात्व पर्याय भी धीरे-धीरे कृश होने लगती है। यही आशय इस गाथा और उसकी टीका में प्रगट किया गया है। यह ठीक है कि मिथ्यात्वरूप विभाव पर्याय अभी जीवित है, वह अंतिम सासें भर रहा है और मोह कर्मोदय भी नामशेष नहीं हुआ है। दोनों की समव्याप्ति है, फिर भी आत्मा ने मिथ्यात्व परिणाम के फलस्वरूप परमें होने वाली एकत्वबुद्धि से भिन्न आत्मस्वभाव में एकत्वबुद्धि का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। अतः उसके फलस्वरूप अन्तर्मुहूर्त में ही वह तत्वपूर्वक स्वभावरूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है और जिस समय वह इसे प्राप्त करता है, उसी समय मिथ्यात्व के उदय का अभाव रहता ही है। अतः ये दोनों कार्य एक साथ होते हैं, इसीलिये वे एक-दूसरे के कार्य सूचक होने से इनमें असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार किया जाता है। परमार्थ से कोई किसी को निमित्तकर नहीं होता है, स्वयं होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिए। यहाँ (स० पृ०४७ में) समीक्षक ने टिप्पणी में जो उद्धरण दिये हैं, वे हमारे इसी कथन की पुष्टि करते हैं। शेष कथन का उत्तर देना पिष्ठपेषण है।

कथन १२ का समाधान:—समीक्षक हमारे स्पष्टीकरण पर ध्यान न देकर समयसार गाथा १९८ और १९९ के आधार पर जो प्रेरक कारण का समर्थन कर रहा है, सो उससे ऐसा लगता है कि वह अपनी कल्पित मान्यता की पुष्टि में इन गाथाओं पर से यह अर्थ निकालना चाहता है कि आगम

में उपादान का जो सुनिश्चित लक्षण कहा है, वह न भी हो तो भी प्रेरक निमित्तरूप द्रव्यकर्म के वल पर जीव को उसरूप परिणमना ही पड़ता है। हमें दुःख है कि समीक्षक ने इन गाथाओं पर से यह अर्थ फलित करने की चेष्टा कैसे की है, जबकि इन गाथाओं द्वारा भेदज्ञान की कला को पुष्ट करने के अभिप्राय से ही जीवों के विभावभावों को परकी ओर के झुकाववश ही परभाव या कर्म के उदयजन्य कहा गया है। परमार्थ से देखा जाय तो जीव स्वयं ही अज्ञानवश इन भावों का कर्त्ता होता है, पुद्गल कर्म नहीं। हम तो समीक्षक से यही आशा करते हैं कि वह आगम में उद्देश्यपूर्वक की गई कथनी को ध्यान में रखकर ही उसका फलितार्थ फलित करने की चेष्टा करेगा, ऐसे प्रसंग पर विशेष क्या संकेत करें ?

कथन १३ का समाधान:—हमने समयसार गाथा २८१ के आधार पर यह लिखा है कि "जिसको निमित्तकर जो भाव होता है, वह उससे जायमान हुआ है – ऐसा कहना करणानुयोग आगम की परिपाटी है, जो मात्र किस कार्य में कौन निमित्त है, इसे सूचित करने के अभिप्राय से ही आगम में निर्दिष्ट की गई है"। इसलिये यह अभिप्राय हमने असद्भूत व्यवहारनय से ही व्यक्त किया था। यह सच है कि लोक में भी यह परिपाटी प्रचलित है, परन्तु विचारकर देखा जावे तो जैनागम के अनुसार इस परिपाटी को ध्यान में रखकर नयविशेष के अनुसार जिनागम में इसे स्वीकार किया है। वाह्य निमित्त अन्य द्रव्य के कार्य में परमार्थ से सहायक तो नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम स्वभाव के कारण परनिरपेक्ष ही अर्थात् पर की सहायता के विना ही परिणाम-लक्षण या क्रियालक्षण अपना कार्य करता है। इतना अवश्य है कि कालप्रत्यासत्तिवश वाह्य निमित्त परद्रव्य के कार्य का व्यवहार से सूचक होता है और इसीलिए उसे निमित्त कहा जाता है।

कथन १४ का समाधान:—इसी अनुच्छेद में "उपादान में होने वाले व्यापार को पृथक् सत्ताक वाह्य-सामग्री त्रिकाल में नहीं कर सकती है" हमारे इस कथन को समीक्षक ने भी स्वीकार करके लिखा है कि "इस सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि उपादान में होने वाले व्यापार को पृथक-सत्ताक वाह्य सामग्री त्रिकाल में नहीं कर सकती है, यह निर्विवाद है" इसकी हमें प्रसन्नता है। ऐसा स्वीकार करने के वाद भी वह अपनी यह रट लगाये ही जा रहा है कि "वाह्य सामग्री उपादान में होने वाले कार्य की उत्पत्ति में सहायक भी नहीं हो सकती है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि उपादान की कार्यरूप परिणति में वह वाह्य सामग्री आवश्यक एवं अनिवार्य रूप से होती है, उसके विना उपादन भी पंगु रहता है। दोनों की संघटना से ही कार्य होता है। सो समीक्षक का ऐसा लिखना अनावश्यक तो है ही, इससे आगम की अवहेलना भी होती है। वस्तुतः जिसे हम वाह्य निमित्त कहते हैं, वह भी वाह्य निमित्तरूप द्रव्य का परनिरपेक्ष एक स्वतंत्र कार्य है, जो उपादानरूप द्रव्य के कार्य से भिन्न स्वय ही हुआ है। अतः इन दोनों कार्यों के एक काल में होने का नियम है, इसीलिए इनमें से एक में प्रयोजनवश निमित्त व्यवहार किया गया है। कोई किसी के विना पंगु होता ही नहीं है। समीक्षक वाह्य निमित्त के विना उपादान को पंगु मान ले, यह उसकी आगमविरुद्ध इच्छा की वात है। दूसरी वात यह है कि उपादान के कार्य के काल में ही आगम में वाह्य निमित्त का स्वीकार किया गया है। पूरा कर्मशास्त्र का उदय प्रकरण प्रांजल उदाहरण है।

कथन १५ का समाधान:—इस अनुच्छेद के अन्तर्गत समीक्षक ने जो यह लिखा है कि –"पूर्वपक्ष उक्त वाह्य सामग्री को उपादान की कार्योत्पत्ति में जो अयथार्थ कारण मानता है,

सो उत्तरपक्ष की तरह उसमें सहायक न होने के आधार पर न मानकर आगम से प्रमाणित सहायक होने के आधार पर ही मानता हूँ"– सो उसका यह लिखना परस्पर विरुद्ध ही प्रतीत होता है, क्योंकि एक ओर तो उसे अयथार्थ कारण कहना और दूसरी ओर उसे भूतार्थरूप से सहायक भी मानना, ये दोनों बातें परस्पर में विरुद्ध ही हैं। हाँ यदि समीक्षक अयथार्थरूप से सहायक कहना या मानना स्वीकार करले तो पूरा विवाद ही समाप्त हो जाय, क्योंकि जो अयथार्थरूप से कारण होता है, उसे अयथार्थ रूप अर्थात् नयविशेष की अपेक्षा उपचार से ही सहायक माना जा सकता है, अभी तक हमने समीक्षक का जितना भी साहित्य पढ़ा है, उसमें कहीं भी इनके द्वारा उल्लिखित ऐसा आगम उपलब्ध नहीं हुआ, जिससे समीक्षक के अभिप्रायानुसार अन्य के कार्य में बाह्य निमित्त भूतार्थरूप से सहायक होता है, इसकी पुष्टि की गई है।

कथन १६ के सम्बन्ध में समाधानः—पंचास्तिकाय गाथ १३१, १४८, व १५० की टीकाओं को और गाथा १५६ को ध्यान में रखकर उत्तरपक्ष ने जो समाधान किया था, उसकी आलोचना करते हुए समीक्षक (स० पृ० ५२ पर) एक ओर तो यह लिखता है कि "प्रेरक निमित्त के बल से कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है" और दूसरी ओर वह यह भी लिखता है कि "पूर्व पक्ष यह कहाँ मानता है कि बाह्य सामग्री दूसरे को बलात् अन्यथा परिणमती है"–सो इस सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि जब प्रेरक निमित्त के बल पर उपादान का कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है तो प्रेरक निमित्त के बल पर उपादान द्रव्य के कार्य का बलात् अन्यथा परिणमाना तो कहलाया ही। दुःख है कि समीक्षक अपनी मान्यता के समर्थन में ऐसा आरोप भी करता जाता है और साथ ही यह घोषणा भी करता जाता है कि यह सब कथन हम आगम के अनुसार ही कर रहे हैं। जिसे हम बाह्य निमित्त कहते हैं, वह भी किसी विवक्षित एक द्रव्य का कार्य है और जिसे हम बाह्य निमित्त से भिन्न काल प्रत्यासत्तिवश दूसरे द्रव्य का कार्य कहते हैं, ये दोनों एक काल में बंधे हुए हैं। इसीलिये यह सवाल ही नहीं उठता कि जबतक उपादान को प्रेरक निमित्त का सहयोग नहीं मिलता, तबतक उपादान अपना कार्य करने में असमर्थ रहता है। वस्तुतः जैनदर्शन में प्रेरक निमित्त नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। आगम में प्रयोजनवश किये गये शब्द प्रयोगों के आधार पर हम जो दो प्रकार के निमित्त कह आये हैं – एक क्रिया द्वारा जो निमित्त होते हैं वे और दूसरे जो क्रिया के माध्यम से निमित्त नहीं होते ये दोनों ही उदासीनरूप से असद्भूत व्यवहारनय से ही निमित्त कहे जाते हैं। परमार्थ से न कोइ किसी का निमित्त ही होता है, और न कोई किसी का सहायक ही होता है।

कथन १७ का समाधानः—(क) मूलराधना में (भगवतीआराधना में) "बलयाइ कम्माइ" यह गाथा आई है। उसको ध्यान में रखकर हमने समीक्षक के कथन का जो उत्तर दिया था, उसके संबंध में समीक्षक (स० पृ० ५३ में) एक ओर यह भी लिखता है कि "उत्तरपक्ष ने अपने इस वक्तव्य में जो कुछ लिखा है, वह पूर्वपक्ष के लिये विवाद की वस्तु नहीं है: क्योंकि वह आगम के अनुसार है। और दूसरी ओर वह कर्मों की बलवत्ता को वास्तविक रूप से स्वीकार करके कर्मोदय को प्रेरक रूप से यथार्थ में कार्यकारी मानता है। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि यदि कर्मोदय में अनुरंजायमान भी तो बाह्य वस्तु में इष्टानिष्ट बुद्धि भी न करे तो कर्मोदय के होने पर भी स्वभाव वेदन के काल में आत्मा की कोई हानि नहीं होती। मात्र इसीलिए ही क्षपकाचार्य क्षपक को कर्मोदय में

अनुरंजायमान न होने की इस गाथा द्वारा प्रेरणा दे रहे हैं। इसलिए समीक्षक ने उक्त गाथा के आधार पर जो अर्थ फलित करना चाहा है, वह उस गाथा से फलित नहीं होता, ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रक्षा गाथा २११ में जो पुद्गल की शक्ति का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है, सो यह कथन भी जीव की अपेक्षा असद्भूत व्यहवारनय का विषय है। और असद्भूत व्यवहारनय नैगमनय का अवान्तर भेद है। इसलिये लोक में उपचार से जितना भी कथन चलता है वह सर्व नैगमनय का विषय होने से भाषाशास्त्र के अनुसार आगम में भी प्रयुक्त होता है। वस्तुतः कर्मोदय केवलज्ञान के होने में बाधक नहीं है और हो भी नहीं सकता: क्योंकि वह परद्रव्य है, आत्मा की स्वतन्त्रता का घात करे ऐसी शक्ति उसमें नहीं है। आत्मा ही स्वयं अपने अज्ञान के कारण उसकी आधीनता को स्वीकार कर परतंत्र होकर केवलज्ञान को उत्पन्न नहीं कर पाता, किन्तु जब वह अपने स्वभाव के अवलम्बन पूर्वक स्वसम्वेदनरूप श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के बल से आत्मा में स्थित होकर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को उत्पन्न करता है, तब जिसे हम कर्म की बलवत्ता कहते हैं, वह स्वयं समूल नाश को प्राप्त हो जाती है।

कथन १९ का समाधानः—कथन १९ में समीक्षक ने स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३१ को आधार मानकर हमारे कथन की आलोचना की है, उससे इतना ही फलित होता है कि वह द्रव्यकर्म के उदय को जीव के शुभाशुभभावों में भूतार्थरूप से सहायक मानकर कार्यकारी मानना चाहता है, किन्तु जब कि समीक्षक कर्मोदय को जीव के शुभाशुभभावों में अयथार्थ निमित्त कारण मानता है, इसलिये वह यथार्थ में सहकारी निमित्त होकर कार्यकारी कैसे हो सकता है? इसका उसे स्वयं विचार करना चाहिए। फिर भी ऐसी अयथार्थ बात के समर्थन में उसने (स० पृ०५५ से लेकर ५८ तक के) तीन पेज रंग डाले, इसका हमें आश्चर्य है; क्योंकि कारण अयथार्थ हो और भूतार्थरूप से वह दूसरे के कार्य में सहायक हो यह त्रिकाल में नहीं बन सकता।

कथन२०, २१, २२ का समाधानः—इन तीनों कथनों में समीक्षक बाह्य निमित्त को तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य का उपादान कर्त्ता, यथार्थ कर्त्ता और मुख्य कर्त्ता तो नहीं मानता, किन्तु वह निमित्त कर्त्ता, अयथार्थ कर्त्ता और उपचरित कर्ता अवश्य मानता है। सो इससे यही फलित होता है कि जो अयथार्थ कर्त्ता या उपचरित कर्त्ता होता है, वह उपादानकर्त्ता या मुख्य कर्त्ता के कार्य की परिणाम लक्षण या क्रिया लक्षण क्रिया तो कर ही नहीं सकता, और इसीलिए ही उसे निमित्तकर्त्ता या अयथार्थ कर्त्ता या उपचरितकर्त्ता समीक्षक भी स्वीकार करता है; किन्तु उसका कहना इतना अवश्य है कि "जो अयथार्थ कर्त्ता होता है वह अपने काल में होने वाले तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य में सहायता अवश्य करता है, अन्यथा उसमें कर्त्तापने का व्यवहार ही नहीं किया जा सकता है। वह अयथार्थ तो इसलिये है कि वह तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्यरूप नहीं परिणत होता है और उसे कर्त्ता इसलिये कहा गया है कि वह तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य में सहायता अवश्य करता है।"

अब देखना यह है कि इस विषय में आगम क्या है? यह तो मानी हुई बात है कि निमित्त प्रायोगिक या विस्रसा किसी प्रकार का ही क्यों न हो, कार्य के साथ उसकी बाह्य व्याप्ति होती है। यतः कुम्भकार घट निष्पत्ति में घटकार्य का निमित्तकर्त्ता, अयथार्थ कर्त्ता या उपचरित कर्त्ता कहा जाता है। इसलिये यहाँ पर कुम्भकार की घटरूप कार्य के साथ बाह्य व्याप्ति होने पर भी वह (कुम्भकार)

अपना कार्य हाथ का हिलना आदि व विकल्प का करना रूप क्रिया मिट्टी से अलग रहकर ही करता है। मिट्टी स्वयं स्वतंत्ररूप से कुम्भकार की योग और उपयोग रूप क्रिया से अलग रहकर ही घटकार्य को उत्पन्न करती है।[1] इस प्रकार मिट्टी और कुम्भकार इन दोनों के स्वयं स्वतंत्र होने के कारण एक काल में दो द्रव्य स्वतत्ररूप से स्वयं एक दूसरे की अपेक्षा किये बिना दो काय उत्पन्न करते हैं। इसलिये परमार्थ से देखा जाय तो वाह्य निमित्त अन्य के कार्य की उत्पत्ति में सहायक भी नहीं होता। मात्र असद्भूत व्यवहारनय से यह कहा अवश्य जाता है कि इसकी सहायता से यह कार्य हुआ।

दूसरी बात यह है कि समीक्षक ने जो वाह्य निमित्त के प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद करके, उनके भिन्न-भिन्न दो लक्षण (स०पृ० १३ में) सूचित किये हैं, वे यथार्थ नहीं हैं: क्योंकि आगम में उपादान और उपादेय का सुनिश्चित लक्षण प्रांजल शब्दों में स्वीकार करते हुए अष्टसहस्री पृष्ठ १०१ में लिखा है—

"यद्भावे एव कारणात्मनि पूर्वक्षणवर्तिनि सति प्रध्वंसस्य कार्यात्मनः स्वरूपस्यनाभोऽस्तेरूपोपादानोपादेयभावोस्तु।"

जिसके होने पर ही जिसका आत्मलाभ होता है, वह उपादान है और दूसरा उपादेय है, यदि ऐसा है तो पूर्वक्षणवर्नी कारणरूप प्रागभाव के होने पर कार्यरूपप्रध्वंस का स्वरूप लाभ वनता है, इसलिये उनमें उपादान-उपादेय भाव रह आवे।

इसी वात को ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से अष्टसहस्री पृ० १०० में इन शब्दों में स्वीकार किया गया है—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वानन्तरात्मा।"

ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से कार्य का उपादान परिणाम ही पूर्व अनन्तरस्वरूप प्रागभाव है— ऐसा माना गया है।

इसप्रकार सुनिश्चित कार्य की विवक्षा में उसका (कार्य का) सुनिश्चित उपादानरूप लक्षण स्वीकार कर लेने पर न तो प्रेरक निमित्तों के मानने की कोई सार्थकता रह जाती है और न ही इसी आधार पर समीक्षक ने जो अनेक योग्यतावाला उपादान का लक्षण स्वीकार किया है, उसके मानने की सार्थकता रह जाती है।

इसप्रकार इतने विवेचन को ध्यान में लेने पर यह सुनिश्चित हो जाता है कि जव उपादान स्वयं पर निरपेक्ष होकर अर्थात् आलम्बन की सहायता के बिना ही स्वयं अपना कार्य करता है, तव जिसे हम निमित्त कर्ता अयथार्थ कर्ता आदि कहते हैं, वह स्वयं असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त कहलाता है।

कथन २३ का समाधान:— हमने खानिया तत्त्वचर्चा में लिखा था कि — "एक जीव ही क्या, प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाव वाला है, अतएव जिस भावरूप वह परिणमता

---

१. यथान्तवर्व्याप्यः व्यापक भावेन मृत्तिकया कलश क्रिय माणे ··· वहिर्याप्यं व्यापकभावेन कलश सम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः ··· कुलालः फलशं करोति ······ इति लोकाक्रामनादिरूढोस्ति तावद्वयव्यवहारः (समयसार गाथा ८४ आत्मख्याति)

है, परिणमन करनेवाला, परिणाम और परिणमन क्रिया, ये तीनों वस्तुपने की अपेक्षा एक हैं, भिन्न-भिन्न नहीं, इसलिये जब जो परिणमन उत्पन्न होता है, उसरूप वह स्वयं परि म जाता है। इसमें अन्य का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं।"

किन्तु इस तथ्यपूर्ण वक्तव्य को अमान्य करते हुए समीक्षक (स० पृ० ५६ पर) लिखता है कि "किन्तु उसी जिनागम में यह भी बताया गया है कि प्रत्येक द्रव्य परिणमन स्वभाववाला तो है, परन्तु उसका कोई परिणमन स्वयं अर्थात् निमित्त कारणभूत वस्तु का सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने आप ही हुआ करता है और कोई परिणमन निमित्तकारणभूत वस्तु का सहयोग प्राप्त होने पर ही होता है, अपने आप नहीं होता। इसका कारण यह है कि जिनागम में स्वप्रत्यय और परप्रत्यय दो प्रकार के परिणमन बतलाये गये हैं। (देखो – त० सू० अ० ५ – ७ की स० सि० टीका)

सो समीक्षक का ऐसा मानना आँखों में धूल भोंकने के समान है, क्योंकि किसी भी द्रव्य का ऐसा एक भी परिणमन आगम में स्वीकार नहीं किया गया है, जिसमें बाह्य और आभ्यंतर उपाधि की समग्रता नहीं रहती हो। त० सू० ५–७ सर्वार्थसिद्धि का जो वचन है, वह धर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्यों को लक्ष्य में रखकर ही कहा गया है। धर्मादि तीन द्रव्यों की प्रत्येक समय जो स्वभाव पर्याय होती है, वह स्व के अवलम्बन से ही होती है, मात्र इसलिये ही उसकी षड्गुण-हानि-वृद्धिरूप पर्याय को स्व-प्रत्यय कहा गया है। पर जब प्रत्येक समय में होने वाली उसी पर्याय में निमित्त की विवक्षा की जाती है तो वही स्वप्रत्यय पर्याय पर सापेक्ष भी अभिहित की जाती है, इसका विशेष खुलासा हम पहले ही कर आये हैं। इसलिये जिनागम में पर्याय के विभावपर्याय और स्वभाव पर्याय ऐसे दो भेद तो दृष्टि-गोचर होते हैं, पर जैसे दो भेद समीक्षक ने सूचित किये हैं ऐसे दो भेद कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। सर्वार्थसिद्धि में बाह्य अवलम्बन की अविवक्षा और बाह्य अवलम्बन की विवक्षा के रूप से पर्यायों के दो प्रकार सूचित किये गये हैं। धर्मादि तीन द्रव्यों का प्रत्येक परिणाम पर के लक्ष्य से नहीं होता, इसीलिये तो उसे स्वप्रत्यय कहा गया है। तथा निमित्त की विवक्षा में उसे परप्रत्यय भी स्वीकार किया गया है। जो असद्भूत व्यवहारनय का विषय होने से यहाँ गौण है।

हमने "प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाववाला है" यह लिखा है, किन्तु समीक्षक यदि इसे स्वीकार नहीं करेगा तो उसकी मान्यतानुसार स्वप्रत्यय परिणमन त्रिकाल में सिद्ध नहीं हो सकेगा, इसलिये यह स्वीकृत करना ही आगम सम्मत है कि चाहे स्वभाव-पर्याय हो और चाहे विभाव पर्याय ही क्यों न हो, प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने परिणाम स्वभाव के कारण परिणमता है। मात्र परलक्षी परिणाम के होने पर तो विभाव पर्याय होती है और स्वलक्षी परिणाम के होने पर स्वभाव पर्याय होती है। समीक्षक ने दूसरे पैरे में जो कुछ लिखा है उसका, भी यही समाधान है।

समयसार या अन्यत्र जिनागम में परिणमन स्वभाव के अर्थ में जहाँ भी स्व" या "स्वयमेव" पद आया है, वहाँ परमार्थ से देखा जाये तो उसका अर्थ "अपने आप" या "अपने आप ही" होता है, अन्य नहीं, इतना ही यहाँ लिखना पर्याप्त है। असद्भूत व्यवहारनय से यह भले ही कहो कि वस्तु का परिणमन पर सापेक्ष होता है।

अष्टसहस्री पृ० १०५ का वचन मीमांसक को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है, क्योंकि मीमां-सक शब्द को सर्वथा नित्य मानता है। वह उपादान-उपादेय रूप से उसे परिणामी नित्य नहीं

मानता। फिर भी शब्द जव सुनने में आता है और जव सुनने में नहीं आता — ऐसे उसके मत को ध्यान में रखकर ही आचार्य ने उसे उपालम्भ देते हुए यह कहा है कि "यदि सहकारी कारण शब्द नित्यतारूप इस सामर्थ्य का खंडन नहीं करते तो वे अकिंचित्कर क्यों नहीं हो जाते ?" इस प्रकार समीक्षक पर मत के सर्वथा एकान्त मत के खण्डन में लिखे गये ऐसे वचनों का भी स्वमत के पोषण में उपयोग करता है इसका हमें आश्चर्य है। अथवा इसमें आश्चर्य की वात ही क्या है, क्योंकि जिसकी युक्ति ही कहीं की ईंट कहीं का रोडा, भानमती ने कुनवा जोडा" की हो गई है, वह आगे चल कर और क्या क्या नहीं लिखेगा, कौन कह सकता है ?

आगे समीक्षक ने स० पृ० ६१–६२ में अन्य जितना कुछ भी लिखा है, वह उपचारनय का आश्रय लेकर ही लिखा है, क्योंकि निश्चयनय से जो कुछ कहा जाता है, उपचारनय या असद्भूत व्यवहारनय भी वही कहता है। अन्तर इतना है कि प्रथम का विषय परमार्थभूत होता है और दूसरे का विषय कल्पनाजन्य होता है। हम परमार्थ से यह जानते हैं कि आकाश, आकाश में रहता है और धर्मादि अन्य द्रव्य अपने में रहते हैं, फिर भी आकाश की व्यापकता को देखकर यह कहा जाता है कि आकाश आधार है और अन्य द्रव्य आधेय हैं। यह एक विकल्प है, जो संयोग सम्वन्ध की सृष्टि करता है। आगम में इसी आधार पर आधार-आधेय, निमित्त-नैमित्तिक आदि सम्वन्ध स्वीकार कर लिये गये हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का "तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्य-कारणभावो द्विष्ठः सम्वन्धः।" इत्यादि वचन को भी इसी आधार पर प्रतीत सिद्ध और पारमार्थिक मान लिया गया है। यदि इस द्विष्ठ सम्वन्ध को सर्वथा पारमार्थिक माना जाता है तो भी किसी भी द्रव्य की अपने गुण-पर्यायपने से उसकी रक्षा स्वतंत्रता की रक्षा ही नहीं हो सकती। इसलिये दो को मिलाकर एक कहना या स्वतंत्र सत्ताक दो में कल्पना के आधार पर एक सम्वन्ध स्थापित करना और वात है और वाह्य दृष्टि से एक क्षेत्र में रहते हुए भी वे अपने-अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को वनाये रखते हैं, यह जानना और वात है। इसमें समीक्षक किसको परमार्थभूत मानता है, इसका वह स्वयं विचार करे। आगम में तो "अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा"॥ इस वचन द्वारा दो द्रव्यों में अत्यन्ताभाव ही प्ररूपित किया गया है, इसे समीक्षक भी जानता होगा।

स० पृ० ६३ में समयसार गाथा १०७ की समीक्षक ने व्याख्या का यह तात्पर्य प्रस्तुत किया है – "आत्मा पुद्गल कर्मरूप से उत्पन्न नहीं होता या पुद्गल कर्मरूप नहीं होता, पुद्गल कर्मरूप से नहीं वंधता, पुद्गल कर्मरूप मे नहीं परिणमता और पुद्गल कर्मरूप से गृहीत नहीं होता, क्योंकि कर्मरूप से उत्पत्ति, कर्मरूप से रचना, कर्मरूप से वन्ध, कर्मरूप से परिणमन और कर्मरूप से ग्रहण पुद्गल का ही होता है, तथा आत्मा की ये सभी अवस्था आत्मा के सहयोग के विना सम्भव नहीं हैं। अतः आत्मा का पुद्गल को कर्मरूप से उत्पन्न करना या वांधना, परिणमाना और ग्रहण करना इनमें सहायक होने रूप से व्यवहारनय का ही कथन निर्णीत होता।"

अव हम देखें कि उक्त गाथा का वास्तविक अर्थ क्या है —

"आत्मा पुद्गल को कर्मरूप से उत्पन्न करता है, आत्मा पुद्गल कर्म को करता है, आत्मा पुद्गल कर्म को वांधता है, आत्मा पुद्गल कर्म को परिणमाता है और आत्मा पुद्गल कर्म को ग्रहण

करता है, यह असद्भूत व्यवहारनय का वक्तव्य है । तात्पर्य यह है कि असद्भूत व्यवहारनय से लोक में जो यह भाषा बोली जाती है कि एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य का कार्य किया, एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य को परिणमाया, एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य के कार्य को उत्पन्न किया, एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य को बांधा, आदि वे सब कथन परमार्थभूत नहीं हैं ।

हमारे कथन की उपयोगिता:—

हमने जो खा० त० च० पृ० ३८ में "अध्यातम में रागादि को पौद्गलिक बतलाने का कारण" — इस शीर्षक के अन्तगर्त जो आगमानुसार पृ० ३८ से ४१ तक तत्त्व प्रस्तुत किया है, वह इसीलिये उपयोगी और सार्थक है, क्योंकि हमें भय था कि समीक्षक इस विषय में अपना यह मत दोहरा सकता है कि कर्मोदय की सहायता से आत्मा रागादिरूप परिणमता है, इसलिये आ० कुन्दकुन्द देव ने रागादि को पौद्गलिक कहा है । और उसने अपना यह मत स० पृ० ६४ में इन शब्दों में व्यक्त भी किया है — "लेकिन इस विषय में इतना मतभेद है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुद्गल को जीव की उनरूप परिणति में नियम से सहायक होने रूप से कार्यकारी नहीं मानता तथा उसे अकिंचित्कर बतलाता है ।"

समीक्षक ने "ट" विभाग के अन्तर्गत स० पृ० ६५ में अपना यह अभिमत प्रगट किया है कि "इसके विषय में मेरा कहना है कि रागानुभूति से पृथक् शुद्ध आत्मानुभूति ११वें गुणस्थान से पूर्व किसी भी जीव को होना संभव नहीं है, क्योंकि १० वें गुणस्थान तक जीवों के प्रकृति और प्रदेश बंध के अलावा स्थिति और अनुभाग बन्ध भी होता है । यह बन्ध इस बात को बतलाता है कि वहाँ रागानुभूति से पृथक् शुद्ध आत्मानुभूति का होना संभव नहीं है । इस प्रकार पूर्व पक्ष एक ओर तो अपना उक्त अभिप्राय व्यक्त करता है और दूसरी ओर वह (ज) विभाग के अन्तर्गत यह भी लिखता है कि "पूर्वपक्ष को उत्तर पक्ष के इस कथन से भी विरोध नहीं है कि "पारमार्थिक भाव को ग्रहण करने वाले शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत चिच्चमत्कार ज्ञायक स्वरूप आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न हुई आत्मानुभूति में उनका भान नहीं होता, इसलिये ये रागादिभाव जीव के नहीं — ऐसा समयसार गाथा ५० से ५६ तक की गाथाओं में कहा गया है तथा इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उक्त गाथाओं की टीका में आ० अमृतचंद्र देव ने जो कुछ लिखा है और जिसे उत्तरपक्ष ने अपने कथन में प्रभागरूप से उघृत किया है, वह भी पूर्वपक्ष को मान्य है ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वपक्ष के परस्पर विरोधी पूर्वोक्त दो वक्तव्य हैं । उनमें से प्रथम वक्तव्य में तो यह स्वीकार किया गया है कि आत्मा में जब राग का सद्भाव नहीं रहता तब ११वें गुणस्थान में शुद्ध आत्मानुभूति होती है । और दूसरे वक्तव्य में हमारे समान यह भी स्वीकार कर लिया है कि जीव में रागादि रूप पर्याय के रहते हुए भी ज्ञायकस्वभाव आत्मा के अवलम्बन से शुद्ध आत्मानुभूति के होने में कोई बाधा नहीं आती । इससे साफ जाहिर होता है कि समीक्षक अभी तक यह निर्णय ही नहीं कर पाया है कि परनिरपेक्ष मोक्षमार्ग क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है । साथ ही वह यह भी निश्चय नहीं कर पाया है कि चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्वादि तीन और अनन्तानुबंधी चार, इन सात के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के होने पर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, वह स्वभाव पर्याय है या नहीं । और यदि स्वभाव पर्याय है तो उपयोग में किसका आलम्बन लेने पर वह होती है । हमारी समझ से समीक्षक इसी विमूचन में पड़ा हुआ है और इसीलिये वह यह निर्णय नहीं

कर पाता है कि शुद्ध आत्मानुभूति पर्याय में राग के रहते हुए भी, चौथे में होती है या ७ वें में होती है या ११ वे में होती हैं। कोई कहता है कि चौथे में होती है, कोई कहता है कि ७ वें में होती है और कोई कहता है कि ११ वें में होती है। समीक्षक को कम से कम इतना तो सोचना ही चाहिये कि जब चौथे में सम्यक्त्व के विरोधी मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का उदय नहीं रहा, साथ ही मिथ्यादर्शन आदि आत्मा के परिणाम नहीं रहे और वह जीव स्वभाव का अवलम्बन भी लिए हुए है, ऐसी अवस्था में सम्यक्त्वरूप स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी स्वभाव के अवलम्बन से शुद्धात्मानुभूति नहीं होवे, यह कैसे कहा जा सकता है? समीक्षक को इसी का विचार करना चाहिये।

समीक्षक (ठ) विभाग के अन्तर्गत हमारे सब कथन को मान करके भी अन्त में लिखता है कि "केवल इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि" जीव आप विरोधी होकर उन्हें करता हुआ भी पुद्गल के कर्म के सहयोग से ही उन्हें करता है, पुद्गल कर्म के सहयोग के विना कदापि नहीं करता है।" इस सम्बन्ध में हम यहाँ इतना ही पूछना चाहेंगे कि पुद्गल कर्म के सहयोग का क्या अर्थ है? (१) क्या वह यह अर्थ करता है कि आत्मा और पुद्गल कर्म दोनों मिलकर जीव में रागादि भाव को उत्पन्न करते हैं या (२) क्या वह यह अर्थ करता है कि जब जीव रागादि को उत्पन्न करता है, तब पुद्गल कर्म का उदय अवश्य रहता है? (३) या क्या वह यह अर्थ करता है कि जीव रागादि को उत्पन्न करता है, तब एक कालप्रत्यासत्तिवश जीव ने रागादिरूप परिणाम किया, इसका पुद्गल कर्मोदय सूचक होता है, इसलिये वह निमित्त कहा जाता है?

पहला अर्थ तो स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि जब जीव अपने रागादि भाव को उत्पन्न करता है, तब पुद्गल कर्म अपने उदय उदीरणारूप पर्याय को ही उत्पन्न करता है। कोई किसी का सहायक नहीं होता, कारण कि जहाँ अज्ञान अवस्था में जीव के रागादि की उत्पत्ति में कर्मोदय को निमित्त कहा गया है, वहीं आस्रव अधिकार (समयसार) में पुद्गल के परिणामरूप मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग ये चारों ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म के आस्रव के निमित्त होने से वास्तव में आस्रव हैं और उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामों के) कर्म-आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष-मोह हैं, जो कि अज्ञानमय आत्म परिणाम हैं। इसलिये (मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामों के) आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष ही आस्रव हैं और वे अज्ञानी के ही होते हैं यह भी कहा गया है। (स० गा० १६४-१६५ आत्मख्याति टीका) इससे विवक्षाभेद से उभयता निमित्त की सिद्ध होती है, यह बात समीक्षक को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। इसलिये जहाँ पर भी असद्भूत व्यवहारनय से कथन किया गया हो, वहाँ वह कथन असत् होते हुए भी प्रयोजनवश आगम में स्वीकार कर लिया गया है। उसे समझना चाहिये। गोम्मटसार जीवकांड में "जनपद सम्मइ ठवणेणामे रूवे पडुच्च ववहारे।" इत्यादि रूप से जो सत्य के दस भेद किये गये हैं, वे इसी अभिप्राय से ही किये गये हैं कि यदि कोई बात असत् भी कही जाती है तो प्रयोजन के अनुसार उसे सत्य मान लिया जाता है। असद्भूत व्यवहारनय इसी अर्थ में चरितार्थ है। इस सम्बन्ध में और विशेष क्या खुलासा करें?

समीक्षक कर्मोदय के सहयोग का अर्थ यदि दूसरे और तीसरे विकल्परूप स्वीकार करता है, वह हमें इष्ट है, क्योंकि जीव जब भी स्वयं रागादि विभाव परिणतिरूप परिणमता है, तब काल-

प्र्यासत्तिवश कर्मोदय में निमित्त व्यवहार होने के साथ उससे सूचना मिलती है कि इस समय जीव ने पिछली पर्याय से भिन्न स्वयं ही पर की अपेक्षा किये बिना रागादि रूप विभाव परिणति की। स्पष्ट है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य में इन दो विकल्पों को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार से सहायक नहीं हो सकता।

स० पृ० ६५ के अंक (२) के अन्तर्गत खा० त० च० पृ० ३८ में हमने अध्यात्म को ध्यान में रखकर जो वक्तव्य दिया है, उसकी अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए (क) विभाग के अन्तर्गत समीक्षक कहता है कि "यद्यपि रागादि जीव के परिणाम हैं, अर्थात् जीव उनका उपादान होने से उन रूप परिणमता है, परन्तु उनका प्रधान उपादान कारणभूत जीव न होकर जीव को उनरूप परिणमित होने में सहायता प्रदान करने वाला निमित्त कारणभूत पुद्गलकर्म का उदय है। इसमें हेतु यह है कि ये रागादिभाव उपादान कारणभूत जीव में तभी तक उत्पन्न होते हैं, जब तक उसमें कर्म का उदय विद्यमान रहता है और जब उसमें कर्म के उदय का उस कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के आधार पर अभाव हो जाता है, तब उसमें उन रागादिभावों का अभाव भी नियम से हो जाता है।"

यह अध्यात्म की अनुपयोगिता को बतलाने वाला समीक्षक का वक्तव्य है। इसमें कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के साथ जो रागादि भावों के अभाव की समव्याप्ति बिठलाई गई है, सो यहाँ देखना यह है कि जब जीव अपने उपयोग द्वारा स्वभाव सन्मुख होकर उपयोग में रागादि के अभावरूप से परिणमता है, तब उसके निमित्त से कर्मों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है या कर्मों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से जीव रागादि के अभावरूप से परिणमता है — ये दो विकल्प विचारणीय हैं। प्रथम विकल्प तो मोक्षमार्ग में इसलिये ग्राह्य है, क्योंकि जब जीव स्वयं उपयोग द्वारा स्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दर्शनादि परिणाम रूप से परिणत होता, तब रागादि के अभाव के साथ उसके निमित्तभूत कर्मों का स्वयं उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है, इसलिये यह कहना तो सिद्ध होता नहीं कि कर्मोदय की सहायता के बिना जीव रागादिरूप नहीं परिणम सकता, क्योंकि जब जीव में इष्टानिष्ट बुद्धिपूर्वक या उसके बिना स्वयं ही रागादिभाव रूप परिणमता है, तब ही कर्मोदय उसमें स्वयं निमित्त हो जाता है। अब रही दूसरे विकल्प की बात सो यह कहना तो ठीक है कि जब कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है, तब रागादि का स्वयं अभाव हो जाता है; परन्तु कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता कैसे है, इसकी मीमांसा की जाती है, तब स्वयं ही मोक्षमार्ग में आत्मपुरुष को मुख्यता मिल जाती है, इसलिये सिद्धान्तरूप में यही मान लेना चाहिये कि यह जीव स्वयं ही परनिरपेक्ष रागादिभावरूप से परिणमता है और कर्मोदय उसमें स्वयं ही असद्भूत व्यवहारनय से निमित्तपने को प्राप्त हो जाते हैं।

मुख्यता और गौणता विवक्षा में होती है, वस्तु में नहीं:— स० पृ० ६५ में (ख) विभाग के अन्तर्गत समीक्षक ने कहीं पर निमित्तकारण की मुख्यता की और कहीं पर उपादान कारण की मुख्यता की बात लिखी है सो वह यह भूल जाता है, कि मुख्यता या गौणता विवक्षा में हुआ करती है, वस्तु में नहीं, कारण कि कार्य-कारणभाव की दृष्टि से देखने पर प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने कार्य को करती है और बाह्य पदार्थ, एक काल प्रत्यासत्तिवश असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त होता है। आगे अपने अभिप्राय को सिद्ध करने के लिये १, २ और ३ क्रमांक के अन्तर्गत जो उसने उदाहरण

प्रस्तुत किये हैं, वे मात्र विवक्षा को सूचित करते हैं, उनसे अन्य कोई प्रयोजन फलित नहीं होता, इसलिये अप्रयोजनीय अनुपयोगी जानकर उनके विषय में हम कुछ नहीं लिख रहे हैं।

कथन २५ का समाधान:— स०पृ० ६७ में समयसार गाथा ६८ के माध्यम से समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "समयसार गाथा ६८ की टीका में यह कहा गया है कि जिसप्रकार जौ से जौ उत्पन्न होता है, उसी प्रकार रागादि पुद्गल कर्मों से रागादि उत्पन्न होते हैं, इसीकारण निश्चयनय से रागादिभाव पौद्गलिक हैं।" साथ ही इसका स्पष्टीकरण करते हुए समीक्षक का कहना है कि यहाँ रागादिभाव का कारणभूत पुद्गलकर्म का उदय निमित्त कारण होते हुए भी प्रधान कारण है, इसलिये वे निश्चयनय से पौद्गलिक हैं।" अपने इस मत के समर्थन में उसने स० पृ० ६८ पर लिखा है कि "इसी प्रकार जीव में जो रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, वे यद्यपि जीव के शुद्ध स्वभाव की विकृति मात्र होने से उपादान कारणभूत जीव की परिणतियाँ हैं, परन्तु उन्हें जीव की परिणति न बोलकर आगम में यही बोला गया है कि वे पौद्गलिक हैं। ऐसा बोलने का कारण यह है कि जीव उन परिणतियों में उपादान कारण होते हुए भी प्रधान कारण नहीं है और पुद्गल कर्म उन परिणतियों में सहायक (निमित्त) कारण होते हुए भी प्रधान कारण है। इस तरह जीव की वे रागादिभाव रूप परिणतियाँ निश्चयनय से तो आगम में पौद्गलिक मानी गयी हैं और व्यवहारनय से ये जीव की परिणतियाँ मानी गयी हैं।"

समयसार गाथा ६८ के खुलासा के रूप में यह समीक्षक का वक्तव्य है, जो वस्तुस्थिति को स्पर्श नहीं करता, कारण कि अशुद्ध निश्चयनय से देखा जावे तो रागादि परिणतियाँ जीव ने ही परनिरपेक्ष होकर अपने में स्वयं उत्पन्न की हैं। पुद्गल कर्म का उदय तो उसमें निमित्त मात्र है। पुद्गल कर्म का उदय प्रधान कारण है और उपादान कारणरूप जीव अप्रधान कारण है, इसलिये उन्हें (रागादि को) निश्चयनय से पौद्गलिक कहा गया हो ऐसा नहीं है, किन्तु शुद्धनिश्चयनय त्रिकाली स्वभाव को ही स्वीकार करता है और इस विवक्षा में अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार कोटि में परिणमित हो जाता है। यतः शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में रागादि परिणतियाँ त्रिकाली स्वभाव से भिन्न होने के कारण पर हैं, इसलिये समयसार गाथा ६८ में शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा उन्हें नित्य अचेतन अर्थात् पौद्गलिक कहा गया है। (स० गा० ६८ तात्पर्यवृत्ति टीका देखो)

यह समयसार गाथा ६८ की दोनों संस्कृत टीकाओं के आधार पर लिखी गई तथ्यपूर्ण व्याख्या है, अतः समीक्षक ने स० पृ० ६८ से ७० तक जो कुछ लिखा है, वह उपेक्षनीय जानकर उसकी हम यहाँ पर चर्चा करना इष्ट नहीं मानते, क्योंकि पिष्टपेषण होने से उससे कोई फल निष्पन्न होने वाला नहीं है। साथ ही यहाँ भी समीक्षक को यह जान लेना चाहिये कि कहीं निमित्त प्रधान होता हो और कहीं उपादान प्रधान होता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रधानता और अप्रधानता विवक्षा में हुआ करती है वस्तु में नहीं।

कथन २६ का समाधान:— समयसार गाथा ११३-११५ के आधार से समीक्षक ने खा० त० च० पृ० १२ में लिखा है कि जिस प्रकार उपयोग जीव से अनन्य है, उस प्रकार क्रोध जीव से अनन्य नहीं है ? इसके उत्तरस्वरूप जयपुर खा० त० चर्चा पृ० ४२ में हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि समयसार गाथा ११३-११५ में भी (गाथा ६८ के अनुसार) "वही आशय व्यक्त किया गया है" सो

यह कथन टीका के योग्य तो नहीं है फिर भी समीक्षक ने उसे टीका योग्य बनाया है, इसका हमें आश्चर्य है। यह तो समीक्षक को ही देखना है कि मनगढ़न्त कल्पना द्वारा निमित्त-नैमित्तिक भाव और कर्तृकर्म भाव ने निहित अभिप्राय को हृदयंगम करने में कौन पक्ष अवहेलना कर रहा है ? वह कि हम।

कथन २७ का समाधान :—अकालमरण कालमरण का स्वरूप निर्देश:—

इसके अन्तर्गत स० पृ० ७२ पर समीक्षक ने हमारे कर्मग्रंथ पु० ६ की प्रस्तावना में निर्दिष्ट "किन्तु कर्म के विषय में ऐसी बात नहीं है, इसका सम्बन्ध तभी तक आत्मा में रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है", इस कथन का विरोध करते हुए लिखा है कि "यह कथन प्रेय-प्रेरक भावरूप कार्य कारणभाव पर विचार करने की अपेक्षा असंगत हो जाता है", सो इस सम्बन्ध में हमारा इतना ही कहना है कि न तो एक द्रव्य अपने से भिन्न द्रव्य का प्रेरक होता है और न वह प्रेय ही होता है। मात्र आगम में इस प्रकार का कथन अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है, जो इस प्रकार के वचन प्रयोग की ही विशेषता है। यदि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का परमार्थ से प्रेरक मान लिया जावे तो उसका अर्थ होता है — एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य का कार्य किया। जो मानना "यः परिणमति स कर्ता" इस सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जैसे प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वय स्वभाव की अपेक्षा नित्य माना गया है, उसी प्रकार अपने परिणमन स्वभाव की अपेक्षा अनित्य ही माना गया है। यह प्रत्येक द्रव्य का स्वतः सिद्ध स्वरूप है, उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं। समीक्षक का अन्य सब कथन पिष्ट-पेषण मात्र होने से अविचारितरम्य है।

आगे स० पृ० ७५ में हमारे द्वारा स्वीकार किये गये काल और अकाल मरण को समीक्षक आगम सम्मत और युक्ति-सम्मत नहीं बतलाते हुए लिखता है कि "जहाँ आयु की विषभक्षण आदि बाह्य सामग्री के बल से उदीरणा होकर समाप्ति होती है, वह काल मरण कहलाता है।" सो उसका यह कथन इसलिए संगत नहीं है; क्योंकि जन्म और मरण जीव का होता है। इसलिये जीव की योग्यता के आधार पर जहाँ मरण विवक्षित होता है, वह काल मरण कहलाता है, क्योंकि जीव ने स्वयं अपनी योग्यता के आधार पर अपनी वर्तमान पर्याय को बदल कर अपनी अगली पर्याय को ग्रहण किया। इसलिये भुज्यमान आयु कर्म का उदय आदि भी उसके अनुकूल रहता है, किन्तु जहाँ आयु-कर्म के अपवर्तनपूर्वक जीव वर्तमान पर्याय को बदलकर अगली पर्याय को ग्रहण करता है, वहाँ निमि-पने की अपेक्षा अकालमरण या कदलीघातमरण कहा जाता है। यह आगम व्यवस्था है। तत्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र में अकाल मरण की आयुकर्म के अपवर्तन के आधार पर ही व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, वहाँ आत्मा की योग्यता के आधार पर अकालमरण की व्यवस्था दृष्टि-गोचर नहीं होती। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि आत्मा की मात्र योग्यता के आधार पर विचार करते हैं तो वह कालमरण ही है और उसमें निमित्त होने वाले कर्म की अपवर्तनीय योग्यता के आधार पर यदि विचार करते हैं तो वही कालमरण अकालमरण कहलाता है। इस प्रकार कालमरण और अकालमरण में आगम के अनुसार वास्तव में भेद नहीं है, यह समीक्षक को समझ लेना चाहिये।

कथन २८ का समाधान:— कार्यपने की अपेक्षा बाह्य वस्तु को कारण कहना असद्भूत व्यवहार ही है — इस सम्बन्ध में स० पृ० ७७ में समीक्षक लिखता है कि "पूर्व पक्ष के अनुसार निमित्त व्यवहार उसी वस्तु में होता है, जो उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक

होती है, जब कि उत्तरपक्ष मानता है कि — उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक न होते हुए भी बाह्य वस्तु में निमित्तव्यवहार होता है।" सो समीक्षक के इस वक्तव्य पर विशेषरूप से जब ध्यान देते हैं तो यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आगम में व्यवहार पद का अर्थ ग्रहण किया गया है, यह समीक्षक को ज्ञात ही नही जान पड़ता। यदि ज्ञात है तो वह अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये बदल कर उसका दूसरा अर्थ ग्रहण कर रहा है। वस्तुतः यहां व्यवहार पद से असद्भूत व्यवहार लिया गया है और यह किसी में तभी घटित होता है, जब एक वस्तु के गुणधर्म का अन्य वस्तु में आरोप किया गया हो। मात्र कालप्रत्यासत्तिवश जो अन्य द्रव्य, कार्य द्रव्य का अविनाभावी होता है, सूचकपने की अपेक्षा उसमें निमित्त व्यवहार कर लिया जाता है। और सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा वही कार्य आरोपित करके बाह्य निमित्त का भी कह दिया जाता है। बाह्य निमित्त वास्तव में दूसरे के कार्य में न सहायता करता है और न वह वस्तुतः उसका कारण ही है। कारणपने का तो मात्र उसमें काल-प्रत्यासत्ति वश व्यवहार ही किया जाता है। इस प्रकार इतने स्पष्टीकरण से समीक्षक के प्रथम मूल प्रश्न का जो हमने प्रथम, द्वितीय, तृतीय दौर में उत्तर दिया है, वह न केवल समीचीन है; अपितु आगम सम्मत भी है। इसलिये समीक्षक जो बारबार यह लिखता है कि "यह हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं है" सो उसका ऐसा बारबार लिखना केवल पाठकों के मन में दिशाभ्रम पैदा करना ही ज्ञान पड़ता है, अन्य कोई उसका दूसरा प्रयोजन नहीं ज्ञान पड़ता; क्योंकि संसारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गति परिभ्रमण में द्रव्य कर्म का उदय एक कालप्रत्यासत्तिवश निमित्त मात्र है, यह जो हमारा प्रारंभिक उत्तर था वह आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। उसमें बदल करने की कोई जरूरत नहीं है।

आगे स. पृ. ८० पर समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "पूर्वपक्ष का इतना कहना अवश्य है कि यद्यपि पुरुषार्थ हीन जीव ही होता है, लेकिन कर्मोदय की सहायता मिलने पर होता है। इसी तरह यद्यपि जीव ही उत्कृष्ट पुरुषार्थी होता है, लेकिन कर्मोदय की मंदता का संयोग मिलने पर ही होता है"। सो इस विषय में हमारा इतना ही कहना है कि कर्मोदय की तीव्रता-मंदता उसका (कर्म का) अपना परिणाम है और जीव का पुरुषार्थहीन या उत्कृष्ट पुरुषार्थी होना उसका अपना परिणाम है। दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। वे अपने परिणाम के स्वयं पर निरपेक्ष होकर कर्ता हैं। अविनाभाव सम्बन्धवश असद्भूत व्यवहारनय से ऐसा कहा जावे, पर समीक्षक का उक्त प्रकार का कथन करना परमार्थ नहीं है।

कर्मोदय और पुरुषार्थः—

आगे समीक्षक जो यह मानता है कि कर्मोदय की तीव्रता में होने वाला पुरुषार्थ आत्म-कल्याण का कारण है। सो यह कथन भी परमार्थ को स्पर्श नहीं करता। व्यवहार भी ऐसा नहीं है, क्योंकि कर्मोदय की मंदता भी बनी रहे और जीव आत्मकल्याण के मार्ग में न लगे और कर्मोदय की तीव्रता भी बनी रहे और जीव आत्म कल्याण के मार्ग में लगा रहे, क्वचित् कदाचित् यह सम्भव है। उदाहरणार्थ गजकुमार मुनिराज के ऊपर घोर उपसर्ग हुआ और उनके असाता वेद-नीय की तीव्र उदय उदीरणा भी बनी रही, फिर भी वे अपने आत्मकल्याण के कार्य से च्युत नहीं हुए।

कथन २९ का समाधानः—इस कथन में समीक्षक ने "प्रेरक कारण के वल से किसी द्रव्य में कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है, "यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसके समर्थन में वह इन तीन हेतुओं को देता है—

१. उसका कहना कि प्रवचनसार में आ.अमृतचंद्र देव ने जो कालनय और अकालनय तथा नियतनय-अनियतनय का कथन किया है, इससे सिद्ध होता है कि प्रेरक कारण के वल से कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है।

२. प्रत्यक्ष से भी ऐसा देखा जाता है कि प्रेरक कारण मिलने पर कार्य आगे-पीछे कभी भी हो जाता है।

३. तथा किसी ने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है कि कौन कार्य किसमें कब हो, इन तीनों को वह नियत समय को छोड़कर उसके आगे-पीछे होने में कार्य के अपने पुष्ट प्रमाण मानता है।

इस विषय में आगम क्या है, इसका हम सर्वप्रथम उल्लेख कर देना चाहते हैं। तत्वार्थ-राजवार्तिक अ. ५ सूत्र १२ की व्याख्या करते हुए आ. अकलंकदेव लिखते हैं कि आकाश अन्य द्रव्यों का आधार है, यह व्यवहारनय (असद्भूत व्यवहारनय) की अपेक्षा कहा गया है। परमार्थ से देखा जावे तो सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठ ही हैं। इसलिये आकाश अन्य द्रव्यों का आधार है और अन्य द्रव्य आधेय हैं, यह नहीं वनता। जैसे वहाँ कहा भी है—

परमार्थतयात्मवृत्तित्वात् ।।५।। एवंभूतनयादेशात् सर्वद्रव्याणि परमार्थतयात्मप्रतिष्ठत्वादा धाराधेयाभावः।"

परमार्थ से सभी द्रव्य अपने में ही रहते हैं। ५। एवंभूतनय के आदेश से सव द्रव्य पर-मार्थ से आत्मप्रतिष्ठ हैं, इसलिये आधार-आधेय भाव का अभाव है।

तव यह प्रश्न उठा है कि यदि ऐसा है तो परस्पर आधार-आधेय भाव का कथन आया है। ऐसी अवस्था में सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठ हैं, यह कहना योग्य प्रतीत नहीं होता। इसके उत्तर स्वरूप वहाँ लिखा है। —

अन्योन्याधारताव्याघात इति चेन्न, व्यवहारतस्तत्सिद्धेः ।।६।। स्यान्मतं यदि सर्वाणि द्रव्याणि परमार्थतया स्वात्मप्रतिष्ठानि, ननु यदुक्तं वायोराकाशमधिकरणं, उदकस्य वायुः पृथिव्या उदकं, सर्वजीवानां पृथिवी, अजीवा जीवाधाराः जीवाश्चाजीवाधाराः कर्मणामधिकरणं जीवाः जीवानां कर्माणि, धर्माधर्मकाला आकाशाधिकरणा इत्येतस्यान्योन्याधारताया व्याघात इति? तन्न, किं कारणं, व्यवहारतः तत्सिद्धेः। सर्वमिदमुक्तं अन्योन्याधारत्वं व्यवहारनयवक्तव्यबललाभादेशात् सिद्ध्यति। व्यावहारिकमेतत् आकाशे वातादीनाभवगाह इत्याधारकल्पनायामनवस्थाप्रसंग इति। परमार्थतस्तु आकाशवत् वातादीन्यपि स्वात्माधिष्ठानानि।

अन्योन्याधारता का व्याघात होता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि व्यवहारनय से उसकी सिद्धि होती है ।। ६ ।। स्यात् कोई कहे कि यदि सव द्रव्य परमार्थ से आत्मप्रतिष्ठ हैं तो जो यह कहा गया है कि वायु का आकाश अधिकरण है, जल का वायु अधिकरण है, पृथ्वी का जल अधिकरण है, सव

जीवों का पृथिवी अधिकरण है, अजीव जीवों के आधार से रहते हैं और जीवअजीवों के आधार से रहते हैं, कर्मों का अधिकरण जीव है, जीवों का अधिकरण कर्म हैं, धर्म-अधर्म और काल का अधिकरण आकाश है, इस प्रकार परस्पर की आधारता का व्याघात होता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्यवहारनय से अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय से उसकी सिद्धि होती है। जो यह सब परस्पर की आधारता कही गई है, वह व्यवहारनय अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय के कथन के बल से सिद्ध होती है। यह व्यावहारिक कथन है कि आकाश में वायु आदि का अवगाह है, क्योंकि आधारान्तर की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसंग आता है। परमार्थ से तो आकाश के समान वायु आदि भी स्वप्रतिष्ठ ही हैं।

यह आधार आधेय के भाव के विषय में आगम का कथन है। निमित्त नैमित्तिक भाव के विषय में भी इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये, क्योंकि आधार-आधेय भाव निमित्त-नैमित्तिक भाव का एक भेद है। इससे यह सिद्ध होता है कि परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य नित्य रहकर भी परिणाम स्वभाव वाला होने के कारण एक पर्याय से दूसरी पर्याय को प्राप्त होता है। इसी को असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा किसके निमित्त से यह हुआ, यह व्यवहार किया जाता है। इसीलिये व्यहारनय से बाह्य निमित्त एक पर्याय से दूसरी पर्याय का सूचक होने से उसमें उक्त प्रकार का व्यवहार किया जाता है। यह वस्तु स्थिति है। इसी को ध्यान में रखकर समयसार में यह वचन उपलब्ध होता है—

नास्ति सर्वोपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्व संबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ।।२००।।

परद्रव्य और आत्मा में कोई सम्बन्ध (आधार-आधेय भाव, निमित्त-नैमित्तिकभाव, विशेषण विशेष्यभाव आदि) नहीं है। तब फिर उनमें कर्त्ता-कर्म सम्बंध कैसे हो सकता है? इस प्रकार जहाँ कर्त्ता-कर्म सम्बंध नहीं है, वहाँ आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है?

इसलिये जो समीक्षक बाह्य निमित्त को उसके कार्य में व्यवहार से सहायता करने की अपेक्षा निमित्त कारण मानता है, उसका अर्थ होता है कि वास्तव में सहायता तो नहीं करता। वह सहायता करता है, यह कथनमात्र है, जो कालप्रत्यासत्तिवश किया जाता है।

इस प्रकार इस कथन को ध्यान में रखकर समीक्षक ने अपने प्रयोजन की सिद्धि में जो हेतु दिये हैं, वे निरर्थक जान पड़ते हैं, ऐसा यहाँ समझना चाहिये। अतः उनके आधार से अलग-अलग विचार नहीं कर रहे हैं। इतना अवश्य है कि जो प्रवचनसार में कालनय, अकालनय तथा नियतिनय अनियतिनय का कथन दृष्टिगोचर होता है, वहाँ पर इन नयों का किस अपेक्षा से विवेचन किया गया है, इसका स्पष्टीकरण यहाँ पर हम अवश्य कर देना चाहते हैं। यथा —

समयसार गाथा ७६ को आधार बनाकर उसकी आत्मख्याति टीका में कार्य को तीन प्रकार निरूपित किया गया है। प्राप्यकार्य, विकार्यकार्य और निर्वर्त्य कार्य। इनमें से प्राप्यकार्य का कथन नियत काल की विवक्षा में किया गया है, क्योंकि पर्याय योग्यता के आधार पर प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय नियत काल में ही होती है, किन्तु उसी का परसापेक्ष अर्थात् बाह्य निमित्त की अपेक्षा जब कथन करते हैं तो वही पर्याय कालनय से भिन्न पर के निमित्त से हुई कही जाती है। यही कारण है कि वही प्राप्यकार्य पर की अपेक्षा विकार्यकार्य कहलाता है। प्रवचनसार में इन दोनों नयों का जो

स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, तो उससे भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है। आम को स्वभाव दृष्टि से यदि देखा जावे तो वह उष्ण काल में ही पकता है, किन्तु उसी को पकाने के लिए उष्ण काल के स्थान पर प्रयोगकृत उष्णता का भी प्रयोग कर लिया जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कालनय की अपेक्षा प्रत्येक कार्य अपने-अपने नियत काल में ही होता है। फिर भी कृत्रिम उष्णता के समान बाह्य निमित्त की अपेक्षा उसी को (काल को गौण कर) अन्य कारण से यह कार्य हुआ - यह कहा जाता है।

इसी प्रकार नियतिनय और अनियतिनय का स्वरूप भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि नियतिनय में नियत स्वभाव विवक्षित रहता है और अनियतिनय में परसापेक्ष स्वभाव विवक्षित रहता है। दोनों सप्रतिपक्ष नययुगल हैं। अतः अस्तिनय और नास्तिनय के इस प्रतिपक्षनय युगल के समान ये दोनों नययुगल भी एक ही काल में, एक ही वस्तु में विवक्षा भेद से लागू पड़ते हैं, यह हम पहले ही शंका एक के तृतीय दौर में पृ. ४५ में स्पष्ट कर आये हैं फिर भी समीक्षक ऐसे स्पष्ट कथन को स्वीकार न कर अपनी ज़िद पर अड़ा हुआ रहकर अपनी गलत मान्यता की पुष्टि में इन सप्रतिपक्ष नय युगलों का उपयोग कर रहा है, इसका हमें आश्चर्य है।

आगे स. पृ. ८८ आदि पर समीक्षक ने जितनी भी बातें लिखी हैं, वे सब केवल ग्रंथ का कलेवर बढ़ाने वाली ही हैं। मात्र उनसे जो कर्म के बन्ध होने पर बन्धावली के बाद उत्कर्षण आदि की चर्चा की है, तो ऐसा लगता है कि समीक्षक इस विषय में हमारे कथन को पूरी तरह से स्वीकार करके भी अपना यह आग्रह कायम रखना चाहता है कि "प्रेरक कारण का कार्य किसी भी वस्तु में बिना उपादान शक्ति के कार्य को निष्पन्न नहीं करता है, केवल उपादान शक्ति विशिष्ट वस्तु में होने वाली कार्योत्पत्ति के प्रति प्रेरक कारण का कार्य उस वस्तु को प्रेरणा प्रदान करता है और उदासीन कारण का कार्य उपादान शक्ति विशिष्ट वस्तु यदि कार्यरूप परिणत होने के लिए तैयार है तो उसे कार्यरूप परिणत होने के अवसर पर अपना सहयोग प्रदान करता है, अर्थात् प्रेरक कारण के योग से कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है और उदासीन कारण यद्यपि कार्य आगे-पीछे तो नहीं करा सकता है, परन्तु वह कार्यरूप परिणत होने के लिए तैयार उपादान को कार्यरूप परिणति में सहयोग प्रदान किया करता है।" (स. पृ. ९०)

प्रकृत विषय में यह समीक्षक का वक्तव्य है। इसे पढ़ने से विचार के लिये ये बात सामने आती है —

(१) प्रेरक कारण वस्तु में उपादान की भूमिका में आये बिना कार्य को निष्पन्न नहीं करता।
(२) प्रेरक कारण उपादान शक्ति युक्त विशिष्ट वस्तु में कार्योत्पत्ति के लिये मात्र प्रेरणा करता है।
(३) इस कारण प्रेरक कारण के बल पर कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है।

आगे हम तीनों बातों को ध्यान में रखकर क्रम से विचार करते हैं —

१. (क) समीक्षक के उक्त कथन से यह जान पड़ता है कि उपादान शक्ति के बिना केवल प्रेरक कारण की उत्पत्ति नहीं होती। अतएव प्रकृत में उपादान शक्ति क्या है, यह विचारणीय हो जाता है। विचार के लिये हम यह तो मान लेते हैं कि वह जो कुछ भी लिखता है, उसे वह आगम

की प्रमाण मानकर ही लिखता होगा, अत. हमें दोनों पक्षों के लिये आगम के आधार से उपादान के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

"तत्र ऋजुसूत्रनयार्पणात्तावदुपादेय क्षण एवोपादानस्य प्रध्वंसः"

(अष्ट स. पृ. १०१)

ऋजुसूत्रनय की विवक्षा में तो कार्य के क्षण में ही उपादान का प्रध्वंस है।

इससे ज्ञात होता है कि अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य का नाम ही उपादान है और अव्यवहित उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य का नाम ही उपादेय है। जैसा कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है —

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं च्चिय कज्जं हवे णियमा॥

उक्त गाथा का अर्थ इसके पूर्व लिखा ही है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अस्टसहस्री-कारिका ५८ की टीका में यह स्पष्ट रूप से सूचित किया गया है कि उपादान का पूर्वाकार रूप से क्षय ही कार्य का उत्पाद है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उपादान और कार्य में एक समय का ही भेद है।[1]

इस प्रकार उपादान का लक्षण सुनिश्चत हो जाने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जैन शासन में प्रेरक कारण नाम का कोई कारण ही नहीं है। कथन में किसी को प्रेरक कारण कहना और किसी को उदासीन कारण कहना अन्य वात है। ऐसे कथन में प्रयोजन ही दूसरा रहता है। कर्मशास्त्र के अनुसार भी उपादान का यही लक्षण फलित होता है।

(ख) कर्मशास्त्र के अनुसार उदयावलि में आये हुए कर्म का न तो उत्कर्पण होता है, न अपकर्षण होता है और न संक्रमण ही होता है। इतना अवश्य है कि अगले समय में मान, माया और लोभरूप परिणाम न होकर यदि आत्मा क्रोधरूप परिणाम करने वाला है तो उस मान, माया और लोभ कषायरूप कर्म के परमाणु स्वयं ही स्तिवुक संक्रमण के द्वारा क्रोधरूप परिणम जाते हैं और अगले समय जब आत्मा क्रोध कषाय रूप परिणमता है, तब क्रोध कषायरूप कर्म के परमाणु नियम से उदयरूप रहते हैं। साथ ही उस समय क्रोध कषाय की एक अपवाद को छोड़कर नियम से उदीरणा होती है। जितने भी सप्रतिपक्ष कर्म हैं उनकी निरन्तर यही भूमिका वनती रहती है।

(ग) आयु कर्म की एक प्रकृति का अन्य प्रकृति में संक्रमण नहीं होता है, इसलिये जब यह जीव वर्तमान आयु का उपभोग करते हुए परभव सम्बंधी आयु का त्रिभाग में बन्ध करता है, तब उस समय से लेकर शेष भुज्यमान आयु उस वध्यमान आयु का आबाधाकाल वन जाता है। इसके बाद विष का योग मिलें, हथियार का वार हो, यहां तक कि श्वासोच्छ्वास का निरोध होने का भी प्रसंग आ जावे तो भी भुज्यमान आयु का जितना काल शेष रहा, उसका क्रमसे उपभोग किये विना उस जीव का मरण नहीं होता। यह एकान्त नियम है। षट्खंडागम जीवट्ठाण की चूलिका में इस नियम को स्पष्ट करते हुए भगवान पुष्पदंत-भूतवली ने स्वतंत्ररूप से दो सूत्रों की रचना की है। उनमें से प्रथम सूत्र है —

आवाधा ॥२४॥ जी. चू. पृ. १६८ ॥

---

१. "उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एवं"

इसका अर्थ है पूर्वोक्त आबाधा काल के भीतर निषेक स्थिति में बाधा नहीं होती। इसका विशेष खुलासा करते हुए उसकी धवला टीका में बतलाया है —

जथा णाणावरणादिसमयबद्धाणं बंधावलिवदिक्कंताणं ओकड्डण परपयंडिसंकमेहि बाधा अत्थि तथा आऊस्स ओकड्डण-परपयडिसंकमादीहि बाधाभावपरूवणट्ठं विदियवारमाबाधाणिद्देसादो।

जिस प्रकार बंधावलि के बाद ज्ञानावरणादि कर्मों के समय प्रबद्धों में अपकर्षण और परप्रकृति संक्रमण के द्वारा बाधा होती है, उस प्रकार आयुकर्म के आबाधकाल के पूर्ण होने तक अपकर्षण और परप्रकृति संक्रमण आदि के द्वारा बाधा के अभाव का कथन करने के लिए दूसरी बार "आबाधा" इस सूत्र की रचना की है।

इसी अर्थ सूचित करने के लिये २८ नं. का सूत्र पृ. १७१ में आया है, उसका खुलासा करते हुए भी वही बात कही गई है। जो सूत्र २४ में कह आये हैं।

यह तो समीक्षक भी जानता है कि जो अन्तःकृत केवली होते हैं, उनके ऊपर घोर उपसर्ग होने पर भी उनका अकाल मरण नहीं होने से उनकी आयु में निषेधक हानि द्वारा स्थिति नहीं घटती।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य कारण मिलने पर अपकर्षण द्वारा उन्हीं कर्मों की निषेक हानि द्वारा स्थिति घटती है, बन्धकाल में जो कर्म निकाचित बन्ध, निधत्तिबंध और उपशमकरणरूप बन्ध को प्राप्त नहीं होते।

इसप्रकार उपादान और कर्मशास्त्र के इन नियमों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक में ऐसा कोई भी सामर्थ्यवान बाह्य पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसके बल पर उक्त प्रकार से उपादान अवस्था को प्राप्त हुआ द्रव्य अगले समय में कार्यरूप न परिणम कर आगे-पीछे कभी कार्यरूप परिणमे। मिथ्याज्ञान के बल से कोई ऐसी कल्पना अवश्य कर सकता है; पर ऐसी कल्पना की किसी भी आगम से त्रिकाल में पुष्टि होना संभव नहीं है।

इसप्रकार इतने विवेचन से यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जिसे समीक्षक प्रेरक कारण कहता है वह वस्तु में उपादान शक्ति के बिना कार्य को निष्पन्न नहीं करता।

२. समीक्षक का दूसरा कहना यह है कि प्रेरक कारण उपादान शक्ति युक्त विशिष्ट वस्तु में कार्योत्पत्ति के लिये मात्र प्रेरणा करता है। सो यहाँ देखना यह है कि जिस समय उपादान कार्यरूप परिणाम रहा है, उस समय वह (प्रेरक कारण) प्रेरणा करता है या उपादान शक्ति जब कार्यरूप नहीं परिणम रही है, तब वह प्रेरक कारण उसे (उपादान को) अपनी प्रेरणा द्वारा कार्यरूप परिणमा देता है। ये दो प्रश्न हैं, आगे इनके आधार से विचार किया जाता है —

(क) जब उपादान कार्यरूप परिणाम रहा है, तब अन्य के द्वारा प्रेरणा करने का कोई सवाल ही नहीं उठता। उपादान स्वयं कार्यरूप परिणाम रहा है — इसी बात को ध्यान में रखकर समयसार गाथा १२१—१२५ की आत्मख्याति टीका में कहा गया है —

स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, नहि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते।

जब उपादान कर्ता होकर स्वयं अपने कार्यरूप नहीं परिणम रहा है, तब उसे अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ अपने कार्य में अन्य की अपेक्षा नहीं करतीं।

(ख) अब दूसरी बात, सो जब उपादान कर्ता होकर स्वयं नहीं परिणमता तो इसका अर्थ होता है कि उसमें उस समय स्वयं परिणमने की शक्ति नहीं है और जो स्वयं परिणमन की शक्ति नहीं रखता, उसको अन्य प्रेरक कारण परिणमा भी नहीं सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर समयसार गाथा ११६–१२५ में भी कहा है —

न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।

जिसमें जो शक्ति स्वतः नहीं होती है, उसे अन्य कोई कर नहीं सकता।

प्रेरक कारण कार्य की उत्पत्ति के लिये प्रेरणा करता है, यह भी जो समीक्षक कहता है वह भी उक्त कथन पर दृष्टिपात करने से मिथ्या ठहर जाता है।

(३) समीक्षक प्रेरक कारण के बल पर कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है, यह कहता है तो यह कहना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जैन शासन में जब प्रेरक नाम का कोई कारण ही नहीं है, ऐसी अवस्था में उसके बल पर कार्य के आगे-पीछे होने का सवाल ही नहीं उठता।

कार्य-कारण भाव की दृष्टि से देखने पर भी काल के जितने समय हैं, उतने ही काल सहित प्रत्येक द्रव्य के कार्य हैं। इसलिये जिस काल में जिस कार्य के होने का नियम है, उस काल में वह कार्य स्वयं ही नियम से होता है, यह अवस्था बन जाती है। बाह्य कारण का कथन किस काल में कौन कार्य हुआ, इसकी सूचना मात्र के लिये ही किया जाता है। ऋजुसूत्रनय से देखा जावे तो अपने-अपने काल में कार्य स्वयं होता है। उसकी सत्ता परकी अपेक्षा से नहीं है। इसके लिये समीक्षक को दर्शन प्रभावक, आद्य स्तुतिकार स्वामी समंतभद्र द्वारा रचित आप्तमीमांसा कारिका ७५ की अष्टसहस्री टीका के इस वचन पर दृष्टिपात कर लेना चाहिये —

न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम् उभयासत्वप्रसंगात्।

कर्ता का स्वरूप कर्म सापेक्ष नहीं है। उसी प्रकार कर्म का स्वरूप कर्तृ सापेक्ष नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दोनों के असत्व का प्रसंग आता है।

यह वस्तु स्थिति है। इसे ध्यान में रखकर ऋजुसूत्र नय से हम यह भी कह सकते हैं कि कार्य का स्वरूप उपादान कारण सापेक्ष नहीं है। इसी प्रकार उपादान कारण का स्वरूप कार्यसापेक्ष नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दोनों के अभाव होने का प्रसंग आता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इन दोनों का व्यवहार परस्पर सापेक्ष नहीं होता, क्योंकि इन दोनों की सिद्धि एक दूसरे के आधार से होती है।

अब रही बाह्य निमित्त की बात, सो कोई भी वस्तु अन्य द्रव्य के किसी भी कार्य का स्वरूप से कारण नहीं हुआ करता। मात्र कालप्रत्यासत्ति वश कारण न होने पर भी प्रयोजन को ध्यान में रखकर उसमें कारणपने का व्यवहार कर लिया जाता है।

खा. त. च. पृ. ४६ प्रवचनसार के परिशिष्ट में कहे गये ४७ नयों के आधार पर जो हमने वक्तव्य दिया था उसे स. पृ. ८४ में समीक्षक यद्यपि स्वीकार तो कर लेता है, परन्तु उन ४७ नयों में कालनय, अकालनय और नियतिनय, अनियतिनय के आधार पर जो व्याख्या प्रस्तुत करता है, वह इस स्वीकृति के विरुद्ध होने से स्वीकार करने योग्य नहीं मानी जा सकती; क्योंकि जहाँ उन नय वचनों से यह फलित होता है कि कालनय का जो विषय है, वही विवक्षा भेद से अकाल नय का विषय है, किन्तु समीक्षक इसे स्वीकार न कर अपनी कल्पित मान्यता को ही दोहराता जाता है, जिसकी आगम से त्रिकाल में पुष्टि नहीं होती। लोक में ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो अपने नियत कालको छोड़कर वाह्य निमित्त के वल से आगे-पीछे किया जा सकता है। समीक्षक अपने मत के समर्थन में जो षड्गुणि हानि-वृद्धिरूप पर्यायों का नियत क्रम से होना स्वीकार करके स्व-पर प्रत्यय पर्यायों को वाह्य निमित्त के वल से जो नियत-क्रम से और अनियत क्रम से स्वीकार करता है, सो इस सम्वन्ध में हमारा इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि जिसरूप में समीक्षक ने दोनों प्रकार की पर्यायों को स्वीकार किया है, वह आगम का अभिप्राय नहीं है। इसकी चर्चा हम पहले विस्तार से कर आये हैं,इसलिये यहाँ उनकी विशेष रूप से चर्चा नहीं करना है। (स. पृ. ८४–८५)

इसके वाद का शेष कथन पुनरुक्त होने से उसका विचार करना हमें इष्ट प्रतीत नहीं होता। उसकी चर्चा करें भी तो हम भी पुनरुक्त दोष के भागी होंगे।

कथन ३० का समाधान : — स. पृ. ६१ में समीक्षक सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहार नय इन दोनों नयों के उपचरित और अनुपचरित भेदों को स्वीकार करके लिखता है कि वे "अपने-अपने ढंग से वास्तविक हैं, जिनका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इनमें से कोई भी भेद आकाश -कुसुम के समान कल्पनारोपित नहीं है। पूर्व में उद्धत आ. विद्यानन्दि के तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १५१ के कथन में उक्त सभी प्रकार के व्यवहार नयों को पारमार्थिक कहकर उनकी कल्पना-रोपितता का निषेध किया गया है।"

यह समीक्षक का वक्तव्य है। अव यहाँ यह देखना है कि जो कार्य के वाह्य निमित्त हैं, उन्हें हम किस रूप में निमित्त मानते हैं और किस रूप में उन्हें कल्पनारोपित मानते हैं। निमित्त मानने का कारण एक कालप्रत्यासत्ति ही है। ऐसा नियम है कि जिस समय एक द्रव्य विवक्षित कार्य करता है तो उस समय उसके नियत वाह्य निमित्त एक या अनेक अवश्य होते हैं। इसी वात को स्पष्ट करते हुए उसी तत्वार्थवार्तिक में कहा है —

यत्तो मृदःस्वयमन्तर्घटभवनपरिणामामुखे सति दण्ड-चक्रपौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति।

मिट्टी के स्वयं भीतर से घट होने रूप परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुष सम्बन्धी प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं।

इस प्रमाण से उन तथ्यों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है —

(१) मिट्टी पर की अपेक्षा लिए विना स्वयं ही घटरूप परिणमन के सन्मुख होती है।

(२) तभी दण्ड चक्र और कुम्भकार का व्यापार उसमें निमित्त व्यवहार को प्राप्त होता है।

(३) इससे इन दोनों काल प्रत्यासत्ति का समर्थन होकर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय कार्य है, उस समय की अन्य बाह्य पदार्थ में अविनाभाव सम्बन्ध वश निमित्त-व्यवहार है।

इसप्रकार उक्त प्रमाण से दो द्रव्यों में कार्यकरण भाव की व्यवस्था कैसे वनती है – यह स्पष्ट हो जाता है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ. १५१ में भी इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है और इसी आधार पर उसे दो में स्थित कार्यकारण भाव को परमार्थ भूत कहकर कल्पनारोपितपने का निषेध किया गया है।

अब हम बाह्य निमित्त को कल्पनारोपित किस आधार पर मानते हैं, इसे सप्रमाण स्पष्ट किया जाता है। आलाप पद्धति में नौ प्रकार के उपचार का कथन करते हुए लिखा है कि —

द्रव्ये द्रव्योपचारः, पर्यायैः पर्यायोपचारः, गुणे गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योपचारः, गुणे पर्यायोपचारः, पर्याये द्रव्योपचारः, पर्याये गुणोपचारः, इति नवविधोऽसद्भूतं व्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः।

एक द्रव्य में अन्य द्रव्य का आरोप करना यह द्रव्य में दव्योपचार है, द्रव्य में गुण का आरोप करना यह द्रव्य में गुणोपचार है; द्रव्य में पर्याय का आरोप करना यह द्रव्य में पर्यायोपचार है, गुण में द्रव्य का आरोप करना यह गुण में द्रव्योपचार है, गुण में अन्य गुण का आरोप करना यह गुण में गुणोपचार है, पर्याय में द्रव्य का आरोप करना यह पर्याय में द्रव्योपचार है, पर्याय में गुण का आरोप करना यह पर्याय में गुणोपचार है, पर्याय में अन्य पर्याय का आरोप करना यह पर्याय में पर्यायोपचार है। इस प्रकार असद्भूत व्यवहारनय का यह नौ प्रकार का विषय है।

अब यहाँ पर कार्यकारण भाव को ध्यान में रखकर एक उदाहरण दे रहे हैं — अव्यवहित पूर्व-पर्याययुक्त मिट्टी घट का उपादान (सद्भूत) निमित्त है, किन्तु इसके स्थान में जब यह कहा जाता है कि अमुक कुम्भकार को निमित्त कर मिट्टी घट बनी, तब यहाँ पर कुम्भकार मिट्टी का वास्तविक निमित्त तो नहीं है, फिर भी कालप्रत्यासत्तिवश उसमें (कुम्भकार में) उपादान (वास्तविक) निमित्त के स्थान पर घट की निमित्तता स्वीकार कर ली है। इस प्रकार कुम्भकार में निमित्तता आरोपित धर्म है। अतः उसमें निमित्तता असद्भूत होने पर भी कालप्रत्यासत्तिवश उसे निमित्तरूप में स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार कल्पनारोपित का यहाँ पर यही अर्थ लिया गया है। समीक्षक यद्यपि आकाश-कुसुम के समान कल्पनारोपित नहीं है यह अवश्य कहता है पर उससे यह पता नहीं चलता कि प्रकृति में उससे क्या अभिप्रेत है? यदि वह आकाश-कुसुम के समान कल्पनारोपित का अर्थ सर्वथा अभाव लेता है, सो ऐसा तो हमारा कहना है नहीं। हमारा कहना यह तो है कि कुम्भकार मिट्टी के कार्य में वास्तविक कारण नहीं है, आरोपित कारण है, इसलिये वह मात्र विकल्प का विषय है, क्योंकि कालप्रत्यासत्तिवश कुम्भकार घटकार्य का वास्तविक कारण तो नहीं है, क्योंकि वह घटरूप तो परिणमता नहीं है और उसने मिट्टी के घटरूप कार्य के होने में सहायता भी नहीं की है, क्योंकि मिट्टी स्वयं ही उसकी अपेक्षा किये बिना घटरूप परिणमती है, इसलिये कुम्भकार के घट कार्य की निमित्तता विकल्प से ही है, परमार्थ से नहीं। यही जिनागम का सार है और यही हमारा कहना है।

समीक्षक दोनों व्यवहारनयों के उपचरित और अनुपचरित के रूप में दो-दो भेद करके भी उन्हें जो अपने-अपने ढंग से वास्तविक मानना चाहता हैं, सो हम यहाँ यह नहीं समझ पाये कि उसके कथनानुसार वह अपना-अपना ढंग क्या है, जिससे उपचरित कथन को भी वास्तविक माना जावे। यदि समीक्षक कृपा करके उस "अपने-अपने ढंग को" स्पष्ट कर देता तो इससे तत्त्व निर्णय में सहायता मिलती। यह तो उसके मत में ऐसा कहना हुआ कि वास्तव में यह बात तो झूठ है, पर अपनें ढंग से वास्तविक हैं। तत्त्व निर्णय का यह तरीका तो नहीं है। अपने मत की रक्षा करना और बात है और तत्त्व निर्णय करना और बात है। (स० पृ० ९१)

आगे समीक्षक लिखता हैं कि "व्यवहारनय चाहे सद्भूत हो, असद्भूत हो, अनुपचरित हो या उपचरित हो – सभी रूपों में अपने-अपने ढंग से वास्तविक ही है अर्थात् कोई भी नय आकाश-कुसुम की तरह कल्पनारोपित नहीं हैं। यहाँ परमार्थ, वास्तविक या सद्भूत तीनों शब्दों से यही आशय ग्रहण करना है कि उक्त चारों प्रकार के व्यवहारनयों में से कोई भी नय कल्पनारोपित नहीं है।" यह समीक्षक का कहना है तथा वह इसकी पुष्टि में तीन प्रमाण देता है —

(१) जिस नय का जो विषय है, वह अन्य नय का विषय नहीं हो सकता। जैसे निश्चयनय नित्य को विषय करता है और व्यवहारनय अनित्य को विषय करता है। यदि निश्चयनय की अपेक्षा से भी द्रव्य को अनित्य कहा जायेगा तो व्यवहारनय तथा निश्चयनय में कोई अन्तर नहीं रहेगा।"

(२) "यदि व्यवहारनय के विषय को प्रामाणिक नहीं माना जायेगा तो व्यवहानय मिथ्या हो जायगा।"

(३) "एक द्रव्य के खण्ड या दो द्रव्यों का सम्बन्ध व्यवहारनय का विषय है। अतः दो द्रव्यों का सम्बन्ध होने के कारण निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध का कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है, निश्चयनय से नहीं।" (स० पृ० ९२)

अब यहाँ यह देखना है कि समीक्षक ने जो अपने कथन के सम्बन्ध में तीन प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे कहाँ तक ठीक हैं ?

(१) पहली बात तो यह है कि प्रत्येक द्रव्य द्रव्यार्थिकनय से नित्य है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य है, यह वस्तुस्थित है। इनमें से द्रव्य जैसे सत्स्वरूप है, वैसे पर्याय भी सत्स्वरूप है, कोई कल्पनारोपित नहीं है। फिर भी अध्यात्म में जो अनित्यता को व्यवहारनय का विषय कहा गया है, सो उसका प्रयोजन दूसरा है। पर इस पर से जितने भी व्यवहारनय हैं, उन सबके विषयों को परमार्थभूत मान लिया जाय तो ऐसा भी नहीं है। जो सद्भूत व्यवहारनय हैं, उसका विषय द्रव्य का एक अंश होने से है तो सद्भूत ही, पर उसमें पूरे द्रव्य का आरोप कर लेना यही व्यवहार है और इसीलिए अध्यात्म में द्रव्य का एक अंश सद्भूतव्यवहारनय का विषय माना गया है। परन्तु यह स्थिति असद्भूत व्यवहारनय की नहीं है। उसका विषय परमार्थभूत न होकर भी इष्टार्थ की सिद्धि में साधक होने से प्रयोजनवश उसे सम्यक्नय मान लिया गया है, निष्प्रयोजन नहीं। इसलिये समीक्षक ने जो असद्भूत व्यवहारनय को सम्यक्नय ठहराकर उसके विषय को भी परमार्थ भूत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, सो उसे, उसका दुःसाहस ही कहना चाहिए। असत् को असत् कहने

वाला ज्ञान ही अप्रमाण नहीं हुआ करता । अतएव उसका यह तर्क निःसार ही प्रतीत होता है कि यदि नय सम्यक् है तो उसका विषय भी परमार्थभूत ही होना चाहिये - यह कोई तर्क नहीं है। असद्भूत व्यवहारनय का विषय काल्पनिक होनेपर भी, उसे प्रयोजनवश ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण हो सकता है।

(२) क्रमांक १ में हम जो उत्तर दे आये हैं, वही यहाँ पर भी लागू होता है।

(३) समीक्षक ने 'एक द्रव्य के खण्ड या दो द्रव्यों का सम्बन्ध व्यवहारनय का विषय है" यह लिखा है। सो यहाँ उसे यह संशोधन कर लेना चाहिये कि एक द्रव्य के अंश को पूरा द्रव्य कहना – यह सद्भूत व्यवहारनय का विषय है और कालप्रत्यासत्तिवश एक द्रव्य या उसकी पर्याय को अन्य द्रव्य के कार्य का निमित्त कहना, यह असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। यहाँ अन्य द्रव्य या उसकी अन्य पर्याय में, अन्य द्रव्य के कार्य की वास्तविक कारणता नहीं है, फिर भी कालप्रत्यासत्तिवश उन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार कर लिया जाता है, इसलिये असद्भूत व्यवहारनय का विषय माना गया है।

स० पृ० ९३ में समीक्षक ने जो यह लिखा है "विवाद इस बात का है कि जहाँ उत्तरपक्ष ने किसी एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य की कार्य की अपेक्षा निमित्त व्यवहार करने के लिए कोई आधार मान्य नहीं किया है, वहाँ पूर्व पक्ष का (समीक्षक का) कहना है कि जहाँ किसी एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के कार्य की अपेक्षा निमित्त व्यवहार होता है, वहाँ वह निमित्त व्यवहार इस आधार पर होता है कि वह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य की उत्पत्ती में सहायक होने से कार्यकारी होता है, सो समीक्षक का यह कहना प्रकृत में इसलिये उपयोगी नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य के कार्य में दूसरा द्रव्य वास्तव में सहायक तो नहीं होता है। उसे जो दूसरे द्रव्य के कार्य में निमित्त माना गया है, सो वह कालप्रत्यासत्तिवश ही माना गया है, वास्तविक कारक होने की अपेक्षा से नहीं। निमित्त मानने का यही आधार है।

आगे समीक्षक ने जितना कुछ लिखा है वह दुहराना मात्र होने से हमने उस पर अलग-अलग विचार नहीं किया। आगे समीक्षक (स० पृ० ९४) यह तो स्वीकार कर लेता है कि "कुम्भकार घटोत्पत्ति में स्वरूप से कारण या कर्ता नहीं है, व घटस्वरूप से कुम्भकार का कार्य नहीं है।" तथापि उसका कहना यह अवश्य है कि कुम्भकार में घटोत्पत्ति के प्रति सहायक होने रूप से योग्यता का सद्भाव है और घट में कुम्भकार के सहायकत्व में उत्पन्न होने की योग्यता का सद्भाव है, अन्यथा घटोत्पत्ति में कुंभकार को निमित्त और घट को नैमित्तिक कहना असंभव हो जावेगा। "सो समीक्षक का यह कहना भी तथ्य की कसौटी पर कसने पर यथार्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि न तो परमार्थ से एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु में ही रहता है और न ही इस आधार पर कुंभकार को घटोत्पत्ति में निमित्त कहा ही गया है। कुंभकार को घटोत्पत्ति का जो निमित्त कहा गया है वह कालप्रत्यासत्तिवश उपचार से ही कहा गया है, अन्य कोई कारण नहीं। आगे समीक्षक ने इसी बात को दोहराकर जो अपने मत का समर्थन करने का उपक्रम किया है वह सब पुनरुक्त होने से अविचारितरम्य ही प्रतीत होता है।

कथन ३१ का समाधानः – समीक्षक का कहना है कि "हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम सभी प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्य की निष्पत्ति उपादान में ही हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है, फिर भी उपादान की उक्त कार्यरूप परिणति में निमित्त की अपेक्षा बराबर बनी रहती है, अर्थात् उपादान की जो परिणति आगम में स्व-पर प्रत्यय स्वीकार की गई है, वह परिणति उपादान की अपनी होकर भी निमित्त की सहायता से ही होती है। अपने आप (निमित्त की सहायता की अपेक्षा किये बिना) नहीं होती। चूँकि आत्मा के रागादिरूप परिणमन और चतुर्गति भ्रमण को आगम में उसका (आत्मा का) स्व-पर प्रत्यय परिणमन प्रतिपादित किया गया है, अतः वह परिणमन आत्मा का अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मों की सहायता से ही हुआ करता है। (स० पृ० २५)

यद्यपि समीक्षक के इस वक्तव्य का सयुक्तिक उत्तर प्रथम शंका के तीसरे दौर में ही दे आये हैं। यह हम वहाँ ही बतला आये हैं कि जैसे द्रव्यसत् और गुणसत् वस्तु के स्वरूप हैं, वैसे ही पर्यायसत् भी वस्तु का स्वरूप ही है। और पर्याय दूसरे की सहायता से उत्पन्न हो, फिर भी वह वस्तुमय हो, यह नहीं हो सकता। यद्यपि पर्याय के होने में किससे हुई – यह व्यवहार अवश्य किया जाता है, पर इसे (बाह्य निमित्त को) आगम में असद्भूत (उपचरित) ही माना गया है। वह होती तो अपने काल में स्वयं ही है, क्योंकि उसके होने में (उत्पत्ति में) अन्य की अपेक्षा नहीं होती। स्वयं ही द्रव्य अपने परिणाम स्वभाव के कारण पर्याय रूप परिणम जाता है, इसलिये परमार्थ से वह पर-निरपेक्ष ही होती है। जैसा कि समयसार के कलश से ज्ञात होता है—

> यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः।
> कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
> स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो।
> भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ।।२२०।।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के कार्य में परमार्थ से सहायक नहीं होता। मात्र असद्भूत व्यवहारनय से उसमें सहायकपने का व्यवहार किया जाता है। सो भी ऐसा मानने का मूल कारण कालप्रत्यासत्ति को ही जानना चाहिये। दूसरी बात यह है कि अपेक्षा विकल्प में हुआ करती है, वस्तु में नहीं।

समीक्षक ने अपने कथन में जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह द्रव्य को परिणाम स्वभाव के बल पर स्वरूप से कर्ता मानना ही नहीं चाहता। अन्यथा वह "यद्यपि कार्य की निष्पत्ति उपादान में ही हुआ करती है" इसकी जगह "यद्यपि उपादान कार्यरूप परिणमता है", इस भाषा का प्रयोग अवश्य करता, परन्तु वह पद-पद पर इस भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहता। इससे मालूम पड़ता है कि उसके हृदय में कोई गाँठ पड़ी हुई है, जिस कारण वह बुद्धिपूर्वक उक्त भाषा का प्रयोग नहीं करता। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह असद्भूत व्यवहार को परमार्थपना देना चाहता है, तभी तो वह बार-बार असद्भूत व्यवहारनय के कथन को परमार्थ

के कथन के रूप में समर्थन करते हुए नहीं अघाता और आश्चर्य इसका है कि इसमें वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को परमार्थ प्रत्यक्ष मानकर उसको संगत ठहराना चाहता है।

आगे स० पृ० ९६ में समीक्षक ने "स्वतः सिद्ध" का अर्थ अनादि अनंत किया है और इस आधार पर उसने द्रव्यसत् और गुणसत् को स्वतः सिद्ध स्वीकार कर लिया है, इसका हमें प्रसन्नता है; किन्तु इसी अर्थ में हमने पर्याय को स्वतः सिद्ध नहीं लिखा है, क्योंकि इसकी सिद्धि स्व और पर दोनों प्रकार से स्वीकार की गई है। हमने तो केवल "उपादान स्व है और अभेद विवक्षा में जो उपादान है वही उपादेय है। इसलिये वह अपने से, अपने में अपने द्वारा आप कर्ता होकर कर्मरूप से उत्पन्न हुआ इतना ही लिखा है, किन्तु समीक्षक ने इसे स्वीकार करके भी हमने पर्याय को भी स्वतः सिद्ध माना है, ऐसा हम पर आरोप कर रहा है, जबकि हमने अपने कथन में पर्याय को स्वतः सिद्ध अर्थात अनादि अनन्त लिखा ही नहीं है। हमारा तो यह कहना है कि प्रत्येक द्रव्य अपने कार्य को अपने स्वभाव परिणाम के कारण स्वयं अर्थात् पर की अपेक्षा किये बिना अपने आप उत्पन्न करता है। उसका अर्थ स्वतः सिद्ध अर्थात अनादि-अनन्त नहीं होता। इसे समीक्षक को भली भांति समझ लेना चाहिये।

इतना अवश्य है कि योग्यता की दृष्टि से प्रत्येक कार्य को ऋजुसूत्रनय से स्वतः सिद्ध माना भी जाय तो उसमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक कार्य की योग्यता द्रव्यदृष्टि से अनादि अनन्त होती है तथा पर्यायदृष्टि से सादि-सान्त होती है और इसीलिये आगम में उसे स्वतः सिद्ध भी स्वीकार किया गया है। उपादान से कार्य हुआ यह सद्भूत व्यवहार ही है।

समीक्षक ने (स० पृ० ९७ में) व्यवहारनय से बाह्य सामग्री को अयथार्थ कारण तो मान लिया है तथा इस बात को वह पहले भी (स० पृ० ४ में) स्वीकार कर आया है। फिर भी वह उसे अयथार्थ कारण मानते हुए भी अन्य द्रव्य के कार्य में उसकी सहायता को भूतार्थ भी मानता जाता है। इस प्रकार उसके कथन में यह जो विसंगति है उसका परिहार ब्रह्मा भी नहीं कर सकता है, हमारी क्या बिसात है? समाधान के मार्ग पर उसे स्वयं चलना होगा, उसमें हम व्यवहार से निमित्त हो सकते हैं।

आगे (स० पृ० ९७ से) समीक्षक ने व्यवहारनय की असद्भूतता के विषय में दोनों पक्षों के दृष्टिकोण में जो भेद की बात लिखी है सो व्यवहारनय यह सामान्यवचन है, उसका एक भेद असद्भूत व्यवहारनय भी है, वह स्वयं ही उसे यहीं स्वीकार कर रहा है।

क्रमांक (ग) के अन्तर्गत समीक्षक ने जो उपादान कारणभूत वस्तु को शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयनय का विषय लिखा है, सो आगम ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल ऐसा मानना एकान्त हो जायगा। वस्तुतः समर्थ उपादान न केवल द्रव्यरूप होता है और न केवल पर्यायरूप होता है, किन्तु उभयरूप ही होता है। दूसरे-शुद्ध निश्चयनय का विषय तो अनुपचरित और अभेदरूप होता है, उसे उपादान कहना युक्त नहीं है।

क्रमांक (छ) विभाग के अन्तर्गत समीक्षक ने असद्भूत व्यवहारनय के उपचरित और अनुपचरित भेदों का जो खुलासा किया है; वह ठीक नहीं है, क्योंकि आगम के अनुसार एकक्षेत्रावगाह में स्थित जो कर्म और नोकर्म हैं, वे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से जीव की संयोगी अवस्था होने

में निमित्त माने गये हैं। तथा भिन्न क्षेत्र में स्थित जो अन्य द्रव्य हैं और उनकी पर्यायें हैं, वे जीव की संयोगी पर्याय में उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त माने गये हैं। इतनी विशेषता है कि बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि होने पर ही उनमें निमित्तता स्वीकार की गई है। अन्यथा उनमें उपचरित निमित्तता भी नहीं बनती। यह इष्टानिष्ट बुद्धि सर्वत्र अनुभव में आती है; नहीं आवे तो भी वह रहती अवश्य है।

आगे (स० पृ० ९९ में) समीक्षक ने "कुम्भकार घट का कर्ता है" इस वचन को लेकर जो यह लिखा है कि "पूर्वपक्ष (समीक्षक) की मान्यता के अनुसार वह (असद्भूत व्यवहारनय का विषय) अपने ढंग से परमार्थ, वास्तविक और सत्य सिद्ध होता है," तो हम यह नहीं समझ पाये कि उसके मतानुसार यह "ढंग" क्या है, जिसके आधार पर वह असद्भूत व्यवहारनय के विषय को भी परमार्थ वास्तविक और सत्य सिद्ध करना है। लौकिक दृष्टि से कहे तो बात दूसरी है, क्योंकि लौकिक दृष्टि से जो जिसका नहीं होता, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश वह उसका कहा जाता है।

आगे हमने जो लिखा कि "कुंभकार यद्यपि घट का कर्ता नहीं होता, तथापि उसको घट का कर्ता कहने से इष्टार्थ अर्थात् निश्चयार्थ का ज्ञान हो जाता है, तो इतने मात्र कथन से कुंभकार घट की उत्पत्ति में परमार्थ से सहायक सिद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि यदि किसी एक वस्तु से दूसरी वस्तु की सूचना मिलती है, तो वह सूचना मात्र देने में कारण हुई। इतने मात्र से उसे अन्य के कार्य की क्रिया करने में परमार्थ में सहायक कैसे माना जाय? मिट्टी ने जो घट की उत्पत्तिरूप क्रिया की, वह तो कुंभकार की सहायता के बिना अकेले ही की है। आगम में इस विषय को स्पष्ट करते हुए सर्वत्र जो "स्वयं" पद आया है; वह इसी अर्थ में आया है। समीक्षक हमारे इस कथन को आकाश-कुसुम के समान लिखे या और जो उसके मन में आवे तो लिखता रहे, तब भी वस्तुस्थिति में कोई फरक नहीं पड़ता।

कथन ३२ का समाधान :—समीक्षक ने तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १५१ के "यदनन्तर[1]" इत्यादि......वचन के हमारे द्वारा किये गये अर्थ को असंगत बतलाते हुए लिखा है कि "सहकारी कारण के सद्भाव में भी बाधक कारण के उपस्थित हो जाने पर अथवा विवक्षित वस्तु में कार्य की उपादान शक्ति का अभाव रहने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है।" तथा इसके समर्थन में एक उदाहरण उसने १३वें गुणस्थान के प्रथम समय का देकर लिखा है कि "१३वें गुणस्थान के प्रथम समय में मोक्षमार्ग की पूर्णता हो जाने पर भी बाधक कारणभूत योग और अघातिया कर्मों का सद्भाव रहने के कारण तथा कुंभकार के घटानुकूल व्यापाररूप सहायक कारण के सद्भाव में भी उपादान शक्ति रहित बालू मिश्रित मिट्टी से घटोत्पत्ति नहीं होती है, अतः उक्त वचन का अर्थ यह करना चाहिए कि जिसके अनन्तर ही जो नियम से होता है, वह उसका सहकारी कारण है, और दूसरा कार्य है।"

तो समीक्षक का यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि तत्वार्थश्लोकवार्तिक के उक्त वचन में "जिसके अनन्तर जो नियम से होता है – यह कहा है, जबकि १३वें गुणस्थान के प्रथम समय में मोक्षमार्ग की पूर्णता नहीं होती, इसलिए उसकी पूर्णता न होने के कारण ही वहां बारहवें गुणस्थान

1. यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत् कार्यमिति।

के अनन्तर समय में मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। वाह्याभ्यन्तर कारणों की समग्रता हो और कार्य न हो, ऐसा नहीं होता। समीक्षक ने अपनी बुद्धि से यह मान लिया है कि १३वें गुणस्थान के प्रथम समय में मोक्षमार्ग की पूर्णता है, जब कि १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय में मोक्षमार्ग की पूर्णता होती है। जैसा कि तत्वार्थश्लोकवार्तिक (मूल) पृ. ७१ में भी कहा है-

निश्चयनयाश्रयणं तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्देव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिरत्नत्रयमिति।

निश्चयनय का आश्रय करने पर तो जिसके अनन्तर मोक्षकार्य की उत्पत्ति होती है वही अयोग केवली के अन्तिम समय में रहने वाला रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है।

समीक्षक १३ वें गुणस्थान के प्रथम समय में रत्नत्रय की पूर्णता होने पर भी मोक्ष की उत्पत्ति न होने का कारण जो प्रतिवंधक का सद्भाव मानता है, सो उसका ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि १३ वें गुणस्थान के प्रथम समय के वाद भी अघातिकर्मों का ध्वंस करने रूप से पूर्ण सम्यक्चारित्र का उदय होता है और तभी रत्नत्रय की पूर्णता बनती है और तभी वह मोक्ष कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, उसके पहिले नहीं। आगम में यथाख्यात चारित्र को जो पूर्ण कहा गया है, सो वह क्षायिकपने की अपेक्षा ही पूर्ण कहा गया है। वस्तुतः उसकी पूर्णता १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय में ही होती है, इसके पहले नहीं। इसलिए "१३ वें गुणस्थान के प्रथम समय में वाधक कारण के होने से मोक्षमार्ग की पूर्णता होने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होतीं है" यह जो समीक्षक ने विधान किया है, सो उसका ऐसा लिखना आगम से समर्थित नहीं होने के कारण मनीषियों के द्वारा ग्राह्य नहीं माना जा सकता। (त. श्लो. वा. पृ. ७० मूल)

समीक्षक ने धूल मिश्रित मिट्टी को स्थाल में रखकर अपने पक्ष के समर्थन में जो दूसरा उदाहरण दिया है, वह इसलिये युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वहां पर जब उपादान का ही अभाव हैं, तो ऐसी अवस्था में यह लिखना कि "यहां प्रतिवंधक कारण का सद्भाव होने से कार्य नहीं हुआ, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। समीक्षक का कहना तो यह है कि "वाह्य-आभ्यन्तर सामग्री के रहने पर भी यदि प्रतिवंधक कारण का सद्भाव हो तो कार्य नहीं होता, परन्तु जो उदाहरण उसने उपस्थित किया है, उसमें वह वाह्याभ्यंतर सामग्री की समग्रता दिखलाने में असमर्थ रहा। अतः यह उदाहरणाभास है, इसे अपने मत के समर्थन में उदाहरण मानना किसी भी प्रकार योग्या प्रतीत नहीं होता।

आगे समीक्षक ने अष्टसहस्री पृष्ठ १०५ का वचन[1] उपस्थित कर जो वाह्य वस्तु में कार्यकारिता के समर्थन करने का उपक्रम किया है, वह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आ. विद्यानन्द ने यह उपालंभ ऐसे सम्प्रदाय को दिया है, जो शब्द को सर्वथा नित्य मानकर भी तालु आदि के

---

1. तद्सामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?

निमित्त से शब्द की श्रुति तो स्वीकार करता है, फिर भी शब्द में विकृति नहीं मानता। हमें दुःख है कि वह ऐसे वचनों को भी उपस्थित कर अपने मत का समर्थन करना चाहता है।

खा. त. चर्चा पृ. ३८५ में जो हमने प्रमेयकमलमार्तण्ड के वचन को उद्धृत करके निमित्त कारणता का समर्थन किया है सो वह असद्भूत व्यवहारनय का वचन है। और असद्भूत व्यवहारनय से किसी निमित्त कारण को कार्यकारी कहने का अर्थ होता है कि वह वास्तव में कार्यकारी तो नहीं होता, मात्र असद्भूत व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है। (स. पृ. १०५)

कथन ३४ के सम्बन्ध में खुलासा :—खा. त. च. पृ. ५३ में समयसार गाथा १०५ की आत्मख्याति टीका में आये हुए "स तूपचार एव, न तु परमार्थः"॥ वाक्य का जो हमने अर्थ किया वही ठीक है। पं. प्र. जयचन्दजी छावड़ा ने भी इस वाक्य का यही अर्थ किया है। क्षुल्लक सहजानन्द (मनोहरजी वर्णी) महाराज ने भी यही अर्थ किया है। श्री प पन्नालालजी साहित्याचार्य ने भी लगभग यही अर्थ किया है। पं. पन्नालाल के शब्दों में फर्क है, किन्तु आशय में अन्तर नहीं है, क्योंकि जहां पूर्वोक्त विद्वानों ने विकल्प को उपचार कहा है, वहीं पं. पन्नालालजी ने उक्त प्रकार से कहने को उपचार कहा है। अतः समीक्षक ने "आत्मा द्वारा पुद्गल का कर्मरूप किया जाना यह उपचार ही है" जो यह लिखा है वह उक्त वाक्य का अर्थ नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य के पहिले "परेपामस्ति विकल्पः" यह वचन आया है। अतएव उक्त वाक्य में आये हुए "स" पद से "विकल्प" इस पद का ही अनुवर्तन होता है। इसीलिये इस पर से समीक्षक को जो अर्थ फलित करना चाहिये था, वह फलित नहीं होता, ऐसा यहां समझना चाहिये। (स. पृ. १०६-१०७)

आगे स. पृ. १०७ में समीक्षक ने जो यह लिखा है कि—"उपचरित की स्थिति भिन्न-भिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्मित होती है"ऐसा लिखकर इसकी सिद्ध में उसने तीन हेतु दिये हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) उसका कहना है कि "निमित्तकारण को कार्य के प्रति जो उपचरित कारण कहा जाता है उसमें हेतु यह है कि निमित्त कारण उपादान कारण की तरह कार्यरूप परिणत न होकर कार्योत्पत्ति में सहायक मात्र हुआ करता है।"

(२) "निमित्त कारण को कार्य के प्रति जो उपचरित कहा जाता है, वह आलाप पद्धति के उपचार लक्षण के अनुसार उसमें मुख्य कर्तृत्व का अभाव और वास्तविक रूप में सहायक होने रूप से निमित्त कारणता का सद्भाव होने से कहा जाता है।"

(३) "पृथ्वी, अग्नि, जल व वायु, इन चारों वस्तुओं को उपचरित वस्तु कहा जाता है, इसका कारण यह है कि ये चारों वस्तुएँ नाना अणुओं के पिण्डरूप होने से सखण्ड हुआ करती हैं तथा सखण्ड होकर भी स्कंधरूप से अखण्ड होती है।"

अब आगे इन सब का क्रम से विचार करते हैं।

यह हम पहले ही बतला आये हैं कि कार्य के प्रति बाह्य वस्तु में निमित्तता कालप्रत्यासत्तिवश ही स्वीकार की गई है और इसी आधार पर उसमें (बाह्य वस्तु में) सहायकपने का

असद्भूत व्यवहार किया जाता है। कार्यरूप परिणति में उसका सहायक होना वास्तविक नहीं है। यह कहना मात्र असद्भूत व्यवहार ही है कि इसके निमित्त से यह हुआ। अतः समीक्षक का कार्यरूप परिणति में निमित्त को वास्तविक सहायक मानना मिथ्या ही है, यथार्थ नहीं है। प्रयोजन के अनुसार निमित्त कहना और बात है और उसे वास्तविक कहना और बात है।

(२) समीक्षक ने उपचरित कर्ता का जो यह अर्थ किया है कि "जहां मुख्य कर्तृत्व का अभाव हो और वास्तविक रूप में सहायक होने रूप से निमित्त कारण का सद्भाव हो, वहां उपचार से कर्तृत्व का प्रयोग किया जाता है।" सो उसका ऐसा लिखना उचित नहीं है, क्योंकि कार्य हो और उसका मुख्य कर्ता न हो और मात्र निमित्त से कार्य हो जाय, ऐसा न कभी हुआ और न होगा ही। आगम के अनुसार जिन कार्यों में बुद्धिपूर्वक निमित्तता स्वीकार की जाती है, उन्हीं कार्यों में निमित्तमात्र में निमित्त कर्तापने का व्यवहार किया जाता है। उदाहरणार्थ समयसार गाथा १०० की आत्मख्याति टीका में घटकार्य के प्रति कुम्भकार को जो निमित्त कर्ता कहा गया है, वह इसी अभिप्राय से ही कहा गया है। वहां मिट्टी है और वर्तमान में वही घटरूप परिणामी भी है, वहां मुख्य कर्ता का अभाव नहीं है। मात्र मुख्य कर्ता की अविवक्षा अवश्य है और इसीलिए कुम्भकार के योग और उपयोग में उपचरित निमित्तपने से कर्ता का व्यवहार किया जाता है। आलाप पद्धति का जो "मुख्याभावे सति" इत्यादि वचन है, सो उसका भी आशय प्रकृत में यही समझना चाहिये। बाह्य निमित्त कार्यरूप परिणति में वास्तव में सहायक होता है, ऐसा न आगम का अभिप्राय है और न ऐसा अभिप्राय फलित करना चाहिए।

आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "जैसे घटोत्पत्ति के प्रति निमित्तकारणभूत कुंभकार घट का मुख्य कर्ता तो नहीं है; क्योंकि कुम्भकार घटरूप परिणत नहीं होता, फिर भी मिट्टी की घटरूप परिणति में वह वास्तविक रूप में सहायक होता है। अतः उसे घट का उपचरित कर्ता कहा जाता है।" सो यदि आलाप पद्धति के उक्त वचन का यही अर्थ किया जाय तो भी वह आगमानुकूल नहीं है, क्योंकि आगम के अनुसार कार्य के प्रति बाह्य वस्तु में कालप्रत्यासत्तिवश ही निमित्त व्यवहार किया जाता है, वास्तविक सहायक रूप से नहीं। किन्तु समीक्षक कुम्भकार को कार्य के प्रति वास्तविक रूप से सहायक मानता है, जिसका अर्थ होता है कि कुम्भकार ही घट की उत्पत्ति का दूसरा उपादान कर्ता है, किन्तु समीक्षक का ऐसा कहना ही आगम की अवज्ञा है।

(३) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये संयोगी कार्य द्रव्य है, मात्र इसीलिये उनको उपचरित कहा गया है। श्लेष सम्बन्ध से इनकी जो उत्पत्ति हुई है, वह "द्वयधिकादिगुणानांतु" सिद्धान्त के अनुसार ही हुई है। इसलिये इनमें कार्यकारण भाव का नियम बन जाता है। समीक्षक ने अन्य जितना कुछ भी लिखा है, वह सब प्रकृत में उपयोगी नहीं है।

मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना भी इसी नियम के अन्तर्गत अर्थात् कार्यकारण भाव के अन्तर्गत ही कहा जाता है। अन्न ही प्राण है यह कहना भी इसी नियम को ध्वनित करता है। कहीं निमित्तनैमित्तिक भाव के कारण, कहीं आधार-आधेय भाव के कारण, और कहीं विशेषण-विशेष्य भाव आदि के कारण उपचार की प्रवृत्ति होती है ऐसा यहां समझना चाहिये।

इतना अवश्य है कि वालक को सिंह कहना यह 'मुख्याभावे' का इस अपेक्षा से उदाहरण हो सकता है कि वहां वालक के समीप सिंह का सद्भाव उपलब्ध नहीं है। फिर भी यदि कोई कहे कि सिंह के सर्वथा अभाव में वालक को सिंह कहा गया है, सो वात नहीं है। सिंह भी है और वालक भी है। पर दोनों इन्द्रियगम्य क्षेत्र में अवस्थित नहीं हैं। फिर भी वालक में सिंह का उपचार किया गया है। इसी प्रकार अन्य जितने भी उदाहरण यहां समीक्षक ने दिये हैं उन सवको विविध दृष्टिकोणों से घटित कर लेना चाहिये।

यदि समीक्षक वाह्य निमित्त को कार्य के होने में वास्तविक सहायक कहना मानना-छोड़ दे और प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने परिणाम स्वभाव के कारण परिणमती है अर्थात् परिणमन करती है, यह हृदय से मानले तो इस सम्बन्ध का सारा ही विवाद समाप्त हो जावे। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि समीक्षक वाह्य निमित्त को वास्तविक सहायक मानकर प्रत्येक वस्तु को सर्वथा पराधीन ही बना देना चाहता है, जब कि प्रत्येक वस्तु के कार्य में बाह्य निमित्त को असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ यह है कि वाह्य निमित्त न तो किसी अन्य वस्तु के कार्य का निर्माण ही करता है और न उसके निर्माण में परमार्थ से सहायक ही होता है। प्रत्येक वस्तु को जो "उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक" स्वीकार किया गया है, सो वह इसी आधार पर ही स्वीकार किया गया हैं, क्योंकि जैसे प्रत्येक वस्तु स्वरूप से ध्रौव्य है उसी प्रकार वह स्वरूप से उत्पाद और व्ययरूप भी है। इसको विशेष रूप से समझने के लिए आप्तमीमांसा श्लोक १०५ और उसकी टीका अष्टशती और अष्टसहस्री का अध्ययन कर लेना जरूरी है। वहां स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से स्वयं है। एक दूसरे की सिद्धि के लिये परस्पर की अपेक्षा अवश्य लगती है, परन्तु चाहे कर्ता हो या कर्म, ये स्वरूप से स्वयं हुआ करते हैं। अपेक्षा का कथन व्यवहार अर्थात उपचार से किया जाता है और स्वरूप स्वयं ही हुआ करता है, यह इसका तात्पर्य है।

कथन नं. ३५ का समाधान :—समीक्षक ने "जो परिणमन होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है" यह अर्थ "यः परिणमति" का जगह-जगह किया है। इस पर हमने संशोधन सुझाया था कि "यः परिणमति" का वास्तविक अर्थ होता है, "जो परिणमता है या परिणमन करता है; किन्तु दुःख है कि समीक्षक अपने पक्ष के समर्थन में ही लीपापोती करके उक्त वास्तविक अर्थ को स्वीकार नहीं कर रहा है। वह भले ही इसे सामान्य अशुद्धि कहे, और वात का बवण्डर बताये पर यह सामान्य अशुद्धि नहीं है। उसे तो अपना इष्ट प्रयोजन अर्थात् वाह्य निमित्त को वास्तविक सहायक बताना है, इसीलिये बुद्धिपूर्वक उसके द्वारा यह अर्थ किया गया जानना चाहिये। इस समीक्षा में भी इस प्रवृत्ति को वह नहीं छोड़ रहा है; इसका हमें खेद है।

कथन ३६ का समाधान :— हमने जो खा. त. च. पृ. ५४ में वाह्य निमित्त को असद्भूत व्यवहारनय का विषय बतलाया है, सो उसका कारण यह है कि वाह्य निमित्त कार्यद्रव्य का अंश तो नहीं ही होता, इसलिए तो वह कार्यद्रव्य में असद्भूत है, परन्तु कालप्रत्यासत्तिवश उसे कार्यद्रव्य का निमित्त कहा जाता है, यह व्यवहार है अर्थात् उपचार है। इसप्रकार वाह्य वस्तु कार्यद्रव्य की

असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त कही जाती है। फिर भी समीक्षक यह तो मानता है कि कार्यद्रव्य में वाह्य निमित्त का सद्भाव तो नहीं पाया जाता, इसलिए कार्यद्रव्य का वह अंश तो नहीं माना जा सकता है, परन्तु वह व्यवहार का अर्थ सद्भूत व्यवहार करके उसे वास्तविक सहायक कहता है, उसका यही कहना मिथ्या है, क्योंकि सद्भूत व्यवहार एक द्रव्य में गुणगुणी आदि की अपेक्षा भेद व्यवहार करने पर ही होता है। दो द्रव्यों में किसी अपेक्षा सद्भूत व्यवहार की कल्पना, यह समीक्षक के मस्तिष्क की ही उपज है।

कथन नं. ३७ का समाधान—समीक्षक ने खा. त. च. पृ. १६ "जो परिणमित होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है, वह कर्त्ता है। कर्त्ता का यह लक्षण उपादान उपादेय भाव को लक्ष्य में रखकर ही माना गया है" इत्यादि लिखकर हमारे कथन का निरसन करते हुए समीक्षक ने जो निमित्त कारण के लक्षण के समर्थन में उद्धरण उपस्थित किये हैं, वे वस्तुतः निमित्त कारण के लक्षण की पुष्टि करने में असमर्थ हैं, क्योंकि तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक का जो उद्धरण समीक्षक ने दिया है, वह वस्तुतः उपादान के लक्षण का ही समर्थन करता है, क्योंकि कारण-कार्य भाव में क्रमभाव का नियम सर्वत्र उपादान-उपादेय भाव में ही घटित होता है, निमित्त-नैमित्तिकभाव में नहीं। निमित्त-नैमित्तिकभाव की अपेक्षा कार्यकाल में ही कालप्रत्यासत्तिवश अन्य द्रव्य में निमित्तता स्वीकार की गई है, दोनों में समयभेद नहीं है। उदाहरणार्थ जिस समय क्रोध कषाय कर्म का उदय होता है, उसी समय जीव के क्रोध कषायरूप परिणाम होता है। इसीप्रकार जिस समय जीव के क्रोध कषायरूप परिणाम होता है, उसीसमय ज्ञानावरणादि कर्मों का आस्रवपूर्वक वन्ध होता है।

(१) यदि कहा जाय कि श्लोकवार्तिक पृ. १५१ में सहकारी-कारण का "यदनंतरं" इत्यादि लक्षण क्यों किया गया है? सो उसका समाधान यह है कि इससे पूर्व उपादान-उपादेय भाव की लक्षणपरक व्यवस्था की गई है। इसके वाद यह प्रश्न किया गया है कि सहकारी कारण के साथ कार्य की यह व्यवस्था कैसे वनेगी? क्योंकि उनमें एक द्रव्यप्रत्यासत्ति का अभाव है। इसका समाधान करते हुए यह कहा गया है कि उन दोनों में कालप्रत्यासत्ति पायी जाती है, इसलिए उनमें कार्यकारणभाव वन जावेगा। उसके वाद "यदनंतरं" इत्यादि वचन द्वारा सहकारी कारण का लक्षण दिया गया है। सो मुख्य दृष्टि से देखने पर यह लक्षण उपादान-उपादेयभाव में ही घटित होता है,[1] क्योंकि सहकारी कारण का अर्थ उपादान कारण भी होता है। गौणरूप से यहां इस लक्षण द्वारा निमित्त-नैमित्तिक भाव का परिग्रह कर लिया गया है।

(२) समीक्षक ने दूसरा उदाहरण अष्टसहस्री पृ १०५ का—"तद्सामर्थ्यमखण्डयद्" इत्यादि रूप से दिया है। सो इस विषय में हम यह अनेक वार लिख आये हैं कि भट्टाकलंकदेव ने यह वचन ऐसे मीमांसकों के लिए कहा है जो शब्द को सर्वथा नित्य मानते हैं। उनके मत में शब्द सर्वथा नित्य होने से (उनके मतानुसार) उसमें विकृति नहीं आती, फिर भी तालु आदि को निमित्त कर ध्वनि सुनाई देती है - यह एक ऐसी वात है जो तर्कसंगत नहीं है। इसी वात को ध्यान में

---

1. परीक्षामुख सूत्र अ. 3 सू. 14 (प्रमेयरत्नमाला)

रखकर श्री भट्टाकलंकदेव ने मीमांसकों के ऊपर दोष का उद्भावन करते हुए यह वचन कहा है, किन्तु समीक्षक इसे अपने मत के समर्थन में मानकर पद-पद पर इसे उद्धृत करता रहता है, इसका हमें खेद है। जैनदर्शन में उपादान न सर्वथा नित्य वस्तु स्वीकार की गई है और न सर्वथा अनित्य ही, किन्तु नित्यानित्यात्मक वस्तु ही उपादान के योग्य मानी गई है। यदि मीमांसक भी शब्द को कथंचित् नित्यानित्यात्मक मानकर उपादान की कोटि में रखता तो निश्चित था कि भट्टाकलंकदेव को इस दोष के उद्भावन करने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता; फिर भी समीक्षक अपने मत के समर्थन में इस वचन को बार-बार उद्धृत करता रहता है, यह आश्चर्य की बात है।

(३) आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के पृ. १७८ में "यच्चोच्यते" इत्यादि वचन द्वारा जो बाह्य निमित्त का उल्लेख किया है, सो वह असद्भूत व्यवहारनय से ही किया है और असद्भूतव्यवहारनय से प्रयोजनवश ऐसा कहना आपत्ति योग्य नहीं माना गया है (देखो कथन नं. ३६ का स्पष्टीकरण)

(४) आ. विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ. १५१ में जो "व्यवहारनयसमाश्रयणे" इत्यादि वचन कहा है, सो वह नैगमनय की अपेक्षा से व्यवहारसत्य को ध्यान में रखकर ही कहा है। संग्रहनय और ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा देखने पर तो कल्पना को छोड़कर किसी का किसी के साथ सम्बन्ध बन ही नहीं सकता, इसलिये निमित्त-नैमित्तिक-भाव को कल्पना का विषय ही जानना चाहिये। यह बात यहाँ स्पष्टरूप से खोल दी गई है।[1]

इस प्रकार उक्त चारों कथनों के आधार पर यह निश्चित होता है कि आगम में उपादान और उपादेय भाव के लक्षण अवश्य ही दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु निमित्त-नैमित्तिक भाव के लक्षण कहीं भी नहीं दिये गये हैं, यह जो हमारा लिखना है, वह यथार्थ है। मात्र बाह्य निमित्त का कथन इष्टार्थ की सिद्धि में साधक अवश्य होता है, इसीलिए प्रयोजनवश उसे आगम में स्वीकार कर लिया गया है। यदि समीक्षक निमित्त कथन का इतना ही अर्थ करता है और इसे ही वह निमित्त की कार्यकारिता स्वीकारता है, तो ऐसा स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

और यदि वह (समीक्षक) उपादान अपना कार्य करने में पंगु है, इसलिये उपादान और बाह्य निमित्त दोनों मिलकर कार्य करनेरूप परिणामलक्षण और क्रियालक्षण व्यापार करते हैं तो यह आगम विरुद्ध होने से कोई भी आर्हतमनीषी इसे स्वीकार करने में असमर्थ है। (स. पृ. ११२)

आगे समीक्षक ने जल का उदाहरण देकर अपने मत के समर्थन का जो प्रयत्न किया है और साथ ही उसको ध्यान में रखकर जो निश्चय-व्यवहार से उसे घटित करने का प्रयत्न किया है, वह सब प्रयत्न आगमबाह्य होने से स्वीकार करने योग्य नहीं है। (स. पृ. ११२)

उपादान कर्तृत्व इसलिये परमार्थभूत है, क्योंकि वह स्वयं परनिरपेक्ष होकर कार्यरूप परिणमता है और निमित्त कर्तृत्व इसलिये अपरमार्थभूत है, क्योंकि वह विवक्षित कार्य का वास्तविक

---

1. संग्रहऋजुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्काश्चैत्संबंधोऽन्यत्र कल्पनामात्रात्।

कर्त्ता न होकर उसमें कर्तापने का प्रयोजनवश आरोप किया जाता है। यह परमार्थ को न जानने-वाले अज्ञानियों का लोकव्यवहार ही है। यद्यपि ज्ञानीजन भी प्रयोजनवश ऐसा व्यवहार करते हैं और आगम में भी इसे स्वीकार किया गया है, पर ज्ञानीजन उसे उपचार कथन जानकर ही स्वीकार करते हैं और आगम में इष्टार्थ के समर्थन में साधक जानकर प्रयोजनवश यत्र-तत्र इसका उल्लेख भी किया गया है। देखो समयसार गाथा ८४ से ८६ और उनकी आत्मख्याति टीका (स. पृ. ११३)

आगे समीक्षक ने खा. त. च. पृ ५४ में हमारे द्वारा कर्ता का जो सप्रमाण लक्षण दिया है, सो हमने वह इस अभिप्राय से दिया था कि जब एक वस्तु के दो कर्ता होते ही नहीं, ऐसी अवस्था में उसे कर्ता का सामान्य लक्षण भी जानना चाहिए और विशेपरूप से भी कर्ता का लक्षण जानना चाहिए। समीक्षक भी इसे समझता है, फिर भी वह निमित्त कर्ता को अयथार्थ कर्ता मानकर भी उसे कार्यरूप परिणति में यथार्थ सहायक रूप में मानने की अपनी मान्यता को नहीं छोड़ना चाहता। मानना ही नहीं चाहता कि जो अयथार्थ कर्ता होगा वह परमार्थ से कार्य में कुछ भी सहायता नहीं करेगा, अन्यथा उसे अयथार्थ कर्ता कहना उपयुक्त नहीं होगा। हम यहां इतना अवश्य खुलासा कर देना चाहते हैं कि समीक्षक भले ही निमित्त कर्ता को अयथार्थ कर्ता लिखता रहे, परन्तु हम ऐसा कभी भी नहीं लिखेंगे, क्योंकि प्रयोजनवश जब बाह्य-वस्तु में निमित्त कर्ता का व्यवहार करते हैं तो उसे उपचरित कर्ता कहना ही योग्य ठहरता है, अयथार्थ कर्ता कहना योग्य नहीं ठहरता, क्योंकि अयथार्थ वचन में और उपचरित वचन में यही अन्तर है कि उपचरित वचन को असद्भूत व्यवहारनय से कथंचित् सत्य मान लिया जाता है, जब कि अयथार्थ वचन लोक में सर्वथा अयथार्थ ही माना जाता है। (स पृ. १५३-१५४)

आगे समीक्षक ने अन्य जितना कुछ लिखा है उसका उक्त कथन से ही समाधान हो जाता है, इसलिए उस विषय में विशेप ऊहापोह करना प्रयोजनीय न जानकर हम इस कथन से विराम लेते हैं।

कथन नं. ३८ का समाधान—प्रमेयरत्नमाला समुद्देश ३ सूत्र ५३ के वचन को लेकर समीक्षक ने जो निमित्त कारणों को अपने ढंग से वास्तविक सहायक लिखा है, सो वह ढंग क्या है यह वह नहीं लिखना चाहता। आगम में कहीं भी "अपना ढंग" यह वचन दृष्टिगोचर नहीं होता। आगम से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि बाह्य व्याप्तिवश बाह्य निमित्त में विवक्षित कार्य के प्रति निमित्तता स्वीकार की जाती हैं, परमार्थ से वह निमित्त नहीं होता। यह भी उसमें आगम से ज्ञात होता है कि उपचार कथन का अर्थ है प्रयोजनवश किया गया कथन। जो कथन असत् होकर के भी प्रयोजनवश असद्भूत व्यवहारनय से कथंचित् सत्य मान लिया जाता है, उसके लिये प्रयोग किया जाता है। (स. पृ. १५५)

हमने खा. त. च. पृष्ठ ५५ में जो यह लिखा है कि "यह तो अपरपक्ष भी स्वीकार करेगा कि एक द्रव्य में एक काल में एक ही उपादान-कारण-धर्म होता है और उस धर्म के अनुसार वह अपना कार्य भी करता है। जैसे कुंभकार जब अपनी क्रिया और विकल्प करने रूप कारण धर्म बनता है, तब वह अपनी क्रिया और विकल्प करता है, मिट्टी में घट निप्पत्ति रूप क्रिया नहीं करता।

ऐसी अवस्था में कुंभकार को घट का कर्ता उपचार से ही तो कहा जायगा।" समीक्षक ने इसे मान्य करते हुए भी लिखा है कि "पूर्वपक्ष को इसमें कोई विवाद नहीं है, वह भी ऐसा ही मानता है इत्यादि।" अन्त में समीक्षक इस पूरे कथन को ध्यान में रख करके लिखता है कि "यहां पर इतना ध्यान और रखना चाहिये कि कुंभकार की उस क्रिया के साथ घट कार्य का जो अन्वय-व्यतिरेक बनता है, वह इस आधार पर बनता है कि कुंभकार की वह क्रिया घटकार्य के प्रति सहायक होती देखी जाती है।" सो इस सम्बन्ध में ऐसा समझना चाहिए कि कुंभकार की वह क्रिया घटकार्य के प्रति सहायक होती है, यह कथन उपचार मात्र है, परमार्थ नहीं। आगे इस सम्बन्ध में समीक्षक ने जो कुछ लिखा है; वह पिष्टपेषण मात्र है, अतः उसे पुनः दोहराना उपयोगी नहीं है।

कथन नं. ३९ का समाधान :—धवला पु. १३ पृ. ३४९ के वचन का हमने जो अर्थ किया है, उसे समीक्षक स्वीकार करके भी जो यह लिखता है कि "जिस प्रकार स्वप्रत्यय कार्य स्वप्रत्यय रूप में वास्तविक है, उसी प्रकार स्वप्रत्यय कार्य भी स्व-पर प्रत्यय रूप में वास्तविक ही है, कल्पनिक नहीं।" सो यह ठीक ही है कि जो स्व-पर प्रत्यय कार्य रागादिरूप होते हैं, वे वास्तविक ही होते हैं। इतना अवश्य है कि उनमें जो परप्रत्ययपने से होना माना गया है, वह उपचरित होने पर भी प्रयोजनवश ही स्वीकार किया गया है। सर्वत्र उपचार का अर्थ है कि जो वस्तु जैसी न हो, उसको प्रयोजनवश वैसी कहना या मानना।

कथन नं. ४० का समाधान :—खा. त. च. पृ. २० के सम्बन्ध में "मुख्याभावे" इत्यादि वचन को लेकर हमने जो आशय व्यक्त किया था, उसे समीक्षक ने स्वीकार करके भी हमें जो यह सलाह दी है कि "बाल की खाल न निकाले, वक्ता के अभिप्राय को समझे" सो इसके लिए हम समीक्षक के हृदय से इसलिये आभारी हैं कि उसने हमारे द्वारा दिये गये उत्तर को स्वीकार कर लिया है।

खा. त. च. पृ. ५६ में जो हमारे "प्रकृत में कार्यकारण भाव का विचार प्रस्तुत है" इत्यादि कथन को स्वीकार करके भी समीक्षक ने हमको लक्ष्य करके जो यह लिखा है कि उत्तरपक्ष का यह कथन बच्चों जैसा है और पिसे को पीसता है, क्योंकि उसमें हमें विवाद नहीं है। यह सब तो हम स्वीकार करते ही हैं" सो उसका ऐसा लिखना हमें इसलिये बच्चों जैसा खेल लगा, क्योंकि समीक्षक निमित्त कथन को हमारे कथन के अनुसार मानकर भी उसे "वास्तविक" कहने की हठ को नहीं छोड़ना चाहता। यदि वह वास्तविक के स्थान में उसे उपचरित लिखना स्वीकार कर ले तो पूरा विवाद ही समाप्त हो जाय। (स. पृ. ११७)

आगे वहीं पर हमने जो यह लिखा है कि "प्रत्येक समय में निश्चय षट्कारक रूप से परिणत हुआ प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करने में समर्थ है।" सो इसे अस्वीकार करते हुए समीक्षक लिखता है कि "सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह कथन द्रव्य के प्रतिसमय होने वाले स्वप्रत्ययरूप कार्य के विषय में ही लागू होता है, स्व-पर प्रत्यय कार्य के विषय में नहीं - इत्यादि।" सो इस सम्बन्ध में ऐसा समझना चाहिये कि आगम के अनुसार चाहे स्वप्रत्यय कार्य हो या स्व-पर प्रत्यय कार्य हो, प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं पर निरपेक्ष होकर ही करता है, ऐसा ही आगम है। जैनदर्शन के

अनुसार परमार्थ से कोई भी पररूप निमित्त नहीं होता, बाह्यवस्तु में प्रयोजनवश उपचार से निमित्त व्यवहार अवश्य किया जाता है। (स. पृ. ११७)

आगे समीक्षक ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. ४१० के उद्धरण को ख्याल में रखकर जो यह लिखा है कि "व्यवहारनय भी व्यवहारकथन में उसी प्रकार वास्तविक सिद्ध होता है, जिस प्रकार निश्चयनय निश्चय के कथन में वास्तविक है।" सो इस सम्बन्ध में उसे यह समझ लेना चाहिये कि निश्चयनय वस्तु के स्वरूप को कहता है, जबकि व्यवहारनय वस्तु में आरोपित धर्म का कथन करता है अर्थात् वस्तु में अन्य के धर्म का जो आरोप किया गया है, ऐसा कहना यथार्थ है, इतना ही असद्भूत व्यवहारनय स्वीकार करता है। और यही कारण है कि निश्चयनय प्रतिषेधक माना गया है और व्यवहारनय उसके द्वारा प्रतिषेध्य माना गया है। अतएव गोलमाल के शब्दों द्वारा व्यवहार को भूतार्थ (वास्तविक) सिद्ध करने का प्रयत्न करना उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

आगे समीक्षक ने आ. अमृतचंद्रदेव के "जइ जिणमयं पवज्जह" इत्यादि वचन को उद्धृत कर जो अपने मत के समर्थन का प्रयत्न किया है, सो उसे यह समझ लेना चाहिये कि सद्भूत व्यवहार भी व्यवहार कहलाता है और यहां मुख्यतया उसी से प्रयोजन है। हमने जहां भी व्यवहार को पराश्रित विकल्प कहा है, वहां मुख्यतया असद्भूत व्यवहारनय से ही प्रयोजन रहा है। आशा है समीक्षक इस तथ्य को हृदयंगम करेगा। (स. पृ. ११७-११८)

आगे खा. त. च. पृ. ५७ में आये हुए त श्लो. वा. पृ. ४१० के "व्यवहारनयादेव" इत्यादि वचन को उद्धृत कर समीक्षक ने यह लिखा है कि "परन्तु प्रश्न फिर भी असमाहित रहता है" इत्यादि सो उसे यह ध्यान में ले लेना चाहिए कि जैसे एक पुरुष से दूसरे पुरुष को भिन्न समझने में बेंत निमित्त हो जाता है, और उसी आधार पर हम बेंतवाले व्यक्ति को दंडी कहते हैं। उसी प्रकार निमित्त भी विशेषण होकर एक पर्याय से दूसरी पर्याय में वह भेद का सूचक होता है। तत्त्वार्थ श्लोक. वार्तिक के उक्त वचन से यही तथ्य फलित किया गया है। उक्त वचन का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। (स पृ. ११८.)

आगे इसी पृष्ठ में जो समीक्षक ने स्व-पर प्रत्यय कार्य की चर्चा की है, तो स्व-पर प्रत्यय कार्य दो प्रकार के होते हैं — एक प्रायोगिक और दूसरा वैस्रसिक। जो प्रायोगिक कार्य होते हैं, वे बुद्धि-पूर्वक होते हैं और जो वैस्रसिक कार्य होते हैं, वे पुरुष के प्रयत्न के बिना ही होते हैं। इन दोनों प्रकार के कार्यों में बाह्य निमित्त का स्थान समान ही रहता है। स्वरूप से कोई भी निमित्त प्रेरक नहीं होता, इस सम्बन्ध में समीक्षक ने यत्र-तत्र जो कुछ भी टीका टिप्पणी की है, वह आगम विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं मानी जा सकती।

समीक्षक ने हमारे अनेक वक्तव्यों का विचार करते हुए अन्त में जो बाह्य निमित्त को अन्य के कार्य में सहायक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है तो यहां भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि बाह्य निमित्त अन्य के कार्य में स्वरूप से सहायक होता है या उसमें सहायकपने का उपचार किया जाता है। स्वरूप से यदि सहायक माना जाता है तो कार्यद्रव्य से उसे अभिन्न मानना पड़ेगा, और ऐसी अवस्था में दो द्रव्यों में एकता माननी पड़ेगी। और यदि उसमें सहायकपने का उपचार किया

जाता है, ऐसा माना जाता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि वह अन्य के कार्य में सहायक तो नहीं होता, मात्र कालप्रत्यासत्तिवश उसे सहायक कहा जाता है। आगे समीक्षक ने यह लिखा है कि "परन्तु इस उपचार को वह पराश्रित के आधार पर उपचार मानता है व इसके आधार से उसी निमित्त में अन्य वस्तु के कर्तृत्व का उपचार वह आलाप पद्धति के पूर्वोक्त वचन के आधार पर स्वीकार करता है" सो अपने इस वचन का उपसंहार करते हुए जो समीक्षक ने यह लिखा है कि "जहाँ उत्तरपक्ष इन दोनों ही उपचारों को कल्पनारोपित मात्र मानता है, वहां पूर्वपक्ष इन्हें कल्पनारोपित नहीं मानता, इत्यादि "सो इस संबंध में हम जो इसके पहले उत्तर दे आये हैं, वह यहां भी लागू होता है।

आगे समीक्षक ने आलाप पद्धति के "मुख्याभावे सति" इत्यादि वचन को ध्यान में रखकर जो टीका की है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि उपचार की प्रवृत्ति दोनों अर्थों में होती है। कहीं हमारे द्वारा सुझाए गए अर्थ में होती है और कहीं समीक्षक ने जो अपना आशय व्यक्त किया है, उस अर्थ में भी होती है। घी का घड़ा कहना, यह है तो मिट्टी आदि का घड़ा, मात्र घी के निमित्त से उसे घी का घड़ा कहा गया है। इसलिए मुख्य जो मिट्टी आदि हैं उसका घड़ा न कहकर, उसे घी के निमित्त से घी का घड़ा कहना, यहां मुख्य मिट्टी को गौण किया गया है। यदि प्रकृत में ऐसा अर्थ लिया जावे तो इसमें क्या आपत्ति है ? कोई आपत्ति नहीं है। यहां इसी पैरा में आगे जितनी बातें समीक्षक ने लिखी है, वे सब उक्त कथन में समाहित हो जाती है; इसलिए उन सबकी अलग-अलग चर्चा करना उपयुक्त नहीं है।

कथन नं. ४१ का समाधान :—खा. त. च पृष्ठ २१ में समीक्षक ने जो उपादान और निमित्त दोनों शब्दों के अर्थ को स्पष्ट किया था और उस पर हमने आपत्ति की थी, उसे (आपत्ति को) स्वीकार करते हुए समीक्षक ने यह तो स्वीकार कर लिया है कि उपादान कार्य का कर्ता होता है और वही उसका मुख्य कर्ता होता है। साथ ही वह यह भी लिखता है कि बाह्य निमित्त उपादान की कार्यपरिणति में सहयोग प्रदान करता है। तो यह सहयोग क्या वस्तु है, यही मुख्य विवाद का प्रश्न है। क्या वह भिन्न रहकर उपादान के कार्य में सहयोग करता है या उपादान से एकरस होकर उसके कार्य में सहयोग करता है और जब अपना कार्य करता है तब बाह्य निमित्त अपना कार्य छोड़कर उपादान के कार्य में सहयोग भी करता जाता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका अर्थ स्पष्ट होने पर ही वास्तव में सहयोग का क्या स्वरूप है, इसे समझा जा सकता है; किन्तु समीक्षक इन प्रश्नों का समाधान न करते हुए भी अपनी रट लगाये जाता है, इसका हमें क्या, सभी को आश्चर्य होगा।

अभीतक आगम के अभ्यास से हमने यही समझा है कि उपादान के कार्य और बाह्य निमित्त – इन दोनों में कालप्रत्यासत्तिवश बाह्य व्याप्ति पायी जाती है, इसलिए यह असद्भूत व्यवहार हो जाता है कि इसके निमित्त से यह कार्य हुआ, यह उपचरित होने से अभूतार्थ है। इस विषय को हम पहले और भी कई बार स्पष्ट कर आए हैं। (स. पृ. ११२)

कथन नं ४२ का समाधान :—खा त. च. पृ. ६० में हमारे द्वारा समयसार कलश ६३ के आधार से लिखे गये विशेष स्पष्टीकरण को ध्यान में रखकर समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "वाह्य पदार्थ की उपचार हेतुता को वास्तविक क्यों मानता है, इसका आगम प्रमाण के आधार पर उसने अपने वक्तव्यों में वारवार स्पष्टीकरण किया है और इस समीक्षा में भी उसका वारवार स्पष्टीकरण किया गया है, उसकी उत्तरपक्ष जानबूझकर उपेक्षा कर रहा है।" सो उसका ऐसा लिखना इसलिए असंगत है, क्योंकि अभीतक इस विषय के समर्थन में उसने जितने भी प्रमाण दिये हैं, उनको जो भी अर्थ वह फलित करना चाहता है; वह फलित नहीं होता। प्रत्युत उन प्रमाणों से आगम के अनुसार हमारे कथन की ही पुष्टि होती है। इसका स्पष्टीकरण हम वारवार कर आये हैं।

इसी सिलसिले में समीक्षक ने निमित्त कर्त्ता और वाह्य निमित्त मानने में क्या प्रयोजन है। यह जानने की जिज्ञासा करते हुए अपने मतानुसार उसका स्पष्टीकरण किया है। सो यद्यपि हम वाह्य निमित्त और निमित्तकर्त्ता मानने में क्या प्रयोजन है, इसे अनेक वार स्पष्ट कर आये हैं; फिर भी समीक्षक के चिक्खड को दूर करने के अभिप्राय से हमारे द्वारा यहाँ पुनः स्पष्ट किया जाता है कि उपादान की कार्यपरिणति में जो उपचार हेतु को जिस प्रयोजन से स्वीकार किया गया है, वह इष्टार्थ की सिद्धि में साधक होता ही है। साथ ही वाह्य निमित्त को जो निमित्तकर्त्ता कहा जाता है, वह अज्ञानियों के व्यवहार को सूचित करने के अभिप्राय से ही कहा जाता है।

कथन नं. ४३ का समाधान :—समीक्षक का कहना है कि – "निमित्त उपादान का सहायक होने रूप से कार्यकारी होता है। निमित्त का कार्य वहाँ पर केवल हाजिरी देना मात्र नहीं है।" इसी प्रसंग को लेकर स. पृ. १२५ में वह लिखता है कि "फलतः उत्तरपक्ष की मान्यता में वाह्य सामग्री उपादान की कार्योत्पत्ति में सर्वथा अकिंचित्कर रहती है और उसमें निमित्त-व्यवहार आकाशकुसुम की तरह कल्पनारोपित मात्र सिद्ध होता है।" सो इस सम्वन्ध में आगम के अनुसार हमारा कहना यह है कि जिसे हम उपादान की कार्योत्पत्ति में निमित्त कहते हैं, वह स्वयं उपादान होकर उस समय अपना कार्य करता है। अकिंचित्कर होकर फालतू नहीं वैठा रहता है। द्रव्य का यह स्वभाव ही नहीं कि वह अपना कार्य तो करे नहीं और अन्य के कार्य में सहायता करने लगे। अन्य के कार्य में सहायता करता है, यह वस्तुतः मानना अज्ञानी का विकल्प है, जो उपचरित होने से आगम में असद्भूतार्थ ही माना गया है। भूतार्थ की सिद्धि का साधक होने से उसे प्रयोजनीय अवश्य कहा गया है।

आगे समीक्षक लिखता है "व्यवहार (उपचारनय) से वाह्य सामग्री उपादान के कार्य का अनुरंजन करती है, उपकार करती है और उसमें सहायक होती है।" सो समीक्षक का यह सव मानना कल्पनाजन्य कथन मात्र है, क्योंकि यद्यपि असद्भूत व्यवहार ऐसा माना या कहा अवश्य जाता है पर आगम में उपादान के कार्यकाल में ही वाह्य निमित्त को स्वीकार किया गया है, इसलिये वास्तव में मात्र उससे यह सूचना तो अवश्य मिलती है कि इस समय उपादान ने क्या कार्य किया,

पर वह उसमें परमार्थ से सहायक नहीं हो सकता, उसका अनुरंजन नहीं कर सकता और उसका उपकार नहीं कर सकता, इतना स्पष्ट है। और यह आगम से ही स्पष्ट है कि जो जिसका स्व-चतुष्टय नहीं होता, वह उससे सर्वथा भिन्न ही रहकर स्वयं अपना कार्य करता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य एक काल में एक ही क्रिया कर सकता है। आशा है समीक्षक इस तथ्य को स्वीकार कर एकान्त से स्वीकार की गई अपनी मान्यता को कल्पनाजन्य ही मान लेगा। इसी में जैनशासन के हार्द की रक्षा है, अन्यथा जैनदर्शन में भी ईश्वरवाद का प्रवेश अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ेगा। स. पृ. १२५)

कथन नं. ४४ का समाधान :—खा. त. च पृ. ६१ के आधार पर हमने जो निमित्त के दो भेद लिखे थे उनके विषय में समीक्षक टिप्पणी करते हुए लिखता है कि "प्रेरक और उदासीन निमित्तों के जो पृथक्-पृथक् लक्षण उत्तरपक्ष ने दिये हैं, उनसे दोनों निमित्तों में प्रयोग भेद सिद्ध होनेपर भी उनका कार्यभेद सिद्ध नहीं होता; जब कि इनमें प्रयोगभेद और कार्यभेद दोनों हैं। पंचास्तिकाय के कथन से भी ऐसा ही निर्णीत होता है।" सो इस सम्बन्ध में हमारा कहना इतना ही है कि समर्थ उपादान का लक्षण आगम में स्पष्टरूप से दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ उपादान का लक्षण आगम में पाया नहीं जाता। एकान्त का आश्रय कर द्रव्यार्थिकनय से समीक्षक ने जो उपादान का लक्षण लिखा है, वह समर्थ परमार्थभूत उपादान का लक्षण नहीं है और उस आधार से आगम में उपादान के कार्य का विचार भी नहीं किया गया है। हम इसी शंका-समाधान में आप्तमीमांसा की कारिका १० और ५८ तथा उनकी टीका अष्टसहस्री के आधार से उपादान-उपादेय भाव का सांगोपांग विचार कर आये हैं। त श्लो. वा. पृ. १५१ के आगे लिखे जाने वाले वचन से भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक समय में अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान होता है और अव्यवहित उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य कर्म होता है। त श्लो. वा. का वचन इसप्रकार है –

"क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्।"

अर्थ :—क्रम से होनेवाले दो पर्यायों में एक द्रव्य प्रत्यासत्ति होने से उपादान-उपादेयपने का वचन पाया जाता है।

इसप्रकार उपादान और उपादेय के वास्तविक लक्षणों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षक ने अपने मतानुसार प्रेरक निमित्त का जो लक्षण दिया है, वह सर्वथा आगम-विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि पर्याय-निरपेक्ष केवल द्रव्य को उपादान माना जाता है – तो एकान्त मान्यता जन्य दोष मुह नाये सामने खड़ा हो जाता है। अतः आगम के अनुसार उपादान का जो सुनिश्चित लक्षण है, उसे ही स्वीकार कर लेना चाहिये।

पंचास्तिकाय के कथनानुसार भी दोनों प्रकार के निमित्तों में मात्र प्रयोगभेद ही सिद्ध होता है, कार्यभेद सिद्ध होना असंभव है। जब समीक्षक ही मानता है कि "उपादान कर्त्ता ही मुख्य कर्त्ता होता है और वही स्वयं कार्यरूप परिणमता है" ऐसी अवस्था में उपादान के कार्य में निमित्त को

कार्यभेद की अपेक्षा प्रेरक मानकर उपादान के कार्य को निमित्त के वल पर आगे-पीछे होते हुए लिखना, यह ऐसी खोटी मान्यता है, जिससे यह ध्वनित होता है कि उपादान को परिणमाना यह निमित्त का कार्य है। उपादान तो अपने कार्य को करने में आकाशफूल के समान अकिंचित्कर ही है।

परन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। सभी कार्य हो रहे हैं और अपने-अपने समय में हो रहे हैं। कोई किसी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता, फिर भी वे क्रमानुपाती होने के कारण, जिसके कार्य के साथ तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य की बाह्य व्याप्ति वन जाती है, वह उस कार्य का निमित्त कहा जाता है। अव यदि परिणाम लक्षण या परिस्पंद लक्षण क्रिया द्वारा जो निमित्त होता है, वह उदासीन निमित्त कहलाता है और बुद्धिपूर्वक परिस्पंद लक्षण क्रिया द्वारा जो निमित्त होता है, उसमें निमित्तकर्ता, हेतुकर्ता आदि शब्दों का व्यवहार किया जाने लगता है (देखो समयसार गाथा १००) इतना अवश्य है कि निमित्तपने की अपेक्षा कोई भी निमित्त हो, वह उपादान के कार्योत्पत्ति के प्रति उदासीन ही होता है। (स. पृ. १२६-१२७)

समीक्षक ने अपने मतानुसार प्रेरक निमित्त की कल्पना अवश्य की है और उसकी पुष्टि में वह आगम की दुहाई भी देता है, जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि प्रेरक निमित्त के वलपर अन्य द्रव्य में आगे-पीछे कभी भी कार्य करा सकता है; किन्तु आगम में अन्तःकृतकेवलियों के उदाहरण आते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में ऐसे अन्तःकृतकेवली दस-दस होते हैं। मोक्ष जाने के पहिले घोर उपसर्ग होने पर भी वे अपनी अनपवर्त्य आयु के अन्त में ही मोक्ष जाते हैं। ऐसा नहीं होता कि वे आयुकर्म को छेद करके मोक्ष जाने के काल के पूर्व ही मोक्ष चले जायें। अब रहे शेष जीव, सो उनके भी परभव सम्बन्धी आयुवन्ध के वाद भुज्यमान आयु का छेद नहीं होता, ऐसा जिनागम से स्पष्ट ज्ञात होता है।[1] इसलिये आगम से ऐसा सिद्ध करना अशक्य है कि प्रेरक कारण के वल से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा एकान्त से स्वीकार किये गये उपादानरूप द्रव्य में किसी भी कार्य का आगे-पीछे होना संभव है। अज्ञानी ऐसा विकल्प अवश्य कर सकता है कि जो कार्य दो दिन में होना था, उसे एक दिन में कर लिया। उससे यदि पूछा जाय कि यह काम दो दिन में होना था, यह तुमने कैसे जाना ? तो वह इसका क्या उत्तर देगा, क्योंकि उसके पास इस बात का कोई उत्तर नहीं है, इसलिये अज्ञानवश वोले गये वचनों के प्रयोग भेद से निमित्त को दो प्रकार का कहना तो वन

---

1. परभविआउएवद्धे पच्छा भुजमाणाउअस्स कदलीघादो णत्थि जहा सरूवेण चेव वेदेदित्ति जाणा-वणट्ठं कमेण कालगदोत्ति उक्तं। परं भवियाउसंवंधिय भंजमाणाउए घादिज्जगो को दोतो त्तिओण, णिज्जिण्णा भंजमाणाउअस्स अपत्तवरभविआउस्स उदयस्स चउगहवाहिरस्स जीवस्स अभावपसंगादो। ध. पु. १० पृ. २२७

जधा णाणावरणादिसमयपवद्धाण वंधावलिय वदिक्कंताणं ओकड्डुण परपयाडिसंक भेदित्राधा अत्थि, तधाआउअस्स ओकड्डुण-परपयडिसंकमादीहि वाधाभवपरूवणट्ठविदियवार मावाधाणिकेसादो। स. जी. चू पृ. १६८

जाता है। कार्यभेद से उनको दो प्रकार का मानना या कहना नहीं बनता, ऐसा कहना मिथ्या ही है।

आगे उसने इस सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा है, वह सब उसकी अपने घर की मान्यता ही है।

कथन नं. ४५ का समाधान :—इस कथन में भी समीक्षक ने हमारे कथन का आलोचन करते हुए अन्त में जो यह लिखा है कि "परन्तु निमित्तभूत बाह्य सामग्री को लक्ष्यकर – आलंबन कर अर्थात् सहयोग से करता है तो ऐसा स्वीकार करने में भी पूर्वपक्ष को कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन वास्तव में बात यह है कि उत्तरपक्ष अपने उक्त कथन के आधार पर उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्त कारणभूत बाह्य सामग्री को सर्वथा अकिंचित्कर मान लेना चाहता है, इसलिये ही पूर्वपक्ष को उसके उक्त कथन में आपत्ति है।" सो इस सम्बन्ध में आगम के अनुसार हमारा कहना यह है कि "सामग्री का लक्ष्य कर – आलंबन कर" ऐसा कहना या लिखना मात्र असद्भूत व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि अचेतन पदार्थों में ऐसा कहना बनता ही नहीं, चेतन पदार्थों में बुद्धिपूर्वक जो काम होते हैं उनमें ही यह कहना बनना है। ऐसा होने पर भी समीक्षक निमित्त के सहयोग को भूतार्थ मानने पर तुला हुआ है। वह अपने कथन द्वारा इसकी पुष्टि में आगम का विपर्यास भी कर रहा है। इतना ही नहीं, प्रेरक कारण का अपने मनोनुकूल अर्थ करके यह भी लिखने से नहीं चूकता कि प्रेरक कारण के बलपर अन्य द्रव्य का कार्य आगे-पीछे भी हुआ करता है। यह तो उसकी एक महाभूल है ही, इसके आगे वह और भी ऐसी महाभूलें करने से नहीं चूकता, जिनके आधार पर वह अपने मनोनुकूल उपादान का लक्षण लिखकर पूरे आगम को ही मटियामेट कर देना चाहता है।

वह यदि यह मानता है कि निश्चय का एकान्त कर रहे हैं तो उसका काम इतना ही था कि वह हमारे उस निश्चय कथन को स्वीकार करके उसका सद्भूत और असद्भूत व्यवहार क्या होता है और वह लोक में और आगम में क्यों प्रयोजनीय माना गया है, इस पर विशद् प्रकाश डालता; परन्तु वह ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ रहा। न तो वह निश्चय का ही समर्थन कर सका और न सद्भूत और असद्भूत व्यवहार को ही स्पष्ट कर सका। निश्चयनय के स्वीकार करने के साथ दोनों व्यवहारों के कथन में संगति कैसे बैठती है, यही उसके लिखने का मुख्य प्रयोजन था। यथासंभव हमने इसका ख्याल रखा है। समीक्षक किस बहाव में वह गया, यह हम अभीतक नहीं जान सकें। (स. पृ. १२८-२९)

समीक्षक का कहना है कि "यदि निमित्तभूत बाह्य सामग्री को ऐसी हालत में भी उपादान के कार्यरूप परिणति में सर्वथा अकिंचित्कर माना जाता है, तो उस निमित्तभूत बाह्य सामग्री के अभाव में उपादान का कार्यरूप परिणत होने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा, जा उत्तरपक्ष को भी मान्य नहीं है।" सो इस सम्बन्ध में आगम के अनुसार समीक्षक को यह जान लेना चाहिये कि काल-प्रत्यासत्ति के आधार पर निमित्त में अन्य द्रव्य के कार्य की असद्भूत व्यवहार से निमित्तता स्वीकार की गई है। अन्य द्रव्य के कार्य में वह भूतार्थ से सहायक होता है, इस आधार पर निमित्तता नहीं स्वीकार की गई है और कालप्रत्यासत्ति के आधार पर ही उन दोनों के एक काल में होने का नियम

स्वीकार किया गया है, इसलिये "निमित्तभूत बाह्य सामग्री के अभाव में भी उपादान का कार्यरूप परिणत होने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा" यह सवाल ही नहीं उठता। उसके इस सवाल को देखकर ऐसा लगता है कि वह इन दोनों में आगमसम्मत कालप्रत्यासत्ति को स्वीकार ही नहीं करना चाहता, अन्यथा वह ऐसा सवाल ही नहीं उपस्थित करता। (स. पृ. १३०)

प्रत्येक कार्य में जो वैशिष्ठ्य आता है, वह द्रव्य की अपनी द्रव्य-पर्याय की योग्यता के बलपर ही आता है। जब प्रेरक कारण नाम का कोई निमित्त ही नहीं है, तब उस आधार पर – उसके बलपर अन्य द्रव्य के कार्य में वैशिष्ठ्य की कथा करना आगमानुकूल नहीं कही जा सकती है। इसका विशेष खुलासा हम पहिले कर ही आये हैं।

कथन नं. ४६ का समाधान :—आगे समीक्षक पुनः प्रेरक निमित्त की वकालात करते हुए लिखता है कि "मैं इसी प्रश्नोत्तर की द्वितीय दौर की समीक्षा में इस सम्बन्ध में विस्तार से यह स्पष्ट कर आया हूँ कि प्रेरक निमित्त के बल से उपादान शक्ति विशिष्ट किसी भी द्रव्य के कार्य को आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है।" सो इस सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि उसने जिस रूप में उपादान को स्वीकार कर रखा है, उसका उभयनय के प्रतिपादक आगम से समर्थन नहीं होता, क्योंकि कार्य कारण के प्रसंग में केवल पर्यायनिरपेक्ष द्रव्यशक्ति विशिष्ट द्रव्य स्वयं अपना कार्य करने में असमर्थ है, क्योंकि प्रतिसमय पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्य ही प्रतिसमय अपने कार्य का उपादान होता है – ऐसा बुद्धिगम्य आगम वचन है। अतः लोक में ऐसा कोई भी निमित्त कारण नहीं है, जो अपने से भिन्न द्रव्य के कार्य को आगे-पीछे उत्पन्न कर दे।

कथन नं. ४७ का समाधान :—समीक्षक "कर्म की नानारूपता भावसंसार के उपादान की नानारूपता को तथा भूमि की विपरीतता बीज की वैसी उपादानता को ही सूचित करती है" सो यह जो हमारा कहना है, उसे स्वीकार करके भी पुनः वह लिखता है कि "परन्तु विचारणीय यह है कि ऐसी सूचना तभी प्राप्त हो सकती है; जब कि कर्म को भावसंसार की उत्पत्ति में और भूमि की विपरीतता को बीज की विपरीत परिणति में सहायक होनेरूप निमित्त मान लिया जावे।" सो यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि बुद्धि के क्षेत्र में ही यह विकल्प होता है, किन्तु प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वयं होता है। दोनों का सहज योग होता है ऐसा स्वीकार करना ही कार्यकारी है।

लोक में अनन्त पदार्थ हैं और उनके अनन्त प्रकार के कार्य हो रहे हैं। और उनके लिये अनंत प्रकार के योग भी मिलते रहते हैं। इन कार्यों में कौन किसको सूचना देता है। यह बात तो शास्त्रीय मीमांसा के समय ही कही जाती है। वस्तुतः सभी के अपने-अपने परिणमन स्वतंत्र हैं, कोई किसी के आधीन नहीं हैं। योग भी स्वयं बनते रहते हैं, उन्हें कोई बनाता नहीं। फिर भी अन्य के सहयोग से कार्य हुआ, ऐसा कहना या मानना असद्भूत व्यवहार ही है। उसे भूतार्थ कहना यही भूल है।

कथन नं. ४८ का समाधान :—खा. त. च. पृ. ६२ में जो चर्चा आयी है, उसके सम्बन्ध में समीक्षक का स. पृ. १३३ में कहना है कि "जब उपादान को अपनी विवक्षित कार्यरूप परिणति

के अनुकूल निमित्त का योग मिलता है, तब ही उपादान की वह विवक्षित कार्यरूप परिणति होती है और न मिलने पर नहीं होती। इस तरह इस व्यवस्था के अनुसार निमित्त उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होने रूप से कार्यकारी सिद्ध होता है।" यह समीक्षक के पूरे वक्तव्य का सार है, किन्तु यहाँ इस वक्तव्य में समीक्षक ने कालप्रत्यासत्ति और समर्थ उपादान को भुलाकर ही अपनी उक्त मान्यता बनायी है। वह यह भूल जाता है कि उपादान के कार्य और बाह्य निमित्त - इन दोनों में आगम ने कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की है। उसके आधार पर निश्चय से यह व्याप्ति बनती है कि प्रत्येक समय में जैसा-जैसा उपादान अपने विवक्षित कार्य के सन्मुख होता है, प्रत्येक समय में वैसा-वैसा उसके अनुकूल बाह्य निमित्त का योग बनता ही है। इसी को असद्भूत व्यवहारनय से ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्येक समय में असद्भूत व्यवहारनय से जैसा-जैसा अनुकूल बाह्य निमित्त का योग मिलता है, वैसा-वैसा उपादान अपने विवक्षित कार्य को करता है। कार्यकारणभाव में यह निश्चय-व्यवहार की युति है समीक्षक इसी युति का निषेध करके अपनी मान्यता की पुष्टि कर रहा है। वह यहाँ यह भूल जाता है कि इससे सर्वज्ञ प्रणीत आगम का घोर अपलाप हो रहा है। पर उसे तो यह धुन लगी है कि यदि आगम का घोर अपलाप होता है तो होओ, हमें तो अनियतवाद की पुष्टि करनी है।

आगे समीक्षक ने लिखा है कि "यदि निमित्त को वास्तविक कारण न मानकर केवल कल्पनारोपित कारण माना जावे तो जीव की मोक्ष की व्यवस्था भंग हो जायगी, क्योंकि संसार और मोक्ष की व्यवस्था व्यवहाररूप होने से उत्तरपक्ष की दृष्टि में अवास्तविक ही सिद्ध होती है। यदि कहा जाय कि संसार और मोक्षरूप परिणमन जीव के ही परिणमन हैं, इसलिये वास्तविक है तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय से ही उसके व्यवहृत होते हैं, क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से अनादि, अनिधन, स्वाश्रित, और अखण्ड शुद्ध (पर संयोग रहित) पारिणामिक भावरूप तत्त्व ही वास्तविक है अतः जीव की संसार और मोक्षरूप परिणतियाँ व्यवहारनय से सिद्ध होती हैं। इसतरह वे व्यवहाररूप होने पर भी, कल्पनारोपित होकर अवास्तविक नहीं हैं। अतः निमित्त कारणता व्यवहाररूप होते हुए भी उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होने के रूप में वास्तविक मानना ही युक्तिसंगत है, कल्पनारोपित मानना युक्तिसंगत नहीं है आदि।"

यह प्रकृत में समीक्षक का वक्तव्य है। वह समयसार का स्वाध्याय करने के बाद उसका किस रूप में अर्थ ग्रहण करता है और सामने बैठे जिज्ञासु बन्धुओं को उसका आशय किसरूप में समझाता है, उक्त कथन से उसका पता लग जाता है। न तो संसार पर्याय ही जीव से सर्वथा भिन्न है और न मोक्ष पर्याय ही जीव से सर्वथा भिन्न है। जीव ही स्वयं संसार रूप होता है और जीव ही स्वयं मोक्षरूप होता है। समयसार में जीव को जो स्वतः सिद्ध अनादि अनन्त विशदज्योति और उद्योतरूप एक ज्ञायक कहा गया है, वह केवल द्रव्यार्थिकनय से ध्यान के विषयभूत ध्येय को सामने रखने के अभिप्राय से या परभाव से भिन्न मूल आत्मा को लक्ष्य में लेने के अभिप्राय से ही कहा गया है और वहाँ जो जीवादि पर्यायरूप नौ पदार्थों को गौण कराया गया है, वह केवल वर्तमान पर्याय में आसक्ति छुड़ाने के अभिप्राय से ही कराया गया है। यह वस्तुस्थिति है।

समीक्षक इसका विपर्यास करके ही अपने अभिप्राय को पुष्ट करना चाहता है, यह दुर्भाग्य का विषय है। मालूम पड़ता है कि शुद्ध निश्चयनय किसे कहते हैं, इसे उसने ख्याल में लिया ही नहीं

है। और इसीतरह व्यवहारनय के जो भेद आगम में उपलब्ध होते हैं, उनके विषय में भी अपनी मनगढ़ंत कल्पना करके उनसे अपने मत की पुष्टि करना चाहता है।

उसने जो शुद्ध निश्चयनय से "अनादि, अनिधन, स्वाश्रित अखण्ड शुद्ध पारिणामिक भावरूप तत्त्व ही वास्तविक है" लिखा है, सो उसका और सब लिखना तो ठीक है, पर एक तो उसे "स्वाश्रित" लिखना प्रयोजन विशेष से है, क्योंकि जो पर्याय स्वाश्रित होती है, उसका अभेद करके वस्तु को ही शुद्ध निश्चयनय से स्वीकार किया जाता है। अतः निश्चयनय केवल पारिणामिक भाव को शब्दों में व्यक्त किया जाय तो वह स्वतः सिद्ध, अनादि-अनन्त, अखण्ड और एकरूप ही कहा जायगा, यह आगम परंपरा है।

समयसार में जितना भी कथन है वह सब नयदृष्टि से ही किया गया है, क्योंकि प्रमाण ज्ञायक होता है और नय, विवक्षित दृष्टि से ज्ञान कराने के साथ कथंचित् प्रापक भी होता है। अतः बाह्य निमित्त के सम्बन्ध में इस आधार पर भूतार्थता का कथन करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के समान ही प्रतीत होता हैं। हम बारबार लिख आये हैं कि उपादान की कार्योत्पत्ति में जो बाह्यवस्तु की निमित्तता स्वीकार की गई है, वह यह कार्य किसका काम है – इसकी सिद्धि का निमित्त होने से कालप्रत्यासत्तिवश ही स्वीकार की गई है। उसमें निमित्तता स्वीकार करने का और कोई दूसरा कारण नहीं है। समीक्षक उपादान की कार्योत्पत्ति में निमित्त का भले ही बोलबाला मानता रहे, परन्तु आगम में उसे कालप्रत्यासत्तिवश ही स्वीकार किया गया है। वैसे कार्य में उसका बोलबाला तो है, पर यह कार्य किस उपादान का है, इसकी प्रसिद्धि करने में ही बोलबाला है। (स. पृ. १३३)

यहाँ समीक्षक ने स्वकल्पित उपादान का लक्षण देने के साथ आगम सम्मत उपादान का लक्षण लिखकर अपने पक्ष के समर्थन में लिखा है कि "परन्तु उसका (हमारा) यह कहना इसलिये निरर्थक है कि पूर्व में प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि आगम प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि "उपादान की वह कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय निमित्त का सहयोग मिलने पर ही होती है, उसके अभाव में नहीं। इसतरह कार्योत्पत्ति में कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय का बोलबाला सिद्ध न होकर निमित्त का ही बोलबाला स्पष्ट सिद्ध होता है।" सो इस सम्बन्ध में पहिले तो हम उस प्रमाण को दे देना चाहते हैं जिस द्वारा समीक्षक अपने मत का समर्थन कर रहा है। वह प्रमाण इसप्रकार है –

पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव कार्यकारित्वप्रतीतेः। तत्परिणतिश्चसहकारिकारणापेक्षयैव इति, पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यंच।

पर्याय शक्ति से समन्वित ही द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी होती है, क्योंकि विशिष्ट पर्याय से परिणत ही द्रव्य में कार्यकारीपने की प्रतीति होती है और पर्यायशक्ति समन्वित द्रव्यशक्ति की कार्यरूप परिणति सहकारी कारण सापेक्ष ही होती है, क्योंकि पर्यायशक्ति उसीसमय होती है, इसलिये सर्वथा कार्योत्पत्ति का प्रसंग नहीं आता और न ही सहकारी कारण की अपेक्षा की व्यर्थता सिद्ध होती है।

यह प्रमेयकमल मार्तण्ड के उक्त उद्धरण का अर्थ है। समीक्षक ने अपने इष्ट प्रयोजन को सिद्ध करने के अभिप्राय से एक तो "तत्परिणतिश्च" का अर्थ पूरा नहीं दिया है। दूसरे "पर्याय-शक्तेस्तदैव" से लेकर शेष वाक्य के अर्थ के करने में भी गोलमाल कर दिया है, क्योंकि उसमें "तदैव" पद को छोड़कर अपने अभिप्रायनुसार किसी तरह अर्थ बिठाने की चेष्टा की गई है, यह सभी तत्वज्ञ जानते हैं कि चाहे मोहरूप कार्य हो और चाहे संसाररूप कार्य हो, कार्यकारणभाव में निश्चय-व्यवहार की युति नियम से होती है। प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय में कार्य होता है और प्रत्येक समय में उसके अनुरूप निश्चय साधन के साथ व्यवहार साधन का योग भी बनता रहता है। आगम में जो नियत उपादान का सुनिश्चित लक्षण दिया गया है, वह इसी अभिप्राय से ही दिया गया है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिन दोषों की हम कल्पना नहीं कर सकते, वे दोष उपस्थित हो जाते हैं। यथा –

(१) चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में रत्नत्रय की पूर्णता होने पर भी अनन्तरसमय में चार अघातिया कर्मों की क्षयरूप अवस्था न होने से जीव का मोक्षमार्ग नहीं होना चाहिए।

(२) भट्टाकलंकदेव ने तत्वार्थवार्तिक अ० १ सूत्र २० में जो यह लिखा है कि – "मिट्टी के स्वयं भीतर से घटभवन रूप परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुषप्रयत्न निमित्तमात्र होते हैं, सो उनका ऐसा नियम करना नहीं बन सकता, क्योंकि समीक्षक के मत.नुसार उक्त उपादान रहे, परन्तु बाह्य सामग्री न हो तो घटकार्य नहीं होना चाहिये।

पर ऐसा नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उपादान भाव को प्राप्त होती रहती है और प्रत्येक समय में कालप्रत्यासत्तिवश उस समय के उपादान के अनुसार होनेवाले कार्य के अनुकूल द्रव्यपर्यायरूप बाह्य सामग्री का योग भी मिलता रहता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड के उक्त वचन का भी यही आशय है। उसमें यही तो कहा गया है कि उपादान से कार्य होते समय सहकारी कारण की अपेक्षा रहती है, क्योंकि पर्यायशक्ति उसी समय होती है, इसलिये सर्वदा कार्य होने का प्रसंग नहीं आता है। यहाँ जो सहकारी कारण की व्यर्थता का निषेध किया गया है, सो उससे यह सहज ही सूचित हो जाता है कि उपादान की व्यर्थता स्वीकार नहीं की गई है, वैसे ही सहकारी कारण की व्यर्थता भी नहीं माननी चाहिये। जहाँ उपादान निश्चय से सार्थक है, वहीं सहकारी कारण असद्भूत व्यवहारनय से साधक हैं। समीक्षक जो सहकारी कारण की सहायता को भूतार्थ रूप से यथार्थ मानता है, उसी का आगम में निषेध किया गया है, असद्भूत व्यवहारनय से उसे सहायक कहने में बाधा नहीं आती, क्योंकि परमार्थ नहीं होते हुए भी ऐसा व्यवहार लोक में किया ही जाताहै कि उससे यह कार्य हुआ, जब कि होता है तो स्वयं अपने उपादान से ही होता है।

इसप्रकार प्रमेयकमल मार्तण्ड के उक्त वचन पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विवक्षित उपादान में विवक्षित कार्यरूप परिणत होने की योग्यता केवल एक समय तक ही पायी जाती है, सर्वथा नहीं पायी जाती। हाँ यदि उक्त मात्र द्रव्यशक्ति को उपादान कहा गया होता तो समीक्षक का स. पृ १३३ में यह कहना ठीक होता कि – "उपादान में विवक्षित कार्यरूप परिणत होने की योग्यता स्वभावतः विद्यमान रहने पर भी उसकी वह परिणति तभी होती है, जब उसे

अनुकूल प्रेरक या उदासीन या दोनों प्रकार के निमित्तों का सहयोग प्राप्त होता है और तबतक वह परिणति रुकी रहती है, जबतक उसे उसका सहयोग प्राप्त नहीं होता।" परन्तु उसका आगम में केवल द्रव्यशक्ति को उपादान मानने का स्पष्ट शब्दों में निषेध करके पर्याय-शक्ति विशिष्ट द्रव्य शक्ति को ही उपादान स्वीकार किया गया है। इसलिये समीक्षक ने यहाँ जो कुछ भी लिखा है, वह केवल अपने मन के समर्थन में आगम का अपलाप करके ही लिखा है।

यहाँ यह अवश्य स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उक्त वचन में जो "सहकारिकारणपेक्षयैव" पद आया है, वह असद्भूत व्यवहार से ही कहा गया है। परमार्थ से तो प्रत्येक द्रव्य परनिरपेक्ष होकर स्वयं अपना कार्य करता है, ऐसा वस्तुस्वभाव है।

आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "उपादान की वह कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय निमित्त का सहयोग मिलने पर ही होती है, उसके अभाव में नहीं। इसतरह कार्योत्पत्ति में कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय का बोलबाला सिद्ध न होकर निमित्त का ही बोलबाला स्पष्ट सिद्ध होता है।" सो यहाँ पूछना यह है कि समीक्षक यह सब कथन असद्भूत व्यवहारनय से कर रहा है या निश्चयनय से। यदि वह कहे कि वह कार्य में परसापेक्षपने का कथन असद्भूत व्यवहारनय से कर रहा है, तो आगम के अनुसार इस कथन में हमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती, क्योंकि यह नय पराश्रित होता है – ऐसा आगमवचन है। यदि वह यह सब कथन निश्चयनय से कर रहा है, तो उसका ऐसा लिखना आगम-बाह्य है, क्योंकि निश्चयनय स्वाश्रित होता है, ऐसा आगमवचन है। इसलिये परमार्थ से यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय अपने कार्य का उपादान होकर पर की अपेक्षा किये बिना स्वयं अपना कार्य करती है। परकी सहायता से कार्य होता है, यह केवल असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है।

समीक्षक ने यह लिखा है कि "यतः उपादान को निमित्त का सहयोग प्रायोगिक या प्राकृतिक रूप में सतत् मिलता ही रहता है, अतः उसकी कार्योत्पत्ति सतत् होती रहती है, उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।" सो उसका यह लिखना इसलिये ठीक है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य पर्यायशक्ति से समन्वित होने के कारण प्रतिसमय उपादान है, अतः प्रतिसमय वह स्वयं अपनी परिणाम शक्ति के कारण कार्यरूप परिणमता है, चाहे वह कार्य अर्थ पर्यायरूप हो और चाहे व्यंजनपर्यायरूप हो। तथा कालप्रत्यासत्तिवश उक्त दोनों प्रकार के कार्यों में असद्भूत व्यवहार से यथासंभव प्रायोगिक या वैस्रसिक अनुकूल बाह्य निमित्तों का योग भी होता ही रहता है। (स. पृ. १३४)

जिससमय उपादान कार्यरूप परिणमता है, उसीसमय उसका बाह्य निमित्त है। इसमें व्यवधान नहीं पड़ता, अतएव इसी का नाम कालप्रत्यासत्ति है। इसप्रकार समीक्षक के उक्त कथन से यही सिद्ध होता है फिर भी समीक्षक व्यवहार की सिद्धि के अभिप्राय से अन्य जो कुछ भी लिखता रहता है, इसका हमें खेद है।

आगे समीक्षक ने अपने उक्त कथन के समर्थन में यह लिखा है कि – "इस तरह यही मानना युक्तिसंगत है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब उपादान में कार्योत्पत्ति उसकी अपनी योग्यता के आधार पर उन निमित्तों के सहयोग के अनुसार ही होती है" सो उसका ऐसा लिखना निश्चयनय के पक्ष का अपलाप करना ही कहा जायगा, क्योंकि परमार्थ से उपादान कर्ता होकर स्वयं कार्यरूप परिणमता है और कालप्रत्यासत्तिवश उक्त कार्य की अविनाभावी बाह्य वस्तु उक्त कार्य की परमार्थ कारण न होकर भी निमित्त कही जाती है। तथा इसके सहयोग से यह कार्य हुआ ऐसा प्रयोजनवश असद्भूत व्यवहार कर लिया जाता है। इसप्रकार परमार्थ और असद्भूत व्यवहार की विवक्षित कार्य के प्रति युति कैसे बनती है यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उपादान कारण कार्योत्पत्ति के लिये केवल आधार ही नहीं है, वह स्वयं कर्ता होकर कार्यरूप परिणमता भी है। यदि कार्योत्पत्ति के समय छह कारकरूप उसे स्वीकार किया जाय तो ऐसा स्वीकार करना परमार्थ ही होगा। उसमें असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त का कथन तो प्रयोजनवश ही किया जाता है, जो मोक्षमार्ग में गौण है। मात्र संसारमार्ग में अज्ञानीजन ही उसके बोलवाले को स्वीकार करते हैं। मोक्षमार्ग में जो उसकी प्ररूपणा है, वह मात्र प्रयोजनवश ही की गई है।(स. प्र. १३४)

उपादान स्वयं कर्ता होकर कार्यरूप परिणमता है। कालप्रत्यासत्तिवश बाह्यवस्तु उसमें निमित्त होती है। यहाँ यदि समीक्षक निमित्त की कार्यकारिता असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा हृदय से स्वीकार कर लेता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं, पर उसका ऐसा स्वीकार करना कि बाह्य निमित्त उपादान के कार्य की उत्पत्ति में भूतार्थ रूप से सहायक है, आगमविरुद्ध तो है ही, पर्यायान्तर से जैनदर्शन में कर्तारूप में ईश्वरवाद को घुसेड़ना ही कहा जायगा। (स. पृ. १३४)

। आगे शंकाकार समीक्षक ने १, २ आदि संख्या देकर जो कुछ लिखा है, सो उनके संक्षेप में आगम क्या है – इसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है। यथा –

(१) समर्थ उपादानकर्ता स्वयं अर्थात् अपने आप ही पर की अपेक्षा किये बिना कार्यरूप परिणमता है – यह परमार्थ है, क्योंकि अपेक्षा विकल्प में होती है, उसे छोड़कर अपेक्षा वस्तु में नहीं होती। और परमार्थ परनिरपेक्ष होता है – ऐसा आगमवचन है – "स्वाश्रितो निश्चयनयः।" व्यवहार से पराश्रित कथन अवश्य किया जाता है, परन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप वस्तु पराश्रित नहीं होती। अज्ञात और ज्ञात दोनों अवस्थाओं में वह स्वाश्रित ही रहती है। मान्यता में पराश्रित मानना दूसरी बात है। उस आधार पर वस्तु को ही पराश्रित मानना कल्पना के सिवाय और क्या कहा जा सकता है।

(२) असद्भूत व्यवहारनय से यह तो कहा जाता है कि इसकी सहायता से यह कार्य हुआ, पर बाह्य निमित्त का सहायक होना भूतार्थ है, यह जो समीक्षक का मानना है, यही आपत्तियोग्य है। एक ओर निमित्त को समीक्षक असत् कारण कहता है और दूसरी ओर उसकी सहायता को भूतार्थ भी मानता है। सो उसके ऐसे अनर्गल कथन को आगम सम्मत कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।

(३) पर में "ममेदं" इस असद्भूत व्यवहार का नाम ही संयोग है। अन्यथा दो वस्तुओं में स्वरूप से संयोग संबंध नहीं बनता। ऐसी अवस्था में समीक्षक का यह लिखना कि "उसीप्रकार उपादान कारणभूत वस्तु की उस कार्यरूप परिणति में सहायक होने के आधार पर कार्य के प्रति निमित्त कारणभूत वस्तु में स्वीकृत कारणता भी वास्तविक है।" सो उसका ऐसा लिखना इसलिये हास्यास्पद प्रतीत होता है, क्योंकि एक ओर तो बाह्य निमित्त में कारणता को वह अयथार्थ स्वीकार करता है। (स. पृ. ४ पैरा ७) और दूसरी ओर यहाँ उसकी कारणता को वह वास्तविक मान लेता है। इस प्रकार उसके इस परस्पर विरुद्ध कथन को कौन विवेकी यथार्थ मानेगा, इसका उसे स्वयं विचार करना चाहिये।

यद्यपि समीक्षक यहाँ यह कह सकता है कि पहले हम (स. पृ. ४ में) निमित्त में जो अयथार्थ कारणता लिख आये हैं, वह निमित्त उपादान के कार्यरूप नहीं "परिणमता", इस आधार पर नहीं। सो उसका ऐसा लिखना या कहना इसलिये आगमविरुद्ध है, क्योंकि एक स्वर से आगम यही स्वीकार करता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने आप ही कार्यरूप परिणमता है। जैसा कि आगम में कहा है –

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्यपुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्ते पुद्गलाः कर्मभावेन ।।१२।। (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

इसकी व्याख्या करते हुए पंडित प्रवर टोडरमलजी लिखते हैं –

"जब जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमन करता है, तब उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप अवस्था को धारण करता है।"

इसलिये यही निश्चय करना चाहिये कि उपादान कर्त्ता होकर अपने कार्य को स्वयं (अपने आप या परनिरपेक्ष होकर) उत्पन्न करता है, किन्तु कालप्रत्यासत्तिवश अन्य वस्तु में निमित्त व्यवहार होकर असद्भूत व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि इसको निमित्तकर यह कार्य हुआ। (स. पृ. १३५)

(४) समीक्षक द्वारा की गई व्याख्या से मालूम पड़ता है कि वह बाह्य निमित्त के प्रेरक और उदासीन ये दो भेद परमार्थ से मान लेता है और इस आधार पर वह यह भी मान लेता है कि प्रेरक निमित्तों के बलपर कार्य, कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य के होनेपर न होकर प्रेरक निमित्तों के बलपर उपादान में आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है और इसके लिये वह उपादान को अनेक योग्यतावाला भी मान लेता है। और इस आधार पर वह यह भी मान लेता है कि उपादान में कार्य होकर भी उपादान की उन अनेक योग्यताओं में से जिस योग्यता के अनुकूल निमित्त होते हैं उस रूप उस उपादान में परिणाम की उत्पत्ति निमित्तों के बलपर होती है। उसके मन से इसे ही यदि उपादान के परमुखापेक्षी होने के आधार पर प्रेरक निमित्तों का बोलबाला कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है, परन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। इस सम्बन्ध में विशेष खुलासा हम पहले ही कर आये हैं। फिर भी यहाँ प्रयोजन के अनुसार लिखते हैं –

यह समीक्षक द्वारा प्रकृत में किये गये पूरे वक्तव्य का सार है। यदि इसके द्वारा उक्त तीन दौरों के साथ इस समीक्षा में किये गये कथन का सार माना जाय तो कोई अयुक्ति नहीं होगी। उसके अनुसार –

(१) वस्तुतः इस द्वारा समीक्षक ने उक्त कथन द्वारा निश्चय पक्ष को पराश्रित और व्यवहारपक्ष को स्वाश्रित मानकर पूरे जिनागम को उलट कर रख दिया है।

(२) उसे उसकी चिन्ता नहीं कि हमारा ऐसा लिखना जैनदर्शन न होकर पराश्रित नैयायिक दर्शन हो जायगा, उसे तो जैनधर्म द्वारा स्वीकृत सम्यक् नियति को कैसे असत्य ठहराया जाय, इसकी चिन्ता है; आगम की नहीं।

(३) इस द्वारा वह समीक्षक निश्चयपक्ष को पराश्रित और व्यवहार पक्ष को स्वाश्रित बनाने का प्रयत्न तो कर ही रहा है, साथ ही वह द्रव्य स्वभाव से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है, इसका निषेध कर उसे पराश्रित रूप से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप सिद्ध करने का भी असफल प्रयत्न कर रहा है।

इतना लिखने के बाद अब हम देखें कि यह "प्रेरक" शब्द का प्रयोग मुख्यता से आगम में कहाँ-कहाँ आया है –

> तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः।
> वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी ।। (स. अ ५ सू. १९)

यह सर्वार्थसिद्धि का उदाहरण है। इसमें पुद्गल शब्द परिणत हों, इस कार्य में उसप्रकार की सामर्थ्य से युक्त क्रियावान् आत्मा को प्रेरक कहा गया है।

यह पहला उदाहरण है, सो इसका तो इतना ही अर्थ है कि सकर्मा आत्मा के इच्छापूर्वक की गयी क्रिया को निमित्तकर वहाँ स्थित पुद्गलवर्गणायें स्वयं ही शब्दरूप परिणम जाती हैं। इसके लिये आप्तमीमांसा के "बुद्धिपूर्वपेक्षायां" इत्यादि वचन पर दृष्टिपात करना चाहिये।

समीक्षक हमारे इस कथन को आगमानुकूल न माने तो वहीं हम उससे पूछना चाहेंगे कि आ. अमृतचंद्रदेव ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में जो "जीवकृतं परिणामं" इत्यादि वचन कहा है, सो वहाँ यह समीक्षक ही बतलावे कि जीव के रागादि परिणाम यदि उक्त न्याय के अनुसार कर्म की प्रेरणा से होते हैं तो फिर उन परिणामों को आचार्य ने जीवकृत क्यों कहा ?

यदि वह कहे कि उन परिणामों का कर्त्ता तो स्वयं जीव ही है, कर्मों का उदय नहीं, उनका उदय तो निमित्तमात्र है। यदि ऐसा है तो हम कहते हैं कि समीक्षक को प्रकृत में ऐसा मानने में क्या आपत्ति है अर्थात् कुछ भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

तो यहाँ हमारा पूछना है कि आत्मा ने इच्छा स्वयं की कि कर्म के उदय की प्रेरणा से हुई ?

यदि वह कहे कि आत्मा ने इच्छा स्वयं नहीं की, किन्तु कर्म के उदय की प्रेरणा से हुई, तो हम कहेंगे कि कर्म तो जड़ हैं, इसलिये जब वह प्रेरणा कर ही नहीं सकता, ऐसी अवस्था में कर्म के उदय की प्रेरणा से इच्छा हुई, यह कहने की अपेक्षा यह कहना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि आत्मा ने स्वयं की, कर्म का उदय उसके होने में निमित्तमात्र है।

अतः "प्रेयमाणाः" पद को असद्भूत व्यवहारनय का कथन मानकर प्रकृत में यही समझना चाहिये कि वास्तव में क्रियावान् आत्मा पुद्गल को शब्दरूप परिणमाने की सामर्थ्य से रहित है, फिर भी उसमें उसप्रकार की सामर्थ्य का आरोप करके उसे उपचार से शब्दरूप परिणमने में प्रेर्यमाण कहा गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।

दूसरा उदाहरण पंचास्तिकाय गाथा ८८ की समय व्याख्या का है —

यथा हि गतिपरिणतः प्रभंजनः वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते, न तथा धर्मः। खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते।

जैसे कि गति परिणत वायु ध्वजाओं के गति परिणाम का हेतु कर्त्ता देखा जाता है, उसप्रकार धर्मद्रव्य नहीं, क्योंकि वह निष्क्रिय होने से गति परिणाम को कभी प्राप्त नहीं होता।

इस उदाहरण में कहा गया है कि क्रियावान् पदार्थ अन्य के कार्य में हेतुकर्त्ता अर्थात् प्रेरक होता है, निष्क्रिय द्रव्य नहीं; क्योंकि वह कभी भी गति परिणाम को नहीं प्राप्त होता। यतः वायु गति परिणाम करता है और उसे निमित्त कर ध्वजा भी गति परिणामस्वरूप परिणमने लगती है। सो यह क्रियावान् दोनों द्रव्यों को लक्ष्य में रखकर उदाहरण मात्र है। वायु जानकर क्रिया परिणाम रूप नहीं परिणम सकता है। इससे यह सूचित होता है कि जितने भी कार्य वर्तमान में हुई चेष्टापूर्वक होते हैं, उनमें आगम के अनुसार आत्मा ने यह कार्य पुरुषार्थपूर्वक किया ऐसा व्यवहार होता है, उन्हें ही प्रायोगिक कहा जाता है, अन्य को नहीं; क्योंकि अन्य को हेतुकर्त्ता कहना उपचार का उपचार मात्र है।

इष्टोपदेश में यह वचन उपलब्ध होता है —

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥ ३५॥

इसकी टीका में पं० आशाधरजी ने लिखा है —

भद्र! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्वे तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति।

अर्थ:—हे भद्र! तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य अभव्य आदि जीव को धर्माचार्यादि के हजारों उपदेश मिलने पर भी वह विज्ञपने को नहीं प्राप्त हो सकता।

आशय यह है कि उपादान में कार्यरूप परिणमने की योग्यता होने पर वह स्वयं कार्यरूप परिणमता है और बाह्य सामग्री उसमें उसीसमय निमित्त होती है, क्योंकि निमित्तपने को प्राप्त हुई बाह्य सामग्री और उपादानभूत द्रव्य के कार्य में नियम से बाह्य व्याप्ति होती है, इसी को काल-प्रत्यासत्ति कहते हैं। यदि बाह्य सामग्री में कारणता भूतार्थ मानी जाय तो जैसे शुक अपनी सहज योग्यतावश बाह्य सामग्री के सद्भाव में पढ़ने लगता है, उसीप्रकार सहज योग्यता के अभाव में भी बाह्य सामग्री के बल से बक को भी पढ़ लेना चाहिये; किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी बाह्य निमित्त के बल से बक नहीं पढ़ सकता और शुक पढ़ लेता है। इससे मालूम पड़ता है कि बाह्य सामग्री तो कार्य में निमित्त मात्र है, जो भी कार्य होता है, वह द्रव्य में पर्याय-योग्यता के प्राप्त होने पर ही होता है। इसीकारण भट्टाकलंकदेव ने दैव का लक्षण करते हुए अपनी अष्टशती टीका में लिखा है कि **"पुराकृतं कर्म योग्यता च दैवम्'** अर्थात् पहले किया गया कर्म और योग्यता, इन दोनों को दैव कहते हैं। देखो १४वें गुणस्थान में असातावेदनीय का उदय तो है, पर तज्जन्य दुःख और उसका वेदन नहीं है, क्योंकि उस समय उस जीव में द्रव्य-पर्याययोग्यता का अभाव हो गया है। इसलिये सिद्धान्त यह फलित होता है कि बाह्य सामग्री का सद्भाव या क्रिया-शीलता कार्य की नियामक नहीं होती। उपादानगत द्रव्य-पर्याय योग्यता ही कार्य की नियामक होती है, क्योंकि ऐसे उपादान के अनन्तर समय में नियम से कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये समीक्षक को यह निश्चय कर लेना चाहिये कि बाह्य पदार्थ में,कार्य के काल में मानी गई किसी प्रकार की भी निमित्तता उदासीन निमित्त के समान एक ही प्रकार की होती है। वह समीक्षक के मतानुसार प्रेरक और उदासीन के भेद से दो प्रकार की नहीं होती। विवक्षाभेद से उसे दो प्रकार का कहना या लिखना और बात है। होती है वह एक ही प्रकार की। यही इष्टोपदेश के वचन के अनुसार पंचास्तिकाय के उक्त वचन का आशय है।

आगे स पृ. १३६ में जो समीक्षक ने दोनों के कथनों में समानता दिखाने का प्रयत्न किया है; सो उपहास मात्र है, क्योंकि हम बाह्य निमित्त आगमानुकूल जो अर्थ करते हैं, उसे समीक्षक स्वीकार ही नहीं करता। इसीप्रकार हमने उपादान का जो आगमानुसार अर्थ किया है कि प्रत्येक द्रव्य के उपादान की स्थिति में पहुँचने पर अनंतर समय में उसके अनुसार नियम से कार्य होता है, सो इसको भी समीक्षक स्वीकार नहीं करता। फिर दोनों के कथनों में समानता कैसी ? समीक्षक की एक आदत है कि वह मन्तव्य की पुष्टि में तो विधान तो करता है, पर इसके समर्थन में आगमप्रमाण नहीं उपस्थित कर पाता। उससे चारों दौरों में जो कुछ लिखा है, वह आगम को सामने रखकर नहीं लिखा है। आगम का काल्पनिक अर्थ करके उसे वह आगमप्रमाण माने, यह दूसरी बात है। उसने जो कुछ भी लिखा है, वह अपने कल्पित मत का प्रचार करने के अभिप्राय से ही लिखा है। विशेष क्या लिखें ?

कथन नं ४६ का समाधान :—लौकिक दृष्टि से संसारी प्राणी जो मान्यता बनाता है, उस मान्यता को यदि आगम कहा जाय तो अज्ञान और सम्यग्ज्ञान में अन्तर ही क्या रहेगा ? मालूम पड़ता है कि समीक्षक आगम के स्थान में अपनी मान्यता को आगम बतलाकर आप जनता की दिशा-भूल करना चाहता है। आगम तो उपादान की अपेक्षा अव्यहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य

में उसके अनुसार ही कार्य होता है। आगम में वहाँ भी कार्यकारण भाव का सूक्ष्म विचार किया गया है। वहाँ जितने कार्य बुद्धिपूर्वक होते हैं, उन्हें प्रायोगिक कार्य कहा गया है और शेष सब कार्यों को विश्रसा कहा गया है।[1] यद्यपि आगम में बाह्य कारण के विषय में उदासीन कारण और प्रेरक कारण ये नाम अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु इनका उक्त दो कारणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए हम पूर्व में तत्त्वचर्चा के प्रसंग में आगम के अनुसार जो अभिप्राय व्यक्त कर आये हैं, वही ठीक है, इसमें सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है। हम समझते हैं कि समीक्षक अपनी मान्यता को आगम पर लादने की अपेक्षा आगम के अनुसार अपने ज्ञान में संशोधन कर लेगा।

कथन नं. ४७ का समाधान :—जिसे अपर पक्ष प्रेरक कारण कहता है, वह अयथार्थ कारण है – ऐसा समीक्षक स्वयं स. पृ. ४ में लिख आया है। फिर भी वह उक्त कारण के बलपर कार्य को सुनिश्चित उपादान के अनुसार होना न मानकर कार्य का आगे-पीछे कभी भी होना बतलाने से विरत नहीं होता, इसका हमें ही क्या, सभी को आश्चर्य होगा।

समीक्षक इस कथन के अन्तर्गत लिखता है कि "यह बात दूसरी है कि वस्तु में उपादान शक्ति का अभाव रहने पर कोई भी निमित्त उस शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता है।" सो यहाँ यह देखना है कि समीक्षक उपादान से किसको ग्रहण करके यह अभिप्राय व्यक्त कर रहा है। यदि वह द्रव्यशक्ति को उपादान मानकर यह अभिप्राय व्यक्त करता है तो अकेली द्रव्यशक्ति तो उपादान हो ही नहीं सकती, क्योंकि बालू भी पुद्गल है और मिट्टी भी पुद्गल है। यदि घटकार्य की उत्पत्ति में मात्र पुद्गल होना चाहिए, भले हो वह किसी भी पयाय में क्यों न हो, तो बालू भी घट बन जाना चाहिए, क्योंकि वह भी पुद्गल है। यदि कहो कि बालू में घटकार्य को उत्पन्न करने की द्रव्य-शक्ति नहीं पायी जाती, इसलिए बालू में घटकार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तो अधिक विवाद में न पड़कर हम कहते हैं कि जो मिट्टी प्रायोगिक निमित्तरूप कुंभकार को निमित्तकर चाकपर रखी हुई है, उसमें पिण्ड की भूमिका में ही घट बन जाना चाहिए; क्योंकि उस समय उसमें द्रव्यशक्ति बराबर मौजूद है। यदि कहो कि जब वह मिट्टी प्रायोगिक बाह्य कारण को निमित्तकर अव्यवहित पूर्वपर्याय-रूप अवस्था को स्वयं बना लेती है, तभी वह घट पर्यायरूप परिणमति है; तो वहाँ हम कहेंगे कि उनमें भी वह अपने परिणाम स्वभाव के कारण ही परिणमती है, प्रायोगिक बाह्य निमित्त के कारण नहीं। ऐसा वस्तुस्वभाव है, इसलिए समीक्षक को सर्वप्रथम आगम के अनुसार उपादान का निर्णय ले लेना चाहिए। यदि वह निर्णय ले ले तो हमें विश्वास है कि उसके द्वारा ऐसा आगमविरुद्ध लिखना स्वयं बंद हो जायगा।

लोक और आगम में जिसे अनुकूल निमित्त कहते हैं, वह कार्यकाल में नियम से होता है - ऐसी उनमें बाह्य व्याप्ति है। इसी अर्थ में स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में **"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं"** इस वचन का निर्देश किया है। अधिक क्या लिखें, और इसी अर्थ में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में यह सूत्रवचन उपलब्ध होता है –

1. त. वा. अ. ५ सू. २४ पृ. २३२-बंधोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोग भेदात्।

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुदं ते कज्जं हवे णियमा ।।

कथन नं. ४८ का समाधान :—यहाँ पर स. पृ. १६३ में अनेक बातों का निर्देश करने के बाद समीक्षक ने दो बातों का मुख्यरूप से उल्लेख किया है —

(१) "इस मान्यता का आशय यह है कि जब उपादान को अपनी विवक्षित कार्यरूप परिणति के अनुकूल निमित्त का योग मिलता है, तब ही उपादान की वह विवक्षित कार्यरूप परिणति होती है और न मिलने पर नहीं होती है ।"

(२) यदि कहा जाये कि संसार और मोक्षरूप परिणमन जीव के ही परिणमन हैं, इसलिए वास्तविक हैं; तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से तो वे जीव के नहीं है । व्यवहारनय से ही उसके व्यवहृत होते हैं ।"

क्रम से इन दोनों का समाधान इसप्रकार है—

(१) उपादान अव्यहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को कहते हैं और वह नियम से प्रतिसमय कार्य को जन्म देता है – ऐसा वस्तु का स्वभाव है । और उसी आधार पर बाह्य निमित्त कारण भी यथा-योग्य अवश्य रहता है, ऐसी कार्यकारणभाव की त्रैकालिक व्यवस्था है । इसलिए उपादान को बाह्य निमित्त मिले, तब उपादान अपना कार्य करता है, यह समीक्षक का लिखना एकान्त होने से भ्रम को उत्पन्न करने वाला होने से आगम के अनुसार मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि इससे निश्चयनय के कथन की उपेक्षा होती है ।

(२) संसार और मोक्षरूप परिणमन निश्चय पर्यायार्थिकनय से जीव की पर्यायें हैं । जहाँ भी इन्हें व्यवहारनय से जीव की कही गई है – वहाँ भेदविवक्षा में सद्भूतव्यवहार ही लिखा गया है; किन्तु जहाँ शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा रहती है, वहाँ भेद गौण होकर अभेद मुख्य हो जाता है और इस अपेक्षा से परसापेक्ष आत्मा को ही बंधरूप और परनिरपेक्ष स्वभावरूप परिणत आत्मा को ही मोक्षरूप कहा जाता है । इसके लिए समयसार गाथा १४ और उसकी आत्मख्याति टीका का अवलोकन करना चाहिए ।

एक बात यहाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि जहाँ भी बाह्यवस्तु को कार्य के काल में निमित्तरूप से विवक्षित करके सहायक कहा जाता है, वहाँ वह उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है । इसलिए निमित्त उपादान की कार्यरूप परिणति में कार्यकारी होकर सहायक होता है, यह कहना उसीप्रकार उपचरित है जिसप्रकार कि निमित्त कथन को आगम में उपचरित स्वीकार किया गया है । वैसे देखा जाए तो सहायक और बाह्य निमित्त इन दोनों में से किसी एक के उपचरित स्वीकार कर लेने पर उसी को सहायक कहना स्वयं उपचरित हो जाता है । फिर भी समीक्षक स. पृ. १३३ पैरा २ में उसे वास्तविक सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है । यह विडम्बनापूर्ण स्थिति है ।

स. पृ. १३४ में समीक्षक ने प्रमेयकमलमार्तण्ड का नाम लेकर जिस अपनी बात का समर्थन करने का प्रयत्न किया है, सो हम उससे निवेदन करेंगे कि वह अपनी मान्यता को अपने तक ही सीमित रहने दे, आगम पर लादने का प्रयत्न न करे; क्योंकि वह अपनी मान्यता को प्रमेयकमलमार्तण्ड का नाम लेकर यदि आगमपर लादेगा तो आगे दिए जानेवाले उद्धरण से जो आपत्ति उपस्थित होती है, उसका वह निवारण नहीं कर सकेगा। यथा —

"नहि द्रव्यादिसिद्धिक्षणैः सहयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्य-कारणभावे विचारयितुमुपक्रांतः येन तत्र तस्यासामर्थ्यः प्रसज्यते। किं तर्हि ? प्रथम-सिद्धक्षणेन सह तत्र च तत्समर्थमेव इति असच्चोद्यमेतत्। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षण-मुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात् ? धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः। तथा च न किंचित्कस्याचित्सामर्थ्यं कारणम्, न च असमर्थत्कारणादुत्पत्तिरितीं क्वेयं वराकी तिष्ठेत्कार्यकारणता। (श्लोक वा. ७०-७१)

अर्थ :—सिद्धों के दूसरे आदि सिद्धक्षणों के साथ अन्तिम समयवर्ति अयोगकेवली के रत्नत्रय के कार्यकारणभाव का विचार करने के लिए प्रस्तुत नहीं है, जिससे वहाँ उसकी (समर्थ-उपादान की) असामर्थ्य की आपत्ति प्राप्त हो।

शंका :—तो क्या है ?

समाधान :—प्रथम सिद्धक्षण के साथ यहाँ पर कार्यकारणभाव विवक्षित है और वहाँ पर समर्थ उपादान प्रथम सिद्धक्षण को उत्पन्न करने में समर्थ ही है, इसलिए शंकाकार ने जो पहले कहा है, वह समीचीन नहीं हैं, अन्यथा अग्नि प्रथम धूमक्षण को उत्पन्न करती हुई वहाँ समर्थ कैसे हो सकती है ? यदि प्रथमादि धूमक्षण से द्वितीयादि धूमक्षणों के उत्पन्न होने पर उनको उत्पन्न करने में प्रथम धूमक्षणादि से असमर्थ होने के अग्नि के द्वारा भी प्रथम धूमक्षण के उत्पन्न करने में असमर्थ होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

आगे समीक्षक ने स. पृ. १३५ (४) में जो बाह्य निमित्त के प्रेरक और उदासीन ये दो भेद किए हैं, इनके सम्बन्ध में हम पहले ही इसी कथन ४७ में स्पष्टीकरण कर आए हैं। बाह्यनिमित्त को प्रेरक और उदासीन कहना यह कथन मात्र है। प्रायोगिक और वैस्त्रसिक कहना आगम के अनुसार है।

हमारे और समीक्षक के मध्य जो उपादान और बाह्य निमित्त के विषय में भेद है, यह पूर्वोक्त कथन से ही स्पष्ट हो जाता है, उसको पुनः पुनः दोहराने से कोई लाभ नहीं। समीक्षक का समर्थ उपादान का आगमसम्मत जो लक्षण है, उसे स्वीकार करने में ही लाभ है और उसी में आगम की मर्यादा है।

कथन नं. ४९ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने बाह्य निमित्त को अयथार्थ कारण मानकर भी उसके सहायक होने को यथार्थ मानने का निर्देश किया है, सो वह उसकी अपनी

मान्यता है, क्योंकि जो अयथार्थ कारण हो, उसका सहायक हो जाए यह त्रिकाल में संभव नहीं है। विचार कर देखा जाए तो समर्थ उपादान के द्वारा होने वाले कार्यकाल में बाह्य व्याप्तिवश बाह्य वस्तु को चाहे निमित्त कहो या सहायक — दोनों का अर्थ एक ही है। इससे यह अपने आप ध्वनित हो जाता है कि बाह्य निमित्त वास्तव में निमित्त नहीं है, उपचार से निमित्त अर्थात् उपचार से सहायक है। बाह्य वस्तु है तो सत्, उसमें निमित्तपना या सहायकपना प्रयोजनवश आरोपित है।

कथन नं. ५० का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "जब कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय निमित्त कारणभूत बाह्य सामग्री की सहायता से भी निष्पन्न होती है — ऐसा आगम है तो अपरपक्ष के उक्त कथन के पूर्वपक्ष के प्रश्न का समाधान नहीं होता — वह तदवस्थ बना रहता है।" इसके उत्तर में हमारा यही कहना है कि समर्थ उपादान से होनेवाले कार्य के साथ बाह्य व्याप्ति नियम से होती है। उदाहरणस्वरूप कर्मोदय से होनेवाली कोई भी पर्याय उक्त बात का समर्थन करती है, क्योंकि जिस समय क्रोधादि कर्म का उदय होता है, उसी समय क्रोधादि कषाय होती है — ऐसा इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। दूसरी बात यह है कि केवल कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय उपादान न होकर कार्याव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान होता है। ऋजुसूत्रनय से कार्याव्यवहित केवल पूर्व पर्याय को उपादान कहना दूसरी बात है — तथा कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय को गौण कर द्रव्य को उपादान कहना भी दूसरी बात है, परन्तु वह द्रव्य कार्य का अव्यवहित पूर्व समयवर्ती होना चाहिये।

कथन नं. ५१ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने जिस कथन को उद्धृत कर अपना पक्ष प्रस्तुत किया है — उससे हमारे वक्तव्य का समाधान नहीं होता। आगम तो हमारे वक्तव्य का समर्थन करता है। आगम का उद्धरण हम कथन नं. ४८ के समाधान में दे आये हैं। रही युक्ति की बात, सो आगम में आगम के विरुद्ध अनुभव और युक्ति उपयोगी नहीं हो सकती। यहाँ उसके कथन के समाधानस्वरूप जो कुछ लिखा जा रहा है, वह आगम के अनुसार ही लिखा है; इसलिये प्रकृत में युक्ति, अनुभव और इन्द्रियप्रत्यक्ष की दुहाई देना अपनी अनभिज्ञता को ही सूचित करता है।

कथन नं. ५२ का समाधान :—जब समीक्षक पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति ही कार्योत्पत्ति में कार्यकारी होती है, उसे पूर्वपक्ष भी नहीं झुठलाता है, ऐसा स्वीकारता है तो उसे उक्त उपादान के अनुसार कार्य की उत्पत्ति के समय अनुकूल बाह्य निमित्त की निमित्तता भी स्वीकार कर लेनी चाहिये, क्योंकि इन दोनों में कालप्रत्यासत्ति का नियम है।

कथन नं. ५३ का समाधान :—समीक्षक ने हरिवंश पुराण के श्लोक नं. ७१-७२ के आधार पर दैवशक्ति को जो द्रव्यशक्ति के रूप में अभिप्रेत किया है, पर्यायशक्ति के रूप में नहीं, सो यह उस पक्ष का स्वकल्पित कथन मात्र है, क्योंकि हम यह इसी कथन में बतला आये हैं कि केवल द्रव्यशक्ति कार्योत्पत्ति में समर्थन नहीं होती और केवल पर्यायशक्ति भी कार्योत्पत्ति में समर्थ नहीं होती। इसलिये प्रत्येक कार्य में पर्यायविशिष्ट द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी मानी गई है। यही अर्थ

हरिवंशपुराण श्लोक नं. ७१-७२ प्रकृत में अभिप्रेत है। इसे समीक्षक को भुठलाना नहीं चाहिये। पद-पद पर वह वाह्य निमित्त की सहायता की घोषणा करता है, परन्तु उस पक्ष को यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस समय उपादान अपना कार्य करता है, उसी समय जिसे वाह्य निमित्त कहते हैं, वह स्वयं भी उपादान होकर अपना कार्य करता है। यह एक योग है कि एक के कार्य में काल-प्रत्यासत्तिवश दूसरे को निमित्त कहा जाता है। व्यवहार-निश्चय की यही युक्ति है, अन्य सब एकान्त है।

कथन नं. ५४ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने यह लिखा है कि "उत्तरपक्ष के लेख को मैं गलत इसलिये कहता हूँ कि उसने पूर्वपक्ष पर कार्योत्पत्ति के प्रति कार्यकारी अंतरंग योग्यता को न मानने का उपर्युक्त प्रकार मिथ्या आरोप लगाकर लिखा है" सो उसका ऐसा लिखना इसलिये असंगत है, क्योंकि वह अनेक जगह यह विधान कर आया है कि उपादान हो और अनुकूल निमित्त का सहयोग न मिले तो कार्य आगे-पीछे कभी भी होता है। सो उसके इस कथन से मालूम पड़ता है कि समीक्षक अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य समर्थ उपादान है और जिस समय प्रत्येक वस्तु इस उपादान की भूमिका में पहुँचती है, उस समय उसके अनन्तर समय में नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है और कार्योत्पत्ति के समय अनुकूल वाह्य निमित्त का योग नियम से रहता है। इस कार्यकारण की सम्यक् व्यवस्था को समीक्षक स्वीकार ही नहीं करना चाहता और अपने मिथ्या विकल्पों के अनुसार आगम की इस सम्यक् व्यवस्था को वदलने का प्रयत्न इस समीक्षा में करता आ रहा है, जैसा कि इस कथन में किया है; अन्यथा उसका भाव इस समीक्षा के लिखने का ही नहीं होता। इसी कथन में समीक्षक ने क्रोध पर्याय का उदाहरण देकर जो उसके अनन्तर समय में मान पर्याय के होने का उदाहरण उपस्थित किया है, सो कार्य-कारण की दृष्टि से वहाँपर समर्थ उपादान कारण क्रोधपर्याययुक्त आत्मद्रव्य ही है। इसमें आगम से कोई वाधा नहीं आती। इसकी पुष्टि में हम तत्वार्थश्लोकवार्तिक का एक उद्धरण उपस्थित कर रहे हैं। उससे उक्त वात को स्पष्ट करने में समीक्षक को सहायता मिलेगी, ऐसी हम आशा करते हैं—

दर्शनपरिणामपरिणतो आत्मा दर्शनम्। तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः। पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादि द्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादनत्वायोगात् कूर्मादिरोमवत्। (पृ. ७५)

अर्थ :—नियम से दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा दर्शन है। वह उपादान है, क्योंकि उससे विशिष्ट ज्ञान परिणाम की उत्पत्ति होती है। ऐसा नियम है कि निरन्वय परिणाम मात्र को और जीवादि द्रव्यमात्र को सर्वथा उपादान होने का अयोग है। जैसे कछुवे आदि के रोम नही पाये जाते, वैसे ही अन्वयरहित पर्याय को तथा पर्यायरहित द्रव्य को उपादानता नहीं वनती।

इतने स्पष्ट आगमप्रमाण के रहते हुए भी कर्मशास्त्र की दुहाई देकर अपनी मान्यता के अनुसार समर्थ उपादान के कार्यरूप परिणति में वाह्य सामग्री की वलवत्ता को सिद्ध करने का दुष्प्रयत्न यह वतलाता है कि वह पक्ष अपनी मान्यता के आगे आगम को कोई महत्व नहीं देता। इससे अधिक हम उस पक्ष के ऊपर और टिप्पणी क्या करें?

कथन नं. ५५ का समाधान :—समीक्षक ने निष्कर्परूप में जो यह लिखा है कि "कपड़े की अपनी कार्यकारी अंतरंग योग्यता व प्रायोगिक ढंग से प्राप्त दरजी के व्यापार आदि वाह्य सामग्री के आधार पर निष्पन्न हुई कोट पर्याय, उस वाह्य सामग्री की क्षण-क्षण में होती हुई अन्य रूपता के आधार पर अन्य-अन्य रूप ही होती है।" सो इस कथन में समीक्षक संशोधन करके आगे कहे अनुसार लिखे तो उक्त कथन आगमानुसार हो जावेगा। कपड़ा जब प्रत्येक समय में अपने समर्थ उपादान के अनुसार कर्ता होकर अपनी प्रत्येक समय में होनेवाली कोट पर्याय को निष्पन्न करता है, तब दर्जी उसके होने में स्वयं प्रायोगिक निमित्त हो जाता है, क्योंकि इस कथन में कपड़ेरूप कर्ता की स्वतंत्रता के साथ दर्जीरूप निमित्त की स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहती है और इस प्रकार इस कथन में व्यवहार-निश्चय कथन की आगमानुसार संगति बैठ जाती है। इसके सिवाय समीक्षक के उक्त कथन में ऐसी कोई और बात नहीं है, जिसका हम यहाँ खुलासा करें।

कथन नं. ५६ का समाधान :—समीक्षक जब व्यवहारनय के कथन को अभूतार्थ कहता है तो उसे परद्रव्य के कार्य में निमित्त की सहायता को अभूतार्थ ही मान लेना चाहिये। उस पक्ष का वह कौन सा ढंग है, जिसके अनुसार व्यवहारनय के कथन को वह भूतार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है। यह तो आगम की चर्चा है, इसमें ऐसा ढंग मान्य नहीं हो सकता, जो स्वरूप से सत् न हो या उपचार सत् न हो।

कथन नं ५७ का समाधान :– समीक्षक ने इस कथन में हमारे जिस वक्तव्य का उल्लेख किया है, वह यथार्थ है। हमने वह वक्तव्य निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिये नहीं लिखा है, क्योंकि जितने भी वाह्य निमित्त हैं, वे परके कार्य करने में स्वरूप से ही असमर्थ होते हैं। उनको परके कार्य करने में अकिंचित्कर सिद्ध करने का हमारा कोई प्रयोजन भी नहीं था। हमने तो केवल उस वक्तव्य में निश्चयनय की व्यवस्था को ही स्पष्ट किया है। समर्थ उपादान स्वय कर्ता होकर निरपेक्ष होकर ही अपना कार्य करता है और जिसे हम वाह्य निमित्त कहते हैं, वह भी स्वयं कर्तारूप से परनिरपेक्ष होकर अपना कार्य करता है। इसप्रकार स्वतंत्र होकर दोनों ही अपना-अपना कार्य करते हैं। कालप्रत्यासत्तिवश यह तो तत्काल योग की बात है कि एक के कार्य में दूसरे को वाह्य निमित्त कहा जाता है। इसलिये परको अपने से भिन्न परके कार्य में किसी भी ढंग से कार्यकारी अर्थात् भूतार्थ रूप से सहायक मानना ही मिथ्यात्व है। असद्भूत-व्यवहारनय से सहायक कहने में कोई आपत्ति नहीं।

कथन नं. ५८ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने अपने वक्तव्य द्वारा निश्चय कथन को जो पराश्रित बनाने का प्रयत्न किया है, यही उसका आगम विरुद्ध कथन है, क्योंकि चाहे प्रायोगिक वाह्य निमित्त ही क्यों न हो, निश्चय को उसके आश्रित मान लेने से निश्चय, निश्चय ही नहीं रह जाता, वह व्यवहार हो जाता है और जो व्यवहार से वाह्य निमित्त है, वह निश्चय का स्थान ग्रहण कर लेता है। उसने आगमविरुद्ध अपनी मान्यता का समर्थन करते हुए आगमविरुद्ध इस कथन को जो बल दिया है, वह युक्तियुक्त नहीं है, आगमविरुद्ध तो है ही।

कथन नं. ५६ का समाधान :—स पृ. ६५-६६ पर समीक्षक के द्वारा लिखा गया यह वचन देखने में नहीं आता कि "अपरपक्ष इष्टोपदेश के नाज्ञो विज्ञत्वमायाति इत्यादि श्लोक को द्रव्यकर्म के विषय में स्वीकार नहीं करता, क्यों स्वीकार नहीं करता, इसका उसकी ओर से कोई कारण नहीं बतलाया गया है।" अतः इस आधार पर समीक्षक द्वारा इस कथन में जितनी समीक्षा की गई है, वह हमारे उपर लागू नहीं होती।

स. पृ. ६५-६६ को देखने से इतना संकेत हम अवश्य कर देना चाहते हैं कि कार्यकाल में कौन कारण गौण होता है और कौन कारण मुख्य, यह सवाल ही नहीं उठता। यह तो विकल्प का विषय है। कहाँ हम किसको गौण या मुख्य कहते हैं, यह विवक्षा के उपर निर्भर है।

कथन नं. ६० का समाधान :—विवक्षित पर्याय विशिष्ट द्रव्य ही विवक्षित कार्य का समर्थ उपादान होता है यह कथन हम पहले स्पष्टीकरण करते हुए सप्रमाण सिद्ध कर आये हैं। यह जैनदर्शन की सम्यक् व्यवस्था है। ऐसी अवस्था में समीक्षक द्रव्ययोग्यता को उपादान मानकर निमित्त के बलपर यदि कार्य की उत्पत्ति की मान्यता की हठ नहीं छोड़ता है तो त. च. पृ. २५ पर हमने जो यह आपत्ति उपस्थित की है कि यदि केवल द्रव्य-योग्यता को उपादान मानकर उससे निमित्त के बलपर घट की उत्पत्ति के समान उससे पट की उत्पत्ति भी हो जानी चाहिये, क्योंकि पुद्गल सामान्य की अपेक्षा घट और पट दोनों ही पुद्गल के के कार्य हैं। यदि वह कहे कि मिट्टी में पट कार्यरूप द्रव्य योग्यता नहीं पायी जाती, इसलिये मिट्टी से पट नहीं बन सकता। सो समीक्षक का यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जिसप्रकार मिट्टी में पट बनने की योग्यता नहीं पायी जाती, क्योंकि उस मिट्टी से घट की उत्पत्ति न होकर स्थूल दृष्टि से स्थास पर्याय की ही उत्पत्ति होती है, अतः यह मानना ही उचित प्रतीत होता है कि जिस पर्याय विशिष्ट मिट्टी से अनन्तर समय में घटपर्याय निष्पन्न होती है, वह मिट्टी घट पर्याय का समर्थ उपादान हो सकती है, अन्य मिट्टी नहीं।

आगे चलकर पृ. १४७ में समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "कोई भी द्रव्य किसी भी विवक्षित पर्याय के परिणमन के सन्मुख तभी होता है, जब प्रेरक निमित्त कारणभूत अन्य सामग्री के सहयोग उसे प्राप्त हो जाता है" सो उसका यह कथन भी इसलिये आगम विरुद्ध है, क्योंकि विवक्षित कार्यकाल में ही विवक्षित अन्य सामग्री निमित्त मात्र होती है, ऐसी आगमिक परम्परा है, इसलिये जभी और तभी का सवाल ही नहीं उठता। जैसा कि छहढाला ढाल–४ पद-१ में कहा है –

> सम्यक् साथे ज्ञान होय पै भिन्न अराधो।
> लक्षण श्रद्धा जान दुहू में भेद अबाधो॥
> सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई।
> युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तें होई॥

तथा इसी अर्थ को तत्वार्थवार्तिक में भी स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है –

यदा मृदः स्वयं अन्तर्भवन्घटपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेय-प्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति।

यथा-मिट्टी के स्वयं भीतर से घट परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुष का प्रयत्न विशेष निमित्त मात्र होते हैं।

इन उल्लेखों से यह अच्छीतरह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे समीक्षक प्रेरक कारण कहता है, उसके बलपर मिट्टी घटपर्याय के सन्मुख नहीं होती; किन्तु जब मिट्टी घटपर्याय के सन्मुख होती है, तभी प्रायोगिक (प्रेरक) कुम्भकार आदि बाह्य पदार्थ निमित्तमात्र होते हैं और यह ठीक भी है, क्योंकि कुम्भकार प्रभृत्ति कोई भी पदार्थ अपने से भिन्न किसी भी कार्य का परमार्थ से कारयिता नहीं होता, अन्य पदार्थ के कार्य में बाह्य द्रव्य मात्र निमित्त होता है। (देखो समयसार गाथा १०७)

कथन नं. ६१ का समाधान :—समीक्षक जब यह मानता है कि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य का परमार्थ से कर्ता नहीं होता, तब वह अपने इस आग्रह को क्यों नहीं छोड़ देता कि सम्यक उपादान के रहते हुए भी यदि बाह्य निमित्त न मिले तो कार्य आगे-पीछे कभी भी हो सकता है, बाह्य-निमित्त के बलपर। उसका ऐसे आग्रह को छोड़े बिना कोई चारा नहीं, क्योंकि समर्थ उपादान और उपचार से समर्थ निमित्त का योग एक काल में होता ही है।

कथन नं. ६२ का समाधान :—चाहे निमित्त निष्क्रिय या क्रियासहित द्रव्य क्यों न हो, पर के कार्य करने में स्वरूप से वह अकिंचित्कर ही है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना ही कार्य करता है, कोई किसी का कार्य नहीं करता। किसी कार्य का असद्भूत व्यवहार से निमित्त होना और बात है और उसका परमार्थ से कर्ता होना या सहायक होना दूसरी बात है।

कथन नं. ६३ का समाधान :—इस कथन में तत्त्वचर्चा पृ. २५ के अपने कथन का उल्लेख करते हुए समीक्षक ने जो अनेक विपरीत मान्यतायें बना रखी हैं, उनको लक्ष्य में रखकर पृ. ६६ में दिया गया हमारा उत्तर यथार्थ है, वह यहाँ पर अविकल लागू होता है; किन्तु हमें खेद है कि वह इस कथन का ऐसा विपर्यास करता है, जिसका प्रकृत में कोई प्रयोजन नहीं। इसका विशेष विचार हम छठी शंका के तीसरे दौर के उत्तर में करनेवाले हैं, इसलिये इस आधार से इसकी विशेष चर्चा करना हम यहाँ इष्ट नहीं मानते। "जिसप्रकार विवक्षित कार्य की विवक्षित बाह्य सामग्री ही नियत हेतु होती है, उसप्रकार उसकी विवक्षित उपादान सामग्री ही नियत हेतु होती है। अतएव प्रत्येक कार्य प्रत्येक समय में प्रतिनियत आभ्यंतर बाह्य सामग्री को निमित्त कर ही उत्पन्न होता है – ऐसा समझना चाहिये। स्व-पर प्रत्यय परिणमन का अभिप्राय भी यही है। इसपर से उपादान को अनेक योग्यता-वाला कहकर बाह्य सामग्री के बलपर चाहे जिस कार्य की उत्पत्ति की कल्पना करना मिथ्या है।" समीक्षक को इसे हृदयंगम कर लेने की आवश्यकता है।

कथन नं. ६४ का समाधान :—समीक्षक के इस कथन में विशेष कोई वक्तव्य देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहाँ भी उन्हीं बातों को दुहराया गया है।

कथन नं. ६५ का समाधान :—समीक्षक स्व-पर प्रत्यय परिणमन से विभावपर्याय और स्वभावपर्याय दोनों को ग्रहण करता है, जो युक्तियुक्त नहीं है। ऐसा लगता है कि वह अपनी भूल को समझ गया है, इसलिये वह इसकी विशेष चर्चा नहीं करना चाहता। हमने कार्योत्पत्ति में बाह्य सामग्री

को एक तो अकिंचित्कर लिखा नहीं, यदि कहीं पर अकिंचित्कर लिखा भी है तो वह समर्थ उपादान का कार्य नहीं कर सकता – इसी अर्थ में लिखा है। समर्थ उपादान के कार्य में वह किसी प्रकार की परमार्थ से सहायता पहुँचाता है, यह तो नहीं है। मात्र समर्थ उपादान ने इस समय क्या कार्य किया, उसका वह सूचक है। इसी अर्थ में उसकी (वाह्यनिमित्त की) सार्थकता है। वैसे असद्भूत व्यवहार से उसकी सहायता से यह कार्य हुआ ऐसा व्यवहार अवश्य होता है।

कथन नं. ६६ का समाधान :—समीक्षक का जो यह कहना है कि "वाह्य सामग्री उपादान के कार्य में सहयोग करती है" उसके इस कथन को ध्यान में रखकर हमने तीन विकल्प उठाये थे –

(१) विकल्प एक में हमने पूछा था कि "दोनों (दो द्रव्य) मिलकर एक कार्य करते हैं, यह सहयोग का अर्थ है।" इसकी समीक्षा करते हुए समीक्षक का कहना है कि "दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नहीं कर सकते, यह तो सामान्यतया निर्विवाद है;, परन्तु उपादान और निमित्त दोनों मिलकर इस रूप में स्व-पर-प्रत्यय कार्य सम्पन्न किया करते हैं कि उपादान कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादान को उस कार्यरूप परिणत होने में प्रेरक एवं उदासीनरूप से वलाधायक होता है। यह बात पद्मनन्दिपंचविंशतिका के" द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" इस वचन से सिद्ध होती है। "सो उसके इस कथन से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि कार्य उपादान में अवश्य होता है, किन्तु उसका कर्ता कौन, इसका उसकी ओर से खुलासा दृष्टिगोचर नहीं होता। पद्मनन्दिपंचविंशतिका का उक्त वचन निश्चय-व्यवहार का दोनों नयों की अपेक्षा प्ररूपण करनेवाला है। सो इससे यही सिद्ध होता है कि निश्चयनय से स्वयं उपादान ही अन्य निरपेक्ष होकर अपना कार्य करता है और असद्भूत व्यवहारनय से वाह्य निमित्त को उसका वलाधायक या सहायक आदि कहा जाता है, क्योंकि अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय को अन्य द्रव्य के कार्य में जो असद्भूत व्यवहार से सहायक कहा गया है वह कालप्रत्यासत्तिवश ही कहा गया है। अन्यथा परमार्थ से कोई किसी की सहायता नहीं करता, यह निर्विवाद है।

(२) विकल्प दो में हमने यह पूछा था कि क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया कर देता है – यह सहयोग का अर्थ है "सो समीक्षक ने यह लिखकर कि – इस कथन में कोई विवाद नहीं है" हमारे कथन को स्वीकार कर लिया है। इसका अर्थ समीक्षक ने कि मान लिया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की त्रिया नहीं कर सकता, तथा वह परमार्थ से दूसरे द्रव्य के कार्य में सहायक भी नहीं हो सकता।

(३) विकल्प तीन में हमने पूछा था कि क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय में विशेषता उत्पन्न कर देता है, साथ ही इसका खुलासा करते हुए यह भी संकेत कर दिया था कि एक द्रव्य के गुणधर्म जब दूसरे द्रव्य में संक्रमित ही नहीं होते तो यह कहना बनता ही नहीं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय में विशेषता उत्पन्न कर देता है, किन्तु समीक्षक हमारे इस सप्रमाण कथन को पूरी तरह से मानने के लिये तैयार नहीं है। वस्तुतः वह एक द्रव्य के कार्य के प्रेरक और उदासीन निमित्त

के रूप में सहायतारूप कार्य को परमार्थभूत ही मानता है, जैसा कि उसका कहना है – "परन्तु उपादान के कार्य के प्रति निमित्त का कार्य उपरोक्त प्रकार प्रेरक और उदासीन रूप से सहायक होने रूप से यह परमार्थभूत ही है तो वैसा कहना कल्पनारोपित मात्र नहीं है।"

यहाँ समीक्षक ने 'परके सहयोग को परमार्थभूत मानकर वह कल्पनारोपित मात्र नहीं है, यह लिखा है।' सो इसमें संदेह नहीं कि नासमझ को जो ऐसा विकल्प होता है, ऐसा कहना तो परमार्थभूत अर्थात् यथार्थ है। ऐसा कहना कल्पनारोपित मात्र नहीं है, किन्तु उस विकल्प का जो विषय है, वह अयथार्थ है; क्योंकि कार्य के प्रति बाह्य निमित्त के कहने की क्या उपयोगिता है इसे न मानकर समीक्षक अन्य के कार्य में अन्य द्रव्य वास्तव में सहयोग करता है, यह मानता है।" सो उसके इस कथन से सभी द्रव्यों को परमार्थ से पराश्रित मानने का प्रसंग आता है, जो युक्तियुक्त नहीं है।

समयसार गाथा ९१ में तो जिस समय आत्मा धर्मादिक द्रव्यों में आत्मविकल्प करता है, उस समय वह उस विकल्प का कर्ता होता है, इतना ही कहा गया है। इसमें धर्मादिक द्रव्यों ने आत्मविकल्प करने में सहयोग किया ऐसी कोई बात तो दृष्टिगोचर नहीं होती। समीक्षक ने समयसार गाथा ९१ लिखकर जिस बात का उल्लेख किया है, वह बात इस गाथा में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती।

गाथा १०५ (समयसार) में जीव ने कर्म को किया, इस विकल्प को उपचरित ही बतलाया है अर्थात् असद्भूत ही कहा है। इसमें से यह विकल्प परमार्थभूत है, यह अर्थ समीक्षक ने कहाँ से फलित कर लिया यह, तो वही जाने। गाथा १०६ का भी यही अभिप्राय है। जो बात उपचार से कही गई है, उसे परमार्थभूत कहना, यही भ्रम है। गाथा १०७ में भी अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य को उत्पन्न करता है, इसे भी असद्भूत व्यवहार कहा गया है। यहाँ पर समीक्षक का कहना है कि – "आत्मा पुद्गल को उत्पन्न करता है आदि कथन निश्चयनय से परमार्थभूत न होकर भी व्यवहारनय से तो परमार्थ ही होता है।" इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि अभीतक समीक्षक ने निश्चय-व्यवहार की कथनी के भेद को ही ख्याल में नहीं लिया है। यदि वह यह कहे कि यहाँ व्यवहार से मतलब हमारा सद्भूत व्यवहार से है, तब भी हम कहेंगे कि उसने अभीतक सद्भूत व्यवहार और सद्भूत व्यवहार के भेद को ख्याल में नहीं लिया है। अरे भाई! आगम कहता है कि अन्य अन्य का कार्य करता है, यह अज्ञानी का कोरा विकल्प है। इसलिये हम तो यही कहेंगे कि जो ऐसे विकल्प को परमार्थ कहता है, वह अपने जीवन को ही मटियामेट करता है। उपचार (असद्भूतव्यवहार) उपचार ही रहता है, वह उपचार से भी परमार्थभूत होने की शक्ति नहीं रखता। प्रयोजन को गौण कर देने पर उसकी (उपचार की) परिगणना झूठ में ही की जाती है।

(४) समीक्षक से पूछा गया कि जब "उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिये बाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्य करने में ही प्रवृत्ति करती रहती हैं। इस संबंध में उसका कहना है कि "मैं कहना चाहता हूँ कि यद्यपि विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य ही कार्यकारी होता है, परन्तु इस विशिष्ट पर्याय की उत्पत्ति बाह्य सामग्री का सहयोग मिलनेपर ही होती है (देखो प्रमेयकमलमार्तण्ड २-२ पत्र-शास्त्र. का. निर्णय सागरीय प्रकाशन)

इसतरह कहा जा सकता है कि समीक्षक की "उपादान अनेक योग्यतावाला होता है और बाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्य में प्रवृत्त करती है, यह तर्कणा असंगत नहीं है।" इसप्रकार यह जो समीक्षक का कहना है कि उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसकी सिद्धि उसे स्पष्ट प्रमाण देकर करनी थी; परन्तु आगम में विवक्षित पर्याय विशिष्ट द्रव्य को ही उपादान कहा गया है, ऐसी अवस्था में उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, यह सवाल ही नहीं उठता। और इसीप्रकार बाह्य निमित्त का सद्भाव भी कार्यकाल में ही माना गया है, इसलिये बाह्य निमित्त अनेक योग्यतावाले उपादान को एक योग्यता द्वारा कार्य में प्रवृत्त करता है, ऐसा लिखना भी मिथ्या है, यह सिद्ध हो जाता है। इस विषय में कर्मशास्त्र का उदाहरण हम पहले दे ही आये हैं।

(५) विकल्प पांच में समीक्षक ने "कालप्रत्यासत्ति" से यह अर्थ फलित किया है कि — "उपादान को जिस काल में जिसप्रकार की निमित्तरूप बाह्य सामग्री का योग मिलता है, उस काल में उस सामग्री के अनुरूप ही उपादान के किसी योग्यता के आधार पर कार्य की उत्पत्ति होती है।" सो वहाँ वह यदि उपादान का स्पष्ट अर्थ लिख देता तो उसके अभिप्राय को समझने में हमें भ्रम नहीं होता, किन्तु समीक्षक उपादान का क्या अर्थ करता है, इसे स्पष्ट न करके ही जो अपने कल्पित मत का समर्थन करता जा रहा है, सो वह योग्य नहीं है। आगम, तर्क और अनुभव के विरुद्ध है। आगम तो यह है कि विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य से ही विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति होती है। प्रत्यक्ष से भी हम देखते हैं कि जब मिट्टी घट पर्याय के सन्मुख पहुँच जाती है, तभी उससे घटपर्याय की उत्पत्ति होती है। तर्क भी यही कहता है; क्योंकि जब मिट्टी घट पर्याय के सन्मुख होगी, तभी उससे घट पर्याय की उत्पत्ति होगी। १४वें गुणस्थानवर्ती जीव भी जब सिद्धपर्याय के सन्मुख होता है, तभी सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति होती है, इसलिये समीक्षक ने जो अपनी कल्पित बात को आगम, तर्क और अनुभव, इंन्द्रियप्रत्यक्ष और लोकव्यवहार से सिद्ध लिखा है, वह सब मिथ्या प्रतीत होता है। उसे सबसे पहले अपने पक्ष के समर्थन में आगम उपस्थित करना चाहिये था और उसके बाद ही अनुभव, तर्क आदि को भी अपने मत की पुष्टि में उपस्थित करना उचित होता। विशेष क्या लिखें?

कथन नं. ६७ का समाधान :—समीक्षक ने प्रेरक और उदासीन निमित्तों के आधार पर अपने मत के समर्थन का उपक्रम किया है, सो इस संबंध में हम इसके पहले के ही कथन में विस्तार से स्पष्टीकरण कर आये हैं। सो यहाँ पुनः उसको दुहराना पीसे को पुनः पीसने के समान होता है।

कथन नं. ६८ का समाधान :—यहाँ पर हम इतना ही संकेत करना पर्याप्त समझते हैं कि त. च. पृ. ६७ में हमने हरिवंशपुराण के श्लोक का जो अर्थ लिखा है, वही उपयुक्त है, क्योंकि समीक्षक के सुझाव के अनुसार यदि हम कार्य के स्थान में कर्मबन्ध अर्थ लेते हैं तो इससे पर के कर्तृत्व का प्रसंग उपस्थित होता है, जो इस श्लोक में हरिवंशपुराणकार को इष्ट नहीं है। ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

कथन नं. ६९ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "पूर्वपक्ष के सामने पराश्रित जीवन के समर्थन का प्रश्न नहीं है, सभी मानते हैं कि पराश्रित जीवन अच्छा

नहीं है" सो उसका ऐसा कहना जहाँ उचित प्रतीत होता है, वहीं उसके द्वारा उपादान को अनेक योग्यतावाला मानकर निमित्त के बलपर एक योग्यता द्वारा कार्य की उत्पत्ति मानना, यह पराश्रित जीवन का समर्थन नहीं तो और क्या है ? इस द्वारा वह बाह्य निमित्त को परमार्थ से कारयिता बना देता है, इसका वह स्वयं विचार करे।

आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "वस्तु में षड्गुण हानिवृद्धिरूप स्वप्रत्यय परिणमनों से अतिरिक्त उपादानगत सभी स्व-पर प्रत्यय परिणमन निमित्तभूत बाह्य सामग्री के संयोग से ही हुआ करते हैं।" सो उसके ऐसे कथन से मालूम पड़ता है कि वह षड्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन को एकान्त से परनिरपेक्ष ही मानता है। इस विषय में हम पिछले दौरों में बहुत कुछ स्पष्टीकरण दे आये हैं। यहाँ हम उसको यही सलाह देंगे कि वह गो. जीवकाण्ड में श्रुतज्ञान प्ररूपणा को पढ़ लेवें। उससे यह ज्ञान हो जावेगा कि षड्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन स्व-परप्रत्यय भी होता है और स्व-प्रत्यय भी होता है। जो स्वभाव परिणमन होता है, वह स्वप्रत्यय ही होता है और जितना विभाव परिणमन होता है, वह स्व-परप्रत्यय ही होता है। इसके लिये नियमसार गा. १४ और २८ पर अवश्य दृष्टि डालनी चाहिये। आ० कुन्दकुन्ददेवने स्वभावपर्याय और विभावपर्याय को बहुत ही प्रांजल शब्दों में स्पष्ट किया है। देखो – नियमसार गा. १४ और २८। इसकी टीका में आ. पद्मप्रभ मलधारिदेव लिखते हैं :—

परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परमपारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्-प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादि सनिधिनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्ष-त्वाच्छुद्ध सद्भूतव्यवहारात्मकः अथवा हि एकस्मिन् समयेऽप्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वात् सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मकः।

परमाणु पर्याय पुद्गलद्रव्य की शुद्ध पर्याय है, वह परम पारिणामिक भाव लक्षणवाली होकर वस्तुगत षट्गुणहानि-वृद्धि से युक्त है और अति सूक्ष्म अर्थ पर्यायस्वरूप सादि-सनिधन होकर भी परद्रव्य निरपेक्ष होने से शुद्ध सद्भूत व्यवहारस्वरूप है। अथवा एक ही समय में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वरूप होने से सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय स्वरूप है।

इससे हम जानते हैं कि जितनी भी स्वभावपर्यायें होती हैं, वे सब स्व-पर प्रत्यय न होकर परनिरपेक्ष स्वप्रत्यय ही होती हैं। इसी बात का निर्देश नि. सा. गाथा १४ में किया है। गाथा के उत्तरार्द्ध में पर्याय के दो भेद बतलाते हुए लिखा है –

पज्जाओ दुवियप्पो सपराबेक्खो परनिरवेक्खो ॥१४॥

पर्यायें दो प्रकार की हैं – स्व-पर सापेक्ष और परनिरपेक्ष। स्वभावपर्याय और विभावपर्याय के भेद जानने के लिये समीक्षक को नियमसार गाथा ११, १२, १३ और उनकी संस्कृत टीका का भी अच्छी तरह अवलोकन कर लेना चाहिये।

स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष ही होती है, स्व-पर प्रत्यय नहीं ही होती, क्योंकि वह जीवमें पर के लक्ष्य से नहीं होती। स्वभाव का बुद्धि में आलम्बन लेने पर ही होती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त समीक्षक को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। इतना अवश्य है कि स्वभाव पर्याय के होने में निमित्त अवश्य होता है, पर वह दृष्टि में गौण रहता है और बुद्धि में स्वभाव का आलम्बन मुख्य रहता है, इसलिये वह परनिरपेक्ष कहलाती है। खुलासा नियमसार गाथा २६ की सं. टीका के आधार से पूर्व में कर ही आये हैं।

कथन नं. ७० का समाधान :— हमने स्वा० समन्तभद्र आचार्य की "वाह्येतरोपाधि-समग्रतेय" इस कारिका में पठित "द्रव्यगतस्वभाव:" पद के अर्थ करने में कोई भूल नहीं की है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का यह स्वभाव है कि जब वह अपने आभ्यंतर उपाधि की स्थिति में पहुँचता है तब उसके कार्य में जिसे हम बाह्य निमित्त कहते हैं; वह भी अपने आभ्यंतर उपाधि की स्थिति में पहुँच जाता है और इसप्रकार एक के काल में दूसरा द्रव्य स्वयं निमित्त पदवी को प्राप्त हो जाता है। इसके लिये कर्मशास्त्र का बंध और उदय प्रकरण साक्षी है, क्योंकि जिस समय क्रोध कषाय कर्म का उदय होता है उसी समय आत्मा क्रोध कषायरूप परिणमता है और जिस समय आत्मा क्रोध कषायरूप परिणमता है उसी समय नये कर्म का बन्ध होता है। इसके लिये समयसार गा. ८१ आदि पर उसको दृष्टिपात करना चाहिये। इसी भाव को ध्यान में रखकर उक्त पद का अर्थ किया था। समीक्षक हमारे द्वारा किया गया यह अर्थ यदि कल्पित मानता है तो उसे आगम प्रमाण देकर उसे सिद्ध करना चाहिये झूठा आरोप लगाने मात्र से कोई लाभ नहीं, इससे आगम नहीं बदल जायगा।

आगे तादृशी जायतेबुद्धि: "इसके आधार पर हमने जो कुछ भी लिखा है, वह यथार्थ है, किन्तु समीक्षक का यह कथन इसलिये अवश्य ही विचारणीय है, क्योंकि वह हमारी ओर से ऐसा मानता है कि हम मानते हैं कि उपादान स्वयं कार्य की उत्पत्ति के समय अपने अनुकूल निमित्तों को एकत्रित कर लेता है" सो यह हमारी मान्यता नहीं है। ऐसा आगम विरुद्ध कथन वही कर सकता है। कोई किसी को जुटाता नहीं है, अपने-अपने परिणमन स्वभाव के कारण जब एक द्रव्य उपादान होकर स्वयं कार्यरूप परिणमता है तब दूसरा द्रव्य कालप्रत्यासत्तिवश स्वयं अपने नियत उपादान के अनुसार कार्य की भूमिका में आकर उसका (दूसरे द्रव्य के कार्य का) सहज निमित्त हो जाता है। यह अनादि परंपरा है, जिसका कभी भी वारण नहीं किया जा सकता। अन्यथा विकल्प और हाथ आदि रूप क्रिया परिणत कुंभकार स्वयं प्रायोगिक निमित्त नहीं हो सकता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय मिट्टी स्वयं घट पर्यायरूप से परिणमती है उसी समय कुंभकार स्वयं प्रायोगिक निमित्तमात्र होता है।

"द्रव्यगतस्वभाव: का हमने जो यह अर्थ किया है वह यथार्थ है। रही बाह्य निमित्त की बात, सो जब समीक्षक बाह्य निमित्त को स्वयं ही (स पृ. ४ में) असत् कारण मानता है तो जिसे वह पक्ष उपादान के कार्य में बाह्य निमित्त की सहायता करता है वह उपचरित नहीं होगा तो और क्या होगा? चाहे उपचरित कारण कहो या असद्भूत व्यवहारनय से कारण कहो, दोनों का अर्थ एक ही है। इसके लिये देखो जयधवला पु. ७ पृ ११७१ हाँ यदि वह उपचरित कहना यथार्थ है यह कहना चाहता है, तो कोई बात नहीं।

कथन नं० ७१ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक का जो यह कहना है कि "पूर्व पक्ष के उपर्युक्त कथन से उत्तर पक्ष के कथन में मात्र यह विशेषता है कि उत्तर पक्ष सभी द्रव्यों की षड्गुण हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्यायों के विषय में व उनमें यथासंभव विद्यमान उपर्युक्त शेष सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायों के विषय में मौन रहकर केवल आत्मा की कर्मों के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होनेवाली स्वभाव पर्यायों को स्वप्रत्यय व कर्मों के उदय में होनेवाली विभावपर्यायों को स्व-परप्रत्यय स्वीकार करता है, इसलिये दोनों पक्षों के परस्पर भिन्न कथनों में केवल अपेक्षाकृत भेद रहने के कारण विवाद के लिये कोई स्थान नहीं है।"

इस सम्बन्ध में आगम यह है :—

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो (नियमसार गाथा १४)

इसका और भी स्पष्ट खुलासा करते हुए नियमसार गाथा २८ में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में खुलासा किया है। इसमें स्वभाव पर्याय को परनिरपेक्ष और स्कन्ध पर्याय को स्व-परसापेक्ष पर्याय, विभाव पर्याय स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। लगता है कि समीक्षक को पर्याय विषयक अपनी भूल समझमें आ गई है। इसलिये वह यह लिखकर कि "इसलिये दोनों पक्षों के परस्पर भिन्न कथनों में केवल अपेक्षाकृत भेद रहने के कारण विवाद के लिये कोई स्थान नहीं है।" इस विषय की विशेष चर्चा नहीं की अगर विचार करके देखा जाय तो पर्याय विषयक यह एक ही अनर्गल कथन नहीं है, ऐसे उसने और भी अनर्गल कथन किये हैं जिनसे उस पक्षके पूर्व के तीन दौर और समीक्षक की यह समीक्षा भरी पड़ी है और जिनका बारबार हमें खंडन करना पड़ रहा है। यह हमारा आरोप झूठा नहीं है, किन्तु यथार्थ है, क्योंकि न तो आगम में अनेक योग्यतावाले समर्थ उपादान का कथन दृष्टिगोचर होता है और न ही समर्थ उपादान के रहते हुए केवल बाह्य निमित्तों के बल पर समर्थ उपादान का कार्य आगे-पीछे होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं; वह पक्ष बाह्य निमित्त में अयथार्थ कारणता तो स्वीकार करता है परन्तु समर्थ उपादान के कार्य में उसकी सहायता को यथार्थ मानता है। यह भी एक विचित्र बात है। इस कथन में अन्य जितना लिखा है वह सारहीन होने से विचार कोटि में नही आता। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जिसे समीक्षक अयथार्थ कारण कहता है उसे यदि वह उपचरित कारण कहे तो उसका ऐसा कहना योग्य होगा और इसी प्रकार यदि वह निमित्तों को भी यथार्थ न कहकर उपचरित कहता, तो उसका यह कहना भी योग्य होता।

कथन नं. ७२ का समाधान :—हमने स्वभाव पर्याय को त. च. पृ. ६८ में स्व पर प्रत्यय नहीं लिखा है, क्योंकि स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति में बाह्य निमित्त दृष्टि में गौण रहता है फिर भी पृ. ६८ में स्वभाव पर्याय को स्व पर प्रत्यय हमने लिखा है यह हमारे ऊपर समीक्षक का भ्रमपूर्ण आरोप है। विभाव पर्याय अवश्य ही स्व-पर प्रत्यय होती है, क्योंकि पर में इष्टानिष्ट बुद्धि होने से वह होती है। पर स्वभाव पर्याय में यह दोष दृष्टिगोचर नहीं होता है, इसलिये उसे आगम में पद-पद पर परनिरपेक्ष ही स्वीकार किया गया है। आगम में कहीं भी हमें ऐसी कोई स्वप्रत्यय पर्याय दृष्टि-गोचर नहीं हुई, जिसमें गौणरूप से निमित्त को न स्वीकार कर जो मात्र षड्गुण हानि वृद्धिरूप मानी

गई हो। समीक्षक ने इस पर्याय की किस आगम के आधार पर कल्पना की, इस सम्बन्ध में यदि वह कोई आगम प्रमाण देता तो विचार किया जाता। विशेष इस विषय में और क्या लिखें। समीक्षक के कथन में क्या रहस्य है यह तो वही जाने।

कथन नं. ७३ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने भावलिंग और द्रव्यलिंग की चर्चा करके भावलिंग होने में जो द्रव्यलिंग को सहायक लिखा है सो उसमें द्रव्यलिंग को सहायक कहना उपचरित कथन है, क्योंकि भावलिंग को आत्मा अपने आत्मपुरुषार्थ के बलपर ही प्राप्त करता है, उसमें द्रव्यलिंग तो निमित्त मात्र है। इसके लिये समयसार गाथा ४०८ से लेकर ४११ तक दृष्टव्य हैं। यदि भावलिंग के होने में द्रव्यलिंग कुछ भी सहायता करने में समर्थ होता तो जिस समय इस जीव के द्रव्यलिंग की प्राप्ति होती है उसी समय उसकी सहायता से भावलिंग की भी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नहीं होता, प्रत्युत जीवन भर गृहस्थों को उनके अनुरूप द्रव्यलिंग और मुनियों को उनके अनुरूप द्रव्यलिंग बना रहता है, फिर भी उन्हें भावलिंग की प्राप्ति नहीं होती है। इससे हम जानते हैं कि भावलिंग के होने में द्रव्यलिंग अणुमात्र भी परमार्थ से सहायता नहीं करता। भावलिंग के पहले द्रव्यलिंग का होना और बात है, किन्तु भावलिंग के होने में द्रव्यलिंग परमार्थ से सहायता करता है – यह कहना और बात है। यदि द्रव्यलिंग को भावलिंग में आगम में सहायक लिखा भी है तो वह उपचार से ही लिखा है। समीक्षक "बाह्य निमित्त की सहायता से समर्थ उपादान अपना कार्य करता है" इस आग्रह को परमार्थ कहना जिस दिन छोड़ देगा उसी दिन वह जैनदर्शन के हार्द को स्वीकार कर लेगा। जहाँ भी आगम में निश्चयचारित्र की वृद्धि के लिये बाह्य चारित्र के परिपालन की बात कही गई है वह उपचार से ही कही गई है। उसे परमार्थ मान लेने पर आत्मा और अनात्मा में कोई भेद नहीं रह जायगा।

कथन नं. ७४ का समाधान :—समीक्षक ने यह लिखा है कि "भावलिंग होने से पूर्व द्रव्यलिंग को तो उसकी उत्पत्ति के लिये कारणरूप से मिलाया जाता है।" सो उसका ऐसा कहना भ्रमपूर्ण है क्योंकि वहीं पर हमने इस मत का खंडन करते हुए लिखा है कि "जो द्रव्यलिंग भावलिंग का सहचर होने से निमित्त संज्ञा को प्राप्त होता है वह मिलाया नहीं जाता, किन्तु परिणाम विशुद्धि की वृद्धि के साथ स्वयमेव प्राप्त होता है। आगम में द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग का उपचार से साधक कहा है तो ऐसे ही द्रव्यलिंग को कहा है। मिथ्या अहंकार से पुष्ट हुए बाह्य क्रियाकांड के प्रतीकस्वरूप द्रव्यलिंग को नहीं। इस प्रकार इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षक ने जिसे हमारा कथन बतलाकर उद्धृत किया है यह वस्तुतः उसका ही कथन है, हमारा नहीं।

कथन नं. ७५ का समाधान :—इस कथन में कथन नं. ७४ के उत्तर में दिये गये पूर्वोक्त कथन को समीक्षक ने ध्यान में रखकर अपने अभिप्राय की पुष्टि में जो चार विकल्प उपस्थित किये हैं सो इन द्वारा उसने अपने कल्पित अभिप्राय को मात्र दुहराया है। उनमें ऐसी विचारणीय नवीन कोई बात नहीं कहीं गई जिसका हम समाधान करें।

कथन नं. ७६ का समाधान :—इस कथन में "पूर्व में धारण किया गया द्रव्यलिंग भाव लिंग का साधन है" यह लिखकर मालूम पड़ता है कि वह यह कहना चाहता है कि पूर्व में रहनेवाला

मिथ्यात्व कर्म का उदय मोक्ष का साधन है। सो यदि ऐसा माना जाय तो जितने द्रव्यलिंगी मुनि हों उन सबको उत्तरकाल में भावलिंग की प्राप्ति नियम से हो जानी चाहिये। यदि कहा जाय ऐसा कोई नियम नहीं, तो हम कहेंगे कि ऐसी अवस्था में पूर्व में धारण किये गये द्रव्यलिंग को भावलिंग का साधन कहना या मानना उपचरित ही तो ठहरा। आगे अमीक्षक ने जो यह लिखा है कि – "मोक्ष प्राप्त करने की उत्कट भावना से युक्त भव्य जीव सर्वप्रथम उपर्युक्त प्रकार के द्रव्यलिंग को धारण करता है; और ऐसा विचार कर धारण करता है कि—"द्रव्यलिंग को धारण करने पर ही भावलिंग की प्राप्ति संभव है, उसके अभाव में नहीं" तो उसका ऐसा लिखना एक नये भ्रम की सृष्टि करना है, क्योंकि जो भव्य जीव अपने वैराग्यपूर्ण भावना के साथ गुरू के पास जाता है वह यह मान-कर नहीं जाता है कि मैं मिथ्यादृष्टि हूं और द्रव्यलिंग को धारण करूंगा तो ही सम्यक्त्व के साथ ही उत्तरकाल में मुझे भावलिंग की प्राप्ति होगी। वह तो सीधा गुरू के पास जाता है और गुरू के समक्ष मुनिपद की दीक्षा से अपने को अलंकृत कर लेता है और दीक्षा लेने के बाद वह मुनि हो जाता है। ऐसा मुनि द्रव्यलिंगी है कि भावलिंगी, ऐसी कल्पना उसके मन में उत्पन्न ही नहीं होती। वह तो जैसी मुनि का चर्चा चरणानुयोग में लिखी है उसके अनुसार प्रवृत्ति करने लगता है। रही कार्यकारण भाव की बात सो इस अपेक्षा जिस समय कार्य है उसी समय उसका निमित्त है। कार्यकारण भाव की यह व्यवस्था अनादि अबाधित है। पूर्व में कारण होता है और तदनन्तर कभी भी कार्य होता है यह मान्यता बौद्धों की हो सकती है, जैनों की नहीं। लौकिक दृष्टि से ऐसा कहना अन्य बात है।

कथन नं. ७७ का समाधान :—हमने समीक्षक के कथन पर सावधानी से विचार किया है, क्योंकि भावलिंग का साधन कहो या निमित्त, द्रव्यलिंग भावलिंग का साधन तब ही कहा जाता है जब यह जाव अपने आत्मपुरुषार्थ से भावलिंग को प्राप्त करता है। निमित्त यदि समर्थ उपादान का कार्य करे तो उसे कार्यकारी कहना युक्तियुक्त प्रतीत होवे। परन्तु वह मात्र कार्य का सूचक होता है, कर्त्ता नहीं। प्रायोगिक निमित्त में कर्त्तापने का असद्भूत व्यवहार करना अन्य बात है।

कथन नं. ७८ का समाधान :—हमारे वक्तव्य को ध्यान में रखकर समीक्षक ने जो यह लिखा है कि—"वायु चलती है तो वृक्ष की डालियाँ हिलती हैं, इसमें वायु का चलना वायु में हो रहा है और वृक्ष की डालियों का हिलना डालियों में हो रहा है, लेकिन यदि वायु न चले तो डालियाँ नहीं हिल सकतीं। ऐसा ज्ञान यदि लोक को होता है तो क्या उत्तरपक्ष उसे असंगत मान लेना चाहता है। यदि ऐसा है तो भवन निर्माण करते समय उस भवन में वायु के प्रवेश के लिए वह बुद्धिपूर्वक खिड़-कियों को रखने की चेष्टा क्यों करता है" आदि।

कार्यकारण भाव के सम्बंध में यह समीक्षक का वक्तव्य है जो मात्र कार्यकारण भाव के दुरुपयोग को ही सूचित करता है। प्रत्येक व्यक्ति संभावना में कुछ भी विचार करता रहता है और कुछ भी कहता रहता है, पर उसे सत्य रूप में कोई भी स्वीकार नहीं करता। समीक्षक का यह कहना कि "वायु न चले तो डालियां न हिलें," कल्पना मात्र है, किसी को भी ऐसा विकल्प होता है यह दूसरी बात है, परन्तु वह रहती है संभावना ही। उसी को न तो किसी ने यथार्थ ही माना है और न

ही ऐसी कल्पनायें यथार्थ हो सकती हैं। मकान में खिड़कियां बनाते हैं, पर सदाकाल उनसे लाभ ही मिलता है, हानियां नहीं उठानी पड़तीं, यह कौन बता सकता है ?

आगे समीक्षक ने संकल्प और विकल्प की बात लिखकर हमसे यह प्रश्न किया है कि "वह ऐसी स्थिति में क्या अपने संकल्प-विकल्प और प्रयत्न को कार्योत्पत्ति में सर्वथा "कल्पनामात्र" और अकिंचित्कर मानने के लिए तैयार है" आदि। सो भाई ! संकल्प-विकल्प और प्रयत्न करना कार्य की उत्पत्ति नहीं है। कार्य की उत्पत्ति अपने नियत साधनों के अनुसार होती है। काकतालीय न्याय से कदाचित् संकल्प-विकल्प के अनुसार कार्य सम्पन्न हो जाता है तो वह अपने को सफल अनुभव करता है और नहीं होता है तो अपनी असफलता स्वीकार कर लेता है। शास्त्रकार शास्त्र के प्रारम्भ में इस अभिप्राय से मंगलाचरण करते हैं कि कार्य की पूर्ति में बाधा न उपस्थित हो जावे, परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि कार्य में बाधा नहीं ही आयेगी या आयेगी ही। कार्य अपने साधनों के अनुसार अपनी गति से सम्पन्न होता है और व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में संकल्प-विकल्प अपने हिसाब से होते हैं। यही हमारा अज्ञान है कि संकल्प-विकल्प का होना ही विवक्षित कार्य की उत्पत्ति है – ऐसा मान लेते हैं।

वस्तुत: एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्त्ता त्रिकाल में नहीं हो सकता, इस कथन को ध्यान में रखकर समीक्षक का जो यह कहना है कि "उसमें पूर्व पक्ष को विवाद कहां है" सो यह उसकी कोरी कल्पना मात्र है, क्योंकि जब वह यह मानता है कि "समर्थ उपादान हो और बाह्य निमित्त का योग न मिले तो समर्थ उपादान अपना कार्य नहीं कर पाता है या आगे-पीछे करता है", सो उसका ऐसा कहना ही सिद्ध करता है कि वह यह मानता है कि कार्य उपादान में होता है और वास्तव में कर्त्ता उसका निमित्त ही है।" अन्यथा वह कार्यकारण परम्परा में दिशा भूल करने वाली ऐसी बात नहीं लिखता, क्योंकि कालप्रत्यासत्तिवश दोनों एक काल में होते हैं। जब समर्थ उपादान का कार्य होना है तब उसका निमित्त रहता ही है।

आगे उसने षड्गुण हानि वृद्धिरूप परिणमनों को जो मात्र स्वप्रत्यय और अबुद्धिपूर्वक लिखा है, सो यह भी उसकी कोरी कल्पना ही है। आ. समंतभद्र जैसे समर्थ आचार्य जब यह लिखते हैं कि सभी कार्यों में बाह्य और आभ्यंतर उपाधि की समग्रता नियत से रहती है। ऐसी अवस्था में समीक्षक का उक्त बात को बार-बार लिखते रहना उसका आगम विरुद्ध अपनी अनभिज्ञता को ही सूचित करता है। इसी प्रकार स्वपर प्रत्यय परिणमन के विषय में जो उसने मान्यता बना रखी है, सो उससे भी उसकी आगम के प्रति अनभिज्ञता ही सूचित होती है।

आगे समीक्षक ने जो चौदहवें गुणस्थान में मस्तिष्क की बात लिखी है सो संभवत: मस्तिष्क से उसका आशय द्रव्यमन से होगा। परन्तु वहां उसको निमित्त कर बुद्धि के उत्पन्न होने का कोई सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि बुद्धि क्षायोपशमिक भाव है और वहां वह आत्मा केवलज्ञानी है। निष्क्रियता भी रही आवे और केवलज्ञान की उपयोग दशा भी रही आवे इसमें बाधा कहां है। यह तो वही बतावे। ग्यारहवें व बारहवें गुणस्थानों में भी परिस्पन्दात्मक क्रिया, मन, वचन और काय को निमित्तकर होती है, परन्तु आत्मा के उपयोग का वह निमित्त नहीं है, अन्यथा केवलज्ञान की उपयोगरूप अवस्था होना असंभव हो जायगा। दोनों स्वतन्त्र हैं, अपने-अपने कारणों से होते हैं।

इस कथन में समीक्षक ने जितना कुछ लिखा है उसका नमूना हम पूर्व में स्थूल रूप से दिखा ही आये हैं। इससे ही यह सिद्ध हो जाता है कि प्रकृत में उसका जितना भी कथन है वह सब युक्ति, अनुभव और आगम के विरुद्ध तो है ही, लोकविरुद्ध भी है।

कथन नं. ७६ का समाधान :—इस कथन में भावलिंग कैसे होता है, इसकी चर्चा में समीक्षक का जो यह कहना है कि "उपादान ही भावलिंगरूप परिणमित होता है" सो यहां यदि वह उपादान के कार्यरूप परिणमन के समय ही चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम को स्वीकार कर लेता है तो, दोनों का योग एक काल में ही होता है – यह बात यथार्थ सिद्ध हो जाती है, किन्तु खेद है कि वह सर्वत्र उपादान और निमित्त के योग को एक काल में स्वीकार करने को तैयार ही नहीं है। ऐसा लगता है कि वह सम्यक् नियति को स्वीकार ही नहीं करना चाहता और केवल इस सम्यक् नियति के खण्डन करने में ही उसे द्राविड़ी प्राणायाम करना पड़ रहा है। बाह्य निमित्त को या आभ्यंतर निमित्त को उपचार से सहायक कहना और बात है और उनकी सहायता को यथाथ मान लेना दूसरी बात है। यह तो वह मानता ही है कि निमित्त अयथार्थ कारण है, ऐसी अवस्था में उसकी सहायता रूप कारणता यथार्थ कैसे मानी जा सकती है ? भावलिंग में क्षयोपशम की भी यही स्थिति है। चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम निमित्त अवश्य है, वह निश्चय कर्ताकारक नहीं। भावलिंग का कर्ता-कारक तो अपने स्वरूप में उपयुक्त आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। अरे भाई ! निमित्त मात्र को अयथार्थ कारण हम नहीं लिख रहे हैं। समीक्षक ने स. पृ. ४ में इस बात को स्पष्ट करते हुए स्वयं लिखा है कि "और निमित्ताकारणभूत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म में स्वीकृत निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहारनय के विषय हैं' इसलिये यह सिद्ध हो जाता हैं कि निमित्त मात्र उपचार से ही सहायक कहे जाते हैं। उनकी उपचरित सहायता को यथार्थ कहना स्ववचन बाधित होने से किसी भी विवेकी की दृष्टि में मान्य नहीं हो सकता।

कथन नं. ८० का समाधान :—इस कथन में आगम के विवक्षित कथन को उपस्थित कर समीक्षक ने अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि—"निमित्त तथा उपादानरूप उभय कारणों से ही कार्य होता है और निमित्त हेतु कर्ता भी होता है, अतः शब्दों में तो आपने उसे (निमित्त को) इन्कार नहीं किया, किन्तु मात्र शब्दों में स्वीकार करते हुए भी आप निमित्तभूत वस्तु में कारण-त्वभाव स्वीकार नहीं करते हैं तथा निमित्त को अकिंचित्कर बतलाते हुए मात्र उपादान के अनुसार हीं अर्थात् एकान्ततः उपादान से ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। आगम के शब्दों को केवल निबाहने के लिये यह कह दिया गया कि निमित्त की प्राप्ति उपादान के अनुसार हुआ करती है, ताकि यह न समझा जाय कि आगम माननीय नहीं है। इस एकान्त सिद्धान्त की मान्यता से यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त कारण मात्र शब्दों में माना जा रहा है, वास्तव में उसे कारणरूप नहीं माना गया हैं।"

यहाँ समीक्षक ने अपने अभिप्राय द्वारा अपने कई मतों को दुहराया हैं, और इस आधार पर वह स्वयं स. पृ. ४ में घोषित निमित्त की अयथार्थ कारणता को यथार्थ घोषित करने के साथ न केवल

उसे यथार्थ घोषित करने का प्रयत्न कर रहा हैं अपितु अपने कथन को आगम सम्मत भी स्वीकार करने का असफल प्रयत्न कर रहा है।

अब हम समीक्षक द्वारा पहले इस विषय में क्या स्वीकार किया गया है इसका निर्देश कर देना यहां इष्ट मानते हैं ।

१. स. पृ. ४ में दोनों ही पक्ष उक्त नैमित्तिक सम्बन्ध को व्यवहारनय का विषय मानते हैं।

यहां इतना संकेत कर देना हम आवश्यक समझते हैं कि अपने उक्त कथन में यद्यपि समीक्षक ने "व्यवहारनय" का उल्लेख तो किया है, परन्तु आगम में नैमित्तिक सम्बन्ध को उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय ही स्वीकार किया है, सामान्य व्यवहारनय का विषय नहीं, तो इसका भूलकर भी समीक्षक ने समीक्षा में कहीं उल्लेख नहीं किया । इसलिए उसके कथन के अनुसार यह भ्रम पैदा होता है कि यहां कौन से सद्भूत या असद्भूत व्यवहारनय का ग्रहण हुआ है। उसके कथन में यह भ्रम नं. १ है।

२. उसी पृष्ठ में वह लिखता है कि जहाँ उत्तर पक्ष उस उपचार को सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्व पक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ मानता है।"

इसे स्पष्ट करते हुए सं० पृ० ५ में लिखता है कि "वहाँ पूर्व पक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप में परिणत न होने के आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति में सहायक होने के आधार पर भूतार्थ मानता है ।"

यहाँ यह ध्यान में रखने लायक बात है कि निमित्त कहो या सहायक, दोनों का अर्थ एक ही है। इसी अर्थ में बाह्य या आभ्यंतर साधन शब्द का भी आगम में प्रयोग हुआ है। तत्वार्थसूत्र अध्याय ५ के उपकार प्रकरण पर दृष्टिपात करने से यह भी ज्ञात होता है कि उक्त कथन की अपेक्षा निमित्त उपकारक भी कहलाता है। इस प्रकार जब निमित्त का अर्थ सहायक होता है ऐसी अवस्था में निमित्त को अयथार्थ कारण कहना और उसकी सहायता को भूतार्थ कहना कहां तक युक्तियुक्त हो सकता है, अर्थात् ऐसा परस्पर विरुद्ध कथन युक्तियुक्त तो है ही नहीं, आगमसम्मत भी नहीं माना जा सकता। हां वह यदि लोकव्यवहार को ही आगम मानना चाहता हो तो बात दूसरी है, फिर भी यहां हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि निमित्त की निमित्तता आगम की दृष्टि में न कथंचित् अभूतार्थ होती है और न कथंचित भूतार्थ होती है, किन्तु वह उपचरित होती है। आगम में भी इसे इसी रूप में स्वीकार किया गया है।

३. निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व ये तीनों व्यवहारनय के विषय होकर एक हैं इसे स्पष्ट करते हुए वह स० पृ० ४ में लिखता है – "निमित्तकारणभूत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म में स्वीकृत निमित्तकारणता, अयथार्थकारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहार के विषय हैं।"

यहां समीक्षक ने सामान्य से "व्यवहार" शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट किया है कि प्रकृत में कौन सा व्यवहार यहां स्वीकार किया गया है – सद्भूतव्यवहार या असद्भूतव्यवहार। आगे स० पृ० ५ में उसने जो यह लिखा है कि "यहां पूर्व पक्ष उसे वहां पर उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति में सहायक होने के आधार पर भूतार्थ मानकर व्यवहारनय का विषय मानता है।"

सो उसके इस कथन से तो यह मालूम पड़ता है कि उसके बाह्य निमित्त को या कर्म के उदयरूप आंभ्यंतर निमित्त को आत्मा के संसाररूप कार्य में अभूतार्थ अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय का विषय मान लिया है, जबकि आगम में एक द्रव्य की अपेक्षा उपादान-उपादेय भाव को या कर्तृकर्म भाव को सद्भूत व्यवहारनय का विषय माना गया है। इससे मालूम पड़ता है कि वह अपनी कल्पित नयप्ररूपणा को ही यथार्थ सिद्ध करना चाहता है।

यहां समीक्षक से कोई भी पूछ सकता है कि आपके उक्त मत के अनुसार कोई यह कहे कि संसार सम्बन्धी सभी कार्यों में आकाशफूल अयथार्थ कारण होकर भी उसकी सहायता को यदि भूतार्थ मानें तो क्या हानि है, क्योंकि आपके कथानुसार दोनों ही अयथार्थ कारण हैं। केवल उनकी सहायता भूतार्थ है तो इसका समीक्षक क्या उत्तर देगा ? कुछ भी नहीं।

४. समीक्षक ने पृ० ४० में आलाप पद्धति के "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्य" इत्यादि वचन उद्धत कर अपने अभिप्रायानुसार उक्त वाक्य का अर्थ करके लिखा है कि "मृत्तिका के रूप में विद्यमान घट में जो घृतरूपता का आरोप किया जाता है उसमें यह आरोप इन आधारों पर किया जाता है कि एक तो घट का मूल्य घृतरूप होना संभव नहीं होने से घृतरूपता का अभाव यहाँ विद्यमान है, दूसरे घट और घृत में संयोग सम्बन्धाश्रित आधार-आधेय भाव के निमित्त का सद्भाव है और तीसरे घट में घृत रखने या उसमें रे घृत निकालनेरूप प्रयोजन का सद्भाव यहां विद्यमान है, इस तरह मिट्टी के रूप में घट में उक्त तीनों आधारों पर आरोप सम्भव हो जाता है।"

सो हमारा इस विषय में कहना यह है कि उक्त तीनों प्रकार से घृत में घट का समारोप भले ही हो जाओ परन्तु ऐसा समारोप होने पर भी उक्त अयथार्थ निमित्त के आधार पर जब कि वह निमित्त में अयथार्थ कारणता के रहते हुए भी "घी का घड़ा" यह वचन घट के अस्तित्व में उसकी सहायता स्वीकार करता है। परन्तु उससे घट के निर्माण में कोई उपयोगिता दृष्टिगोचर नहीं होती। घी का घड़ा कहने से उल्टा यह प्रतीत होता है कि घी से भी घड़ा बनता है। सवाल तो सहायता का है कि वहाँ घी ने घट के अस्तित्व में क्या सहायता की।

यदि कहा जाय कि मिट्टी के घड़े को लोक व्यवहार में घी का घड़ा कहा जाता है, तो यह लोक व्यवहार मात्र इसी बात को सूचित करने के लिये होता है कि उससे कोई अज्ञानी घी का घडा न समझे किन्तु मिट्टी का ही घड़ा समझे। सो इससे तो यही सिद्ध होता है कि ऐसा लोक व्यवहार परमार्थ नहीं है, किन्तु उसे परमार्थ कहना अज्ञानी का एक विकल्प मात्र है। अर्थात् अनादि रूढ़ लोक व्यवहार है। उसे आगम के अनुसार परमार्थभूत तो नहीं कहा जा सकता। आगम के अनुसार कहा जायेगा तो उपचरित ही कहा जायगा।

अपने उक्त कथन की पुष्टि में दूसरा उदाहरण समीक्षक ने घटकर्तृत्व को ध्यान में रखकर दिया है। सो इस उदाहरण में समझना यह है कि घटकर्तृत्व का कुंभकार में आरोप करके जो यह कहा जाता है कि "कुंभकार ने घट बनाया" यह आरोप असद् ही है, तो ऐसा असद् आरोप करने पर भी लाभ क्या निकला, सिवाय इसके की इससे निश्चयपक्षकी हानि ही हुई, क्योंकि निश्चय से तो प्रत्येक द्रव्य पर की सहायता के बिना ही अपना कार्य करता है। जैसा कि समयसार गाथा ८६ से यह स्पष्ट हो जाता है। यथा –

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥

अर्थ – निश्चयनय का ऐसा मत है कि आत्मा अपने को ही करता है और फिर आत्मा अपने को ही भोगता है।

यदि समीक्षक कहे कि हम जो कुछ भी लिख रहे हैं यह निश्चयनय की अपेक्षा नहीं लिख रहे हैं, हम व्यवहारनय की अपेक्षा लिख रहे हैं, सो भाई! यहां निमित्त-नैमित्तिक भाव में तो असद्भूत व्यवहारनय ही प्रयोजनीय माना गया है और इस नय की विवक्षा में जो कोई भी निमित्त में अयथार्थ कारणता स्वीकार करता है और ऐसे कारण से पर के कार्य में सहायता-भूतार्थ स्वीकार करता है, सो ये दोनों ही बातें असद्भूत व्यवहारनय के विषय हैं, इस को न जानने मात्र का फल जान पड़ता है, क्योंकि असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त में कारणता भी स्वीकार की गई है और उससे कार्य की उत्पत्ति भी स्वीकार की गई है, पर वह उपचरित रूप में ही स्वीकार की गई है।

इसलिये निष्कर्परूप में यह समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्य नित्यता के साथ स्वयं परिणाम स्वभावी होने से अपना कार्य स्वयं ही करता है – यह यथार्थ है। कार्य के होने में जो निमित्तता स्वीकार की गई है वह असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार की गई है, परमार्थ से नहीं। अतः निश्चयनय का कथन सम्यक् एकान्तरूप होने पर भी इससे अनेकान्त की ही प्रतिष्ठा होती है। जब कि असद्भूत व्यवहारनय के कथन के अनुसार, पर की सहायता को यथार्थ मानने पर परमार्थ से वह अनेकान्त का घातक ही सिद्ध होता है।

समीक्षक ने इस कथन में जितने भी आगम वचन उद्धत किये हैं उन सबसे भी हमारे उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। इसी सिलसिले में उसने जो समयसार गाथा ८१ का अर्थ लिखा है उसके ऐसा अर्थ करने से उल्टा भ्रम ही उत्पन्न होता है। कथन नं० ८० में उसने अन्य जितना कुछ लिखा है वह उसका पुनः पुनः दुहराना मात्र होने से उसका अलग से विशेष विचार करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

कथन नं० ८१ का समाधान :– इस कथन में समीक्षक ने जो "स्वयं" पद की चर्चा करके अपना अभिप्राय व्यक्त किया है, इससे मालूम पड़ता है कि वह निश्चयनय के कथन को बिल्कुल ही उड़ा देना चाहता है, क्योंकि वह यह तो जानता ही है कि प्रत्येक द्रव्य नित्य होकर भी परिणाम-स्वभावी होता है, इसलिये अपने परिणाम स्वभाव के अनुसार प्रत्येक द्रव्य स्वयं अर्थात् पर निरपेक्ष

होकर अपने आप परिणमता है। उसमें अन्य द्रव्य निमित्त होता है यह असंद्भूत व्यवहार वचन है, इसीलिये निमित्त को मात्र विकल्परूप में स्वीकार किया गया है। (इसके लिये देखो — सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र २) हम समझते हैं कि इतना स्पष्ट करने मात्र से प्रकृत कथन का पूरा समाधान हो जाता है। इसमें विशेष कुछ लिखने को नहीं रहता।

कथन नं० ८२ का समाधान :— द्रव्य का स्वरूप उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है। इस प्रसंग में समीक्षक ने टिप्पण करते हुए लिखा है कि "उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप प्रत्येक सत् की उत्पत्ति को वह यथायोग्य पर की सहायता से मानता है; पर से नहीं मानता अर्थात् पर उसका कर्त्ता होता है— ऐसा वह नहीं मानता हैं।

सो इस सम्वन्ध में हमारा इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त है कि पर की सहायता में कार्य होता है या पर से कार्य होता है, इन दोनों का अर्थ एक ही है। देखो समयसार गाथा १०६ यथा—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
व्यवहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण।। १०६ ।।

अर्थ — योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर राजा ने युद्ध किया यह लोकव्यवहार से अर्थात् उपचार से कहते हैं। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किये — ऐसा असद्भूत व्यवहार से उपचार से कहा जाता है। इतने पर भी समीक्षक के द्वारा की गई इस समीक्षा को पढ़कर ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि इतना स्पष्ट लिखने पर भी उसने अभी तक निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय के आशय को ख्याल में नहीं लिया है और लेना भी नहीं चाहता।

कथन नं० ८३ का समाधान :— इस कथन में भी समीक्षक ने उन्हीं वातों को दुहराया है जिनका कथन नं० ८२ में स्पष्टीकरण कर आये हैं, क्योंकि निश्चयनय का वक्तव्य आत्मश्रित ही होता है, पराश्रित नहीं। प्रकृत में पराश्रितपना असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है। जैसा कि समयसार गाथा नं० २७२ में कहा भी है —

"आत्माश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारनयः"

इसलिये निश्चयनय की अपेक्षा पर-निरपेक्षरूप से ही कथन किया जाता है। परसापेक्ष कथन करना यह प्रकृत में असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। शेप सव कथन पुनरुक्त होने से उस पर अलग से ध्यान देना उचित प्रतीत नहीं होता।

कथन नं० ८४ का समाधान :— इस कथन में अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए जो यह लिखा है कि "समयसार में जहां व्यवहारपक्ष को उपस्थित कर निश्चयपक्ष के कथन द्वारा उसका निषेध किया गया है वहां ग्रन्थकार का यही आशय है कि जो लोग व्यवहारपक्ष को निश्चयपक्ष समझकर व्यवहार विमूढ़ हो रहे हैं, उनकी यह व्यवहार विमूढ़ता समाप्त हो जाय। उसमें ग्रन्थकार का अभिप्राय व्यवहारपक्ष को सर्वथा असत्य सिद्ध करने का नहीं है।"

सो समीक्षक के इस कथन को पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि ग्रंथ का यही अभिप्राय होता तो वह अपने उक्त अभिप्राय को अवश्य ही लिपिबद्ध कर देता। कम से कम टीकाकार जो उसके द्वारा कहे गये इस अभिप्राय को अवश्य ही स्पष्ट कर देते।

किन्तु आ० कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा ९३ में जो उल्लेख किया है – "पज्जयमूढ़ा हि परसमया" तो यह वचन व्यवहार विमूढ़ जीवों को ध्यान में रखकर ही किया है, क्योंकि मात्र पर्याय को आत्मा मानना एकान्त से व्यवहारनय ही है। इसकी टीका में इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा भी है –

"यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छतः परसमया भवन्ति।"

"क्योंकि बहुत से जीव पर्यायमात्र का ही अवलम्बन लेकर तत्व के अप्रतिपत्तिलक्षण मोह को प्राप्त होते हुए परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि होते हैं।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहां पर भी आ० कुन्दकुन्द देव ने व्यवहारनय के विषय को उपस्थित कर निश्चयनय के कथन द्वारा असत् कहकर उसका निषेध किया है, वह मात्र तत्व की यथार्थता को बतलाने के अभिप्राय से ही किया है।

आगे समीक्षक ने जो चार गतियों को उद्धृत कर व्यवहार को मिथ्या मानने का निषेध करके निश्चयनय के कथन द्वारा उसे सदोष ठहराया है, सो इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने स्वयं ही अर्थात् अपने आप ही निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय का निषेध कर दिया है। खुलासा आवश्यकता पड़ने पर किया जायेगा तत्काल इतना लिखना पर्याप्त है। वैसे समीक्षक से बस इतना संकेत अवश्य करेंगे कि वह सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार को समझकर ही प्रकृत से लिखें यही तत्त्व विमर्श का मार्ग है।

कथन नं० ८५ का समाधान – प्रवचनसार गाथा १६९ की पूरी टीका इस प्रकार है –

"यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढ़जीवपरिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तेरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कंधाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न पुदगल-पिण्डानां कर्मत्वकर्त्ता पुरुषोऽस्ति।" । १६९ ॥

"कर्मरूप परिणत होने की शक्तिवाले पुद्गलस्कन्ध तुल्य (समान) क्षेत्रावगाह बहिरंग साधन रूप जीवके परिणाममात्र का आश्रय करके जीव उनको परिणमानेवाला न होने पर भी स्वयं ही कर्मरूप परिणमते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है।

इस टीका में "परिणमयितारमन्तेरेणापि" यह पद ध्यान देने योग्य है, क्योंकि जैसे जीव पुद्गल स्कन्धों को कर्मरूप नहीं परिणमाता है उसीप्रकार जीव की सहायता से भी पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप नहीं परिणमते हैं।

यदि जीव शुभाशुभ भावों का कर्म की सहायता से कर्त्ता होता तो आ० कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य यह गाथा न लिखते —

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं तो तस्स वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥ समयसार।

शुभ या अशुभ जिस भाव को आत्मा करता है वह उसका निश्चय से कर्त्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है, तथा वह आत्मा उसका भोक्ता होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयपक्ष में परद्रव्य स्वरूप पर की सहायता अपेक्षित नहीं हुआ करती। अन्यथा उसे निश्चय कथन मानना मिथ्या हो जाता है।

इस प्रकार यह निश्चय हो जाने पर कि वाह्य या आभ्यंतर निमित्त अन्य द्रव्य के कार्य में परमार्थ से सहायक नहीं होता। यह मात्र सामान्य व्यवहार न होकर असद्भूत व्यवहार है, जिससे यह कहने में आता है कि वाह्य या आभ्यंतर साधन अन्य द्रव्य के कार्य में सहायक होता है।

समीक्षक ने इस कथन में "स्वयं" पद का जो पुद्गल स्कन्ध अपने रूप अर्थात् अपनी स्वाभाविक कर्मशक्ति के अनुरूप — कर्मरूप से अर्थ किया है सो उसका वह अर्थ करना दिशाभूल करने के सिवाय और कुछ भी नहीं है, क्योंकि — कर्मत्व परिणमन शक्तिवाले पुद्गलस्कन्ध पद का टीका में स्वयं उल्लेख रहने से "स्वयमेव" पद का पुद्गलस्कन्वों की कर्मरूप परिणति की स्वभावरूप योग्यता, अर्थ करना प्रकृत में कोई प्रयोजनीय प्रतीत नहीं होता।

उसको यदि असद्भूत व्यवहारपक्ष का ही समर्थन करना इष्ट है तो निश्चयपक्ष का खण्डन करने से इष्ट प्रयोजन की सिद्धि होना असंभव है, क्योंकि निश्चयपक्ष यथास्थित वस्तुस्वरूप को सूचित करता है अतः असद्भूत व्यवहारपक्ष द्वारा उसका खण्डन नहीं किया जा सकता या अर्थ का विपर्यास करके आगम दूपित नहीं किया जा सकता। जहां भी कार्यकारण भाव में इष्टार्थ निश्चयनय के कथन को सूचित करने का अभिप्राय रहता है वहां सर्वत्र "स्वयं" पद का अर्थ निश्चयनय से पर निरपेक्ष ही होता है, यह कहा जाता है और लिखा भी जाता है। अन्यथा प्रत्येक वस्तु स्वरूप से स्वयं ही उत्पाद–व्यय ध्रौव्यस्वरूप है, यह कथन वन ही नहीं सकता है।

समीक्षक को चाहिये था कि वह व्यक्तिगत अपना कुछ भी अभिप्राय रखकर अपने को जैन भी घोपित करता रहे और समाज की दिशाभूल भी करता रहे; परन्तु अपने अभिप्राय से आगम को को भ्रष्ट करने का उपक्रम न करे तो यह उसके हित में ही होगा।

कथन नं० ८६ का समाधान — इस कथन में समयसार गाथा ११६ से १२० तक की गाथाओं का उल्लेख कर इन गाथाओं की अवतरणिका में "स्वयं" पद न देखकर जो यह लिखा था कि "उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तु के परिणाम स्वभाव की सिद्धि करना ही आचार्य को अभीष्ट है, अपने आप परिणाम स्वभाव की सिद्धि करना नहीं। सो इस सम्वन्ध में हमारा कहना यह है कि यद्यपि उक्त गाथाओं की अवतरणिका में "स्वयं" पद के न होने पर भी उनकी आत्मख्याति टीका

में "स्वयं" पद का प्रयोग किया ही है और पुद्गल द्रव्य को स्वयं ही कर्मरूप परिणमनेवाला लिखा ही है, यथा —

"यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात्"

इसीप्रकार ११६ से ११९ गाथाओं में भी "स्वयं" पद का प्रयोग होने से पुद्गल स्वयं ही अर्थात् अपने आप ही कर्मरूप से परिणमता है, यह सिद्ध हो जाता है, क्योंकि निश्चयनय से स्वाश्रितपने को सूचित करने के लिये "स्वंयमेव" पद का अर्थ होता है — "अपने आप ही" इसलिये हमने पूर्वपक्ष के कथन को विकृत करने का न तो प्रयत्न ही किया है और न हमारा ऐसा अभिप्राय ही है।

यद्यपि सांख्य पुरुप को अपरिणामी मानता है, किन्तु इन गाथाओं द्वारा सांख्य की उक्त मान्यताओं का निरसण तभी होता है जब पुद्गल द्रव्य के परिणाम स्वभाव को सिद्ध करने के अभिप्राय से जीव उसे नहीं परिणमाता, किन्तु वह स्वयं ही अर्थात् अपने आप ही परिणमता है, यह बतलाकर ही स्वयं परिणाम स्वभावपने की सिद्धि की है।

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥ समयसार

फिर भी समीक्षक यह कहे कि पुद्गलों की कर्मरूप स्वाभाविक योग्यता को दिखलाने के लिये ही उक्त गाथा में "स्वयमेव" पद आया है, सो यह बात भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि उक्त दोनों गाथाओं में पुद्गल की कर्मरूप स्वाभाविक योग्यता को सूचित करने वाला स्वतंत्र पद न होने पर भी "स्वयमेव हि परिणमदि" इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गल में कर्मरूप परिणमन की स्वाभाविक योग्यता तो है ही, वह कर्मरूप भी स्वयं ही परिणमता है — यह सूचित हो जाता है। इसलिये उक्त गाथाओं में "स्वयं" पद मात्र पुद्गल के कर्मरूप परिणमन की स्वाभाविक योग्यता के अर्थ में न आकर, वह स्वयं ही कर्मरूप परिणमता है, यह सूचित करने के लिए ही आया है। अन्यथा "स्वयमेव परिणमदि" इस वाक्य में वर्तमान कालीन "परिणमदि" पद का कर्त्ता-कारक में प्रयोग ही नहीं किया गया होता। इस विषय में उसको एकान्त का आग्रह नहीं करना चाहिये। किन्तु अनेकान्त के सम्यक् स्वरूप को जानकर ऐसा ही निर्णय करना चाहिये कि पुद्गलद्रव्य कर्त्ता है और ज्ञानावरणादि कर्म हैं, दोनों स्वरूप से स्वयं हैं, क्योंकि कर्त्ता का स्वरूप कर्म सापेक्ष नहीं होता, उसी तरह कर्म का स्वरूप भी कर्तृसापेक्ष नहीं होता, क्योंकि इन दोनों को परस्पर सापेक्ष मानने पर दोनों के असत्व का प्रसंग आता है तथा कर्तापने का व्यवहार और कर्मपने का व्यवहार परस्पर निरपेक्ष भी नहीं होता, क्योंकि कर्म के निश्चयपूर्वक कर्त्ता का ज्ञान होता है तथा कर्त्ता के निश्चयपूर्वक कर्म का ज्ञान होता है। इस आधार पर यह अनेकान्त बनता है कि इन दोनों की सिद्धि सापेक्षिक होती है, क्योंकि ऐसा व्यवहार है तथा ये दोनों अपेक्षा रहित हैं, क्योंकि इनका स्वरूप स्वयंसिद्ध है। जैसा कि अष्टसहस्री-कारिका ७५ के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है—

"नहि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं, कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्वप्रसंगात्। नापि कर्तृव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्ति समधिगम्यमानत्वात्"

कर्त्ता का स्वरूप कर्मसापेक्ष नहीं होता। कर्म का स्वरूप भी कर्तृसापेक्ष नहीं होता, क्योंकि इन दोनों को परस्पर सापेक्ष मानने पर दोनों के असत्व का प्रसंग आता है। उसी तरह कर्त्ता का व्यवहार तथा कर्मपने का व्यवहार परस्पर निरपेक्ष नहीं होता, क्योंकि कर्म के निश्चयपूर्वक कर्त्ता का ज्ञान होता है और कर्त्ता के निश्चयपूर्वक कर्म का ज्ञान होता है। इस आधार पर यह अनेकान्त बनेगा (१) स्यादापेक्षिकी सिद्धिः तथा व्यवहारत् (२) स्यादनापेक्षिकी सिद्धिः पूर्वं प्रसिद्ध स्वरूपत्वात्।

इसी कथन में आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "जीव निश्चय से कर्म का कर्त्ता नहीं होता, जिसका तात्पर्य यह है कि जीव व्यवहार से कर्म का कर्त्ता होता है, अर्थात् जीव कर्म का कर्त्ता कर्मरूप परिणत होने रूप से न होकर पुद्गलकर्मरूप परिणमने में सहायक होने रूप से होता है।" सो इस सम्बन्ध में उसने ऐसा निष्कर्ष कहां से निकाल लिया कि "निश्चय से जीव कर्म का कर्ता नहीं होता जिसका तात्पर्य यह है कि वह व्यवहार से कर्म का कर्त्ता होता है और इस पर से यह निष्कर्ष कहां से फलित कर लिया कि जीव कर्म का कर्त्ता कर्मरूप परिणत न होकर, पुद्गल के कर्मरूप परिणमन में सहायक होने रूप से होता है" क्योंकि जब निश्चयनय परनिरपेक्ष ही वस्तु के स्वरूप को दिखलाता है, ऐसी अवस्था में "अर्थात्" लिखकर जो उसने निष्कर्ष फलित किया है वह किसी भी अवस्था में संभव नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चयनय की विवक्षा में परनिरपेक्ष कार्यकारणभाव को स्वीकार करने पर यदि उस आधार पर व्यवहारनय के वक्तव्य को फलित किया जाय तो निश्चयनय स्वाश्रित होता है, इसकी हानि का प्रसंग आता है। जैसे कि एवंभूतनय की अपेक्षा "आप कहां रहते हैं "यह कहा जाय तो उसका उत्तर होगा" अपने आत्मा में रहते हैं।" हम पूछते हैं कि उक्त कथन से यह अर्थ कैसे फलित किया जा सकता है कि हम पर में रहते हैं। अतः निश्चयनय के वक्तव्य के आधार पर व्यवहारनय के वक्तव्य को फलित करना इसे तत्त्व को झुठलाना न कहा जाय तो और क्या कहा जाय। इसी अर्थ को सूचित करने वाले सर्वार्थसिद्धि के इस कथन पर दृष्टिपात कीजिये—

"अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधारः कल्प्यः। तथा अनवस्थाप्रसंगः इति चेत्, नैष दोषः नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्येत। सर्वतोऽनन्तं हि तत्। धर्मानां पुनरधिकरणमाकाशमित्युच्यते, व्यवहारनयवशात्। एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव। तथा चोक्तम् क्व भवानास्ते ? आत्मनि इति। "धर्मादीनि लोकाकाशात बहिः सन्तीत्येतावदत्राधाराधेयकल्पनासाध्यं फलम्।"

शंकाः—यदि धर्मादिक द्रव्यों का अन्य आधार कल्पित किया जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार कल्पित करना चाहिए। और ऐसी कल्पना करने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है ?

समाधानः—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि "आकाश से अधिक परिणाम वाला अन्य द्रव्य नहीं है, जहां पर आकाश स्थित है यह कहा जाय।" वह सबसे अनन्त है, परन्तु धर्मादिक द्रव्यों का आकाश अधिकरण है यह व्यवहारनय की अपेक्षा कहा जाता है। एवंभूतनय की अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं। कहा भी है—"आप कहां रहते हैं" अपने में। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश के बाहर नहीं हैं, इतना ही आधार–आधेय कल्पना से फलितार्थ लिया गया है।

यह वस्तुस्थिति है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्यकारण भाव के अर्थ में व्यवहारनय का कथन विकल्प की भूमिका में ही बनता है। व्यवहारनय से जो कहा जाता है वैसा वस्तु का स्वरूप नहीं होता। इसीलिये निश्चयनय का कथन परनिरपेक्ष ही सिद्ध होता है और व्यवहारनय के कथन को परसापेक्ष कहने का अभिप्राय ही यह है कि वह मात्र विकल्प का ही विषय है। वस्तु के स्वरूप में परसापेक्षता स्वरूप से बनती ही नहीं।

कथन ८७ का समाधानः—त०च०पृ० ६१ पर हमने जो दूसरी आपत्ति उपस्थित की थी (गा० ११७ समयसार के उत्तरार्द्ध के सम्बन्ध में) सो वह वस्तुस्थिति को समझकर ही उपस्थित की थी। जब समीक्षक पुद्गल द्रव्य ही क्या, प्रत्येक द्रव्य को परिणाम स्वभावी स्वीकार कर लेता है तो उसे प्रत्येक द्रव्य परमार्थ से स्वयं परिणमता है यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये। कोई भी द्रव्य जब परतः परिणाम स्वभावी होता ही नहीं, ऐसी अवस्था में उसने जो परतः परिणाम स्वभावी न मानने पर व्रत के अभाव होने की आपत्ति दी है, वह प्रकृत में तर्कसंगत नहीं ज्ञात होती, क्योंकि कर्म और नोकर्मरूप निमित्तों की स्वीकृति केवल परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य स्वतः परिणमन करता है, इस अर्थ की सिद्धि करने के लिए ही कही जाती है। जैसाकि अनगारधर्मामृत अ० १ में कहा भी है—

> **कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।**
> **साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक्॥**

यतः निश्चय की सिद्धि के लिए वस्तु से भिन्न कर्त्तादिक साधे जाते हैं, उसका नाम व्यवहार है। किन्तु निश्चयनय कर्त्तादिक वस्तु से अभिन्न है, यह दिखलाने वाला है।

हमने समयसार गाथा ११६ पर अच्छी तरह से दृष्टिपात किया है। हम तो आपको इस संबंध में यही सलाह देवेंगे कि वह पूरी गाथा को अच्छी तरह से पढ़ लेवे। यदि वह पूरी गाथा को अच्छी तरह पढ़ते समय गाथा के उत्तरार्द्ध में आये हुए "जई" पद पर ध्यान दें तो उसे यह आपत्ति उपस्थित करने का अवसर ही नहीं आता, क्योंकि गाथा के उत्तरार्द्ध में यह स्पष्ट कहा गया है कि "ऐसी अवस्था में यह पुद्गल द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा।" वह अवस्था क्या है? इसी का पूर्वार्द्ध में "यदि" पद के द्वारा उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार पूरी गाथा के अर्थ पर जब विचार करते हैं, तो उसका अर्थ यह होता है कि यदि जीव में पुद्गल द्रव्य कर्मरूप से स्वयं नहीं बंधा है और कर्मरूप से स्वयं नहीं परिणमता है तो यह पुद्गल द्रव्य उस अवस्था में अपरिणामी ठहरेगा।

हम समीक्षक के पूरे अभिप्राय को अच्छी तरह समझ रहे हैं। वह जो यह बतलाना चाहता है कि "कर्म या नोकर्म परद्रव्य के कार्य के होने में सहायता करता है; सो यही उसका भ्रम है, क्योंकि मात्र काल प्रत्यासत्तिवश इन दोनों में निमित्त व्यवहार किया जाता है। यदि उसका प्रयोजन व्यवहारनय के पक्ष के समर्थन का ही हो तो उसका मार्ग दूसरा है। किसी अन्य द्रव्य के कार्य में हस्तक्षेप करना व्यवहारनय का प्रयोजन नहीं है। वह तो परमार्थ से अन्य द्रव्य ने क्या कार्य किया, कालप्रत्यासत्तिवश इसकी सिद्धि कर देना ही उसका प्रयोजन है।

समीक्षक कितनी ही कठिनाई का अनुभव क्यों न करे, वह यह अच्छी तरह से जान लेवे कि आगम से हमारे कथन की ही सिद्धि होती है, क्योंकि हमने परमार्थ से वस्तुस्वरूप का अवलम्बन लेकर ही लिखा – कहा है। कल्पना को परमार्थ में बाधक बनाकर कुछ नहीं लिखा और न कुछ कहा ही है। यद्यपि कल्पना आरोप को ही कहती है, परन्तु वह अन्य में अन्य का आरोप भी सर्वत्र प्रयोजन से ही किया जाता है। प्रयोजन को छोड़कर देखा जाय तो वह (कल्पना) झूठ के सिवाय और कुछ नहीं है।

बन्ध और मोक्ष ये दोनों ही जीव की अवस्थायें हैं। जीव ही स्वयं अपनी नासमझी से रागादिरूप परिणमता है, इसलिए तो वह रागादि से बद्ध है, अतः जीव कर्मपुद्गलों से बद्ध है यह उपचार कथन है तथा वह स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से मोक्ष को प्राप्त होता है, ऐसा परमार्थ होते हुए भी कर्मों की निर्जरा से जीव मुक्त होता है, यह कहना व्यवहार अर्थात् उपचार है। आशय यह है कि जब तक जीव के परिणाम में पराश्रय भाव बना रहता है तब तक वह बन्ध अवस्था में अवस्थित रहता है और जब वह स्वाश्रयभाव को अपने जीवन का अंग बना लेता है तब वह क्रमश. मुक्त हो जाता है। पुद्गल कर्मों के छूटने से वह मुक्त हुआ – यह कहना व्यवहार है अर्थात् उपचार है। यहां जैसे रत्नत्रयरूप परिणति मोक्ष का कारण है इसी बात को यदि कहा जाय कि रत्नत्ररूप परिणति ही परमार्थ से साक्षात् मोक्ष है। ऐसी अवस्था में कर्मों का आत्मा से अलग होना यह कहना परमार्थ न होकर उपचार ही ठहरता है, क्योंकि कर्म पुद्गलों की पर्याय हैं. वे न तो कभी आत्मा रूप परिणमे हैं और न कभी आत्मकार्य में परमार्थ से सहायक बने हैं। जिन रागादि भावों से आत्मा बद्ध हैं वे ही आत्मा के आत्या के बाधक हैं, वास्तव में कर्म नहीं।

समीक्षक ने त, च. पृ. ३० पर समयसार गा. ११७ के प्रसंग से "अपने आप" पद के आगे "स्वत: सिद्ध" पद जोड़ने का जो हम पर आरोप किया है उसकी पुष्टि में उस पक्ष को कोई प्रमाण अवश्य देना चाहिए था। बिना प्रमाण के उस पर विचार करने में हम असमर्थ हैं। शेप कथन पिष्टपेशण मात्र है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पर द्रव्य दूसरे के कार्य में असद्भूत व्यवहार से निमित्त अवश्य होता है, इस कथन में हमें क्या विवाद है? किन्तु समयसार कलश १७५ में जो "परसंग" पद आया है सो उसका आशय रागी आत्मा की अपेक्षा पर की संगति करना, लिया गया है। अन्यथा कोई भी

आत्मा मुक्त नहीं हो सकता। यह आत्मा जब अज्ञान भाव से पर की संगति करता है तो नियम से बंधता है — ऐसा उसका आशय है। परसंग का अर्थ ही यह है — 'अनात्मीय भावनां आत्मभावः संयोगः।' वास्तव में संयोग का अर्थ अनात्यमीय भावों को आत्मरूप मानना।"

यह आत्मा स्वयं ही परिणाम स्वभाव की योग्यतावाला तो है ही और जब ऐसी योग्यता वाला है तो स्वयं ही वह परिणमता भी है — ऐसा वस्तु स्वभाव है। उसमें अन्य द्रव्य निमित्त तो होता है, परन्तु वह उस समय स्वयं अपने परिणाम को ही करता है, उसके उस परिणाम में जैसे अन्य द्रव्य परमार्थ से सहायता नहीं करता वैसे ही आत्मा के परिणाम में भी अन्य द्रव्य परमार्थ से कोई सहायता नहीं करता। अन्यथा इस पराश्रयपने का कहीं अन्त न होने से अनवस्थादोष का प्रसंग आ उपस्थित होता है। स. पृ. १७८

समीक्षक सर्वत्र आगम की दुहाई देकर यह सिद्ध करने का तो प्रयत्न करता है कि निमित्त-भूत वस्तु जीव के परिणमन में परमार्थ से तो सहायक होती है, परन्तु अभी तक उसने अपने इस मत के समर्थन में एक भी आगम वाक्य उपस्थित नहीं किया है।

समीक्षक समयसार गा. ११६ के ४ चरणों का जो अर्थ करता है वह ठीक नहीं है। यदि उसे उनका ठीक अर्थ करना है तो वह इस प्रकार होगा —

"यदि पुद्गल द्रव्य को जीव में स्वयं (अर्थात् पर निरपेक्ष ही) अपने आप ही बद्ध न माना जाय और उसका परिणमन भी स्वयं (अर्थात् निमित्त के बिना) अपने आप ही न माना जाय तो वह अपरिणामी हो जायगा। (हमारे इस कथन की पुष्टि में देखो समयसार गाथा १३७–१३८)

समीक्षक ने जो समयसार गाथा ६४ उदधृत कर अपने मत का समर्थन करना चाहा है सो उससे उसके मत का खण्डन ही होता है, क्योंकि उससे यही सिद्ध होता है कि "जिनमें जो स्वभावभूत शक्ति होती है वह स्वयं ही उस भावरूप परिणमता है। कोई अन्य उसके परिणमन में सहायता करता हो — ऐसा उसका आशय फलित नहीं होता। स. गाथा ११६ में "स्वयं" पद का अर्थ कर्त्ता के अर्थ में "अपने आप ही" है "अपने रूप" नहीं। जहां जो प्रकरण हो उसी के अनुसार उसका अर्थ किया जाता है। यहां कर्त्ता प्रकरण है, इसलिये स्वयं पद का अर्थ "अपने आप" ही होगा" यहां अन्य कारक विवक्षित नहीं। व्यर्थ ही कल्पनाशील व्यवहार को इतना प्रबल बनाने की आवश्यकता नहीं, जिससे वस्तुस्वरूप अर्थात् निश्चय पक्ष की हानि का प्रसंग उपस्थित हो जाय। श्री पंडित जयचंदजी छाबड़ा ने भी इस पद का हमारे लिखे अनुसार ही अर्थ किया है। इन गाथाओं की संस्कृत टीका में भी यही अर्थ किया गया है। श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने भी इस प्रसंग से "स्वयं" पद का यही अर्थ किया है जो हमने किया है। (देखो उनके द्वारा किये गये तत्वार्थवृत्ति के हिन्दी अनुवाद को।)

कथन नं ८८ का समाधानः—"समं" पद का प्रकृत में क्या अर्थ होता है यह हम कथन नं. ८७ में स्पष्ट कर आये हैं, इसलिए पुनः उसकी चर्चा करना प्रयोजनीय प्रतीत नहीं होती। इस

प्रसंग में जो निमित्त के सहयोग की वात पुनः पुनः दुहराई जाती है उसका निरसन करते हुए उक्त टीका में आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज ने गाथा १२३ का जो अर्थ किया है उससे भी यही ज्ञात होता है कि इस गाथा में "स्वयं" का अर्थ "अपने आप" ही होता है जैसा कि उन्होंने प्रकृत टीका में यही अर्थ किया है। टीका इस प्रकार है :—

"जीवेण सयं बद्ध" पुद्गल द्रव्यरूप कर्म अधिकरणभूत जीव में न तो स्वयं वद्ध है, क्योंकि जीव तो सदा शुद्ध है और "ण सयं परिणमदि कम्भावेण" अपने आप कर्मरूप से भी अर्थात् द्रव्यकर्म की पर्यायरूप से भी नहीं परिणमता है" — तात्पर्य यह है कि समीक्षक "सयं" पद का जो अर्थ करता है, वह अर्थ न तो मूल-गाथाओं से ही फलित होता है और न उनकी संस्कृत या हिन्दी टीकाओं से ही फलित होता है। अपनी विद्वता के वल पर किसी शव्द का कुछ भी निष्कर्ष निकालने बैठना विद्वता नहीं है। इससे अधिक और क्या लिखें ?

कथन नं. ८९ का समाधानः—इस कथन में भी समीक्षक ने उन्हीं वातों को दुहराया है जिनके विषय में अनेक वार विचार किया जा चुका है। किसी एक वस्तु के कार्य में अन्य वस्तु की विवक्षित पर्याय को या उस वस्तु को या उन दोनों को मिलाकर निमित्त कहना, यह जव असद्भूत व्यवहार नय का विषय है — ऐसी अवस्था में अन्य को अन्य के कार्य में परमार्थ से सहायता करने की वात करना केवल शास्त्र की उपेक्षा ही कही जायेगी। कहा भी है — "अर्थक्रियाकारित्वं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्। द्रव्य अर्थक्रियाकारी होते हैं। जिसे हम अन्य द्रव्य के कार्य में निमित्त कहते हैं वह स्वयं प्रतिसमय अपना कार्य करने में लगा रहता है, इसलिए वह अन्य द्रव्य के कार्य में परमार्थ से सहायता करता है — ऐसा लिखना या कहना स्वमत का पोषण ही है, आगम नहीं। यदि उससे इस समय अन्य द्रव्य ने क्या कार्य किया — इस प्रकार की सूचना मिलती है तो इसे अन्य द्रव्य के कार्य में परमार्थ से सहायता करना नहीं कहा जा सकता। अतः हम तो उनसे यही निवेदन करेंगे कि वे अपने आग्रह को छोड़कर जैनशासन की मर्यादा में व्यवहारनय के कथन को यथार्थ रूप से समझने में अपनी वुद्धि का उपयोग करें; वैसे समझते तो हैं। परन्तु पक्ष के व्यामोहवश तथ्य को स्वीकार नहीं करते।

कथन न० ९० का समाधान :—इस कथन में शंकाकार पक्ष ने जो निश्चयनय और व्यवहारनय की परस्पर सापेक्षता का निर्देश किया है सो यहां पर हम सापेक्षता का आगम में क्या अर्थ लिया गया है इसे अष्टसहस्री के कथन द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं, जो दृष्टव्य है।

अष्टसहस्री की कारिका १०८ में सापेक्ष शव्द का अर्थ करते हुए भट्टाकलंकदेव लिखते हैं—

"निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेर्नयात्तत्प्रतिपत्तेर्दुर्नयादन्यनिराकृतेश्च।"

विवक्षित धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म का निराकरण करना निरपेक्षता है तथा सापेक्षता का अर्थ उपेक्षा है, अन्यथा प्रमाण और नयों में कोई विशेषता नहीं रह जाती है, क्योंकि विवक्षित धर्म

के साथ धर्मान्तर को ग्रहण करना प्रमाण का लक्षण है, विवक्षित धर्म के सिवाय अन्य धर्म का निषेध करना दुर्नय का लक्षण है, कारण कि इनको छोड़कर प्रमाणादि के अन्य लक्षण हो ही नहीं सकते।

किन्तु यह सब कथन प्रत्येक वस्तु के अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और तत्-अतत् आदि धर्मों को ध्यान में रखकर किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्यकारण भाव, आधार-आधेयभाव आदि की अपेक्षा जहां दो वस्तुएँ विवक्षित होती हैं, जैसे कुम्भकार को घट का निमित्त कर्ता कहना और कुम्भ को उसका कार्य कहना आदि; वहाँ स्वभाव और परभाव की दृष्टि से जब विचार किया जाता है तब विवक्षित मिट्टी ही घट का परमार्थ से कर्ता और घट परिणाम से परिणत हुई मिट्टी ही उसका परमार्थ से कार्य ठहरता है। अपने योग और उपयोग परिणत कुम्भकार न तो घट का कर्ता ही ठहरता है और न घट उसका परमार्थ से कर्म ही ठहरता है। मात्र यह उपचार कथन होने से असद्भूत व्यवहारनय से ही ऐसा कहा जाता है, इसलिये योग और उपयोग परिणत कुम्भकार घट कार्य के प्रति तत्वदृष्टया अकिंचित्कर होने से वह घट कार्य में किसी भी प्रकार से उसे सहायक कहना परमार्थ नहीं ठहरता। समीक्षक निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों को परस्पर सापेक्ष भले ही लिखे, परन्तु यहाँ पर व्यवहारनय से क्या अभिप्रेत है इसे वह जानबूझ कर स्पष्ट नहीं करना चाहता, क्योंकि ऐसा करने से उसे अपने कथन की अपरिमित हानि होती हुई दिखाई देती है। अरे भाई! कुम्भकार को घट का कर्ता असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा गया है, सामान्य व्यवहारनय से नहीं, क्योंकि कुम्भकार भिन्न वस्तु है और मिट्टी भिन्न वस्तु है। इन दोनों का एक दूसरे में अत्यन्ताभाव है। फिर भी कुम्भकार को निमित्त कर घट बना, यह कहना अज्ञानियों का अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहार है जो ज्ञानमार्ग में हेय है। कालप्रत्यासत्तिवश या बाह्य व्याप्तिवश ही आगम में लौकिक व्यवहार को प्रयोजनवश स्थान दिया गया है। जैसा कि समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका में इस वचन से भी स्पष्ट है—

"कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्-व्यवहारः।"

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि पर में निमित्तता का तो यहाँ निषेध नहीं किया है, केवल पर में कर्तृत्व का ही निषेध किया है सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बाह्य निमित्त में परमार्थ से निमित्तपने का निषेध हो जाता है। हम यह अच्छी तरह से जानते हैं कि चरणानुयोग शास्त्र और करणानुयोग शास्त्र एक अपेक्षा निमित्त-नैमित्तिक भाव की दृष्टि से लिखे गये हैं, परन्तु वहाँ भी उनके लिखे जाने का प्रयोजन कालप्रत्यासत्ति को ध्यान में रखकर ही उनकी रचना की गई है। जैसे :— जिस समय जिनके क्रोध भाव होता है उसी समय क्रोध कषाय कर्म का उदय भी रहता है और उसी समय क्रोध कषाय को निमित्त कर नये कर्म का बन्ध भी होता है। ऐसा कहीं भी नहीं देखा जाता कि क्रोध कषाय कर्म का उदय तो हो और क्रोध पर्याय न हो। यह उपयोग की विशेषता है कि आत्मा में क्रोध पर्याय के होते हुए भी वह क्रोध को न अनुभवे — यह उपयोग की स्वतन्त्रता है।

सम्यक्त्व आदि के काल में यह स्थिति बन जाती है, इसमें कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि सम्यक्त्व आदि स्वभाव पर्याय है, इसलिए पर में इष्टानिष्ट बुद्धि छोड़कर उपयोग में स्वभाव के आलम्बन से ही होती है।

प्रत्येक द्रव्य में कार्य करने की जो स्वाभाविक योग्यता है उसके अनुरूप जब उपादान की भूमिका बनती है तब उसके अनुसार द्रव्य (पर्याय की योग्यता के अनुसार) स्वयं ही उस कार्यरूप परिणमता है। (इसके लिये देखो समयसार गाथा ३७२ और उसकी आत्मख्याति टीका।) अपनी स्वाभाविक तत्कालीन उपादान योग्यता के कारण ही प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्ययरूप परिणमता है, पर के कारण नहीं, ऐसा निश्चय करना ही जिनागम है।

समयसार में जो "न जातु रागादिनिमित्तभावम्" इत्यादि कलश आया है उससे भी यही भाव व्यक्त होता है कि पर की संगति को परमार्थ से सहायक मानना अपराध है, पर की संगति नहीं। संगति शब्द में यह अर्थ छिपा हुआ है। उसे अपने समर्थन में खींचकर उससे जैनदर्शन को ईश्वरवादी बनाना योग्य नहीं है।

कथन नं. ६१ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने त० च० पर के हमारे कथन का निषेध करते हुए जो यह लिखा है कि व्यवहारनय का विषय भी निश्चयनय के विषय की तरह अपने ढंग से वास्तविक ही है। वह आकाशकुसुम की तरह सर्वथा असत् नही है। इतना ही है कि व्यवहारनय का विषय निश्चयनय के विषय के समान सत्रूप नहीं है सो जब समीक्षक ही यह स्वीकार कर लेता है कि "वह निश्चयनय के विषय के समान सत्रूप नहीं है" तो इसका अर्थ ही यह हुआ कि जैसे कार्यरूप वस्तु में उपादान के गुण-धर्म पाये जाते हैं उसप्रकार वाह्य निमित्त के धर्म उस कार्यरूप वस्तु में नहीं पाये जाते। और जब कार्यरूप वस्तु में वाह्य निमित्त रूप वस्तु के धर्म नहीं ही पाये जाते तब उसकी सहायतारूप धर्म कार्यरूप वस्तु में नहीं पाया जायेगा और ऐसी अवस्था में कार्यरूप वस्तु मे सहायता रूप धर्म का अभाव ही रहेगा। इसलिए व्यवहारनय का (असद्व्यवहारनय का) विषय भी निश्चयनय के विषय की तरह अपने ढंग से वास्तविक ही है" यह कहना उपचरित ही ठहर जाता है। हमने समयसार गाथा ५६ की आत्मख्याति टीका और मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. २८७ और पृ. ३६६ के वस्तुस्थिति के समर्थन में जो प्रमाण दिये हैं उनका भी वही पूर्वोक्त ही आशय है।

कथन नं. ६२ का समाधान :—इस कथन में समीक्षक ने पुद्गल द्रव्य के स्वतः सिद्ध परिणाम स्वभाव का समर्थन करते हुए "पुद्गल द्रव्य पर की अपेक्षा किये बिना स्वरूप से स्वयं परिणाम स्वभावी है, मेरे इस कथन को पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध बतलाने की जो चेष्टा की है वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिसमें जो द्रव्य-पर्याय शक्ति स्वतः सिद्ध होती है उसको वैसा होने के लिए पर की अपेक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ा करती, यह अपने आप फलित हो जाता है। अन्यथा उसे स्वतः सिद्ध कहना अज्ञान होगा। जैसे प्रत्येक द्रव्य स्वतः सिद्ध है इसलिए वे परकी अपेक्षा के बिना स्वतः सिद्ध है, यह सिद्ध हो जाता है इसी प्रकार परिणाम स्वभाव भी स्वतः सिद्ध होता है, इसलिए

वह पर की अपेक्षा के विना ही परिणमन करता है। इतना अवश्य है कि वाह्य में उसकी सिद्धि हम कालप्रत्यासत्तिवश उसी समय अवश्य ही रहने वाले क्रिया परिणामी या केवल परिणामी अन्य द्रव्य के माध्यम से करते हैं, इसलिए इस दृष्टि से आगम में वाह्य निमित्त की व्यवस्था है।

कथन नं. ९३ का समाधान :– इस कथन में जो "स्वयं" पद का अर्थ "अपने आप न करके" "अपनेरूप" किया है सो समीक्षक को "स्वयं" पद का यह अर्थ करते समय यह खवर नहीं रही कि दूसरे अर्थ के करने से निश्चय कथन की हत्या हो जायेगी, और ऐसा होने पर वस्तु स्वरूप से ध्रौव्य के समान, उत्पाद-व्ययरूप सिद्ध नहीं होगी, और ऐसी अवस्था में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व सर्वथा पराश्रित ही मानना पड़ेगा। यही तो ईश्वरवाद का जैनधर्म में प्रवेश कराना है। इससे मालूम पड़ता है कि समीक्षक ने जैनत्व का कपड़ा ओढ़कर जैनधर्म में ईश्वरवाद के समर्थन का वीड़ा उठा लिया है। नय दो हैं, दोनों नयों का अपना-अपना विषय है। निश्चयनय स्वरूप का कथन करनेवाला नय है और व्यवहारनय स्वरूप को गौणकर पर की अपेक्षा कार्य की सिद्धि करता है। परन्तु पर की अपेक्षा किसी की सत्ता बनती नही, इसलिये निश्चयनय स्वभाव सें पर का निषेधक वन जाता है. क्योंकि व्यवहारनय जैसा कथन करता है, वस्तु वैसी होती ही नहीं। उसका विषय कथन मात्र ठहरता है।

कथन नं. ९४ का समाधान :– इस कथन में समीक्षक ने जितना कुछ लिखा है उसका निरसन कथन नं. ९३ में दिये गये हमारे वक्तव्य से हो जाता है। फिर भी यहाँ हम इतना उल्लेख कर देना चाहते हैं कि यदि विवक्षित वस्तु का कार्य उससे भिन्न परवस्तु की सहायता के बिना नहीं होगा तो वह परवस्तु भी अपने सहायतारूप कार्य को अन्य परवस्तु की सहायता के बिना नहीं कर सकेगी और वह अन्य परवस्तु भी अपने सहायतारूप कार्य को अपने से भिन्न अन्य वस्तु की सहायता के विना नहीं कर सकेगी। इसप्रकार अनवस्था दोष के प्राप्त होने से परमार्थ से यही निर्णय करना उचित प्रतीत होता है कि प्रत्येक वस्तु अपने परिणाम स्वभाव के कारण स्वयं परिणमन करती है। उसे परमार्थ से अपने परिणमन में अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं पड़ती।

कथन नं. ९५ का समाधान :– इस कथन में जो निश्चय कथन को व्यवहार सापेक्ष लिखा है सो इसका उत्तर हम कथन नं. ९१ के और ९३ के समाधान में दे आये हैं, उसे ही यहाँ समझ लेना चाहिये। उसका आशय यह है कि निश्चयकथन पर निरपेक्ष ही होता है। व्यवहार से पर सापेक्षता कही जाती है।

कथन नं. ९६ का समाधान :– इस कथन में समीक्षक हमारे द्वारा किये गये "स्वयं" पद के अर्थ को ठीक नहीं मानते हुए हम पर यह आपेक्षा करता है कि उसने "निरर्थक और आगम के विपरीत प्रतिपादन किया है। तत्त्व जिज्ञासुओ ! इस पर विचार करने की आवश्यकता है।"

सो इस विपय में हमें इतना ही कहना है कि अन्त में समीक्षक ने हारकर "स्वय" पद का अर्थ करने के लिए तत्त्व जिज्ञासुओं के ऊपर छोड़ दिया है। लोक में कहा जाता है कि इस काम को

आप स्वयं सम्पन्न कर लेना। तो क्या यहां पर उसका यह अर्थ होता है कि आप इस काम को अपने रूप निपटा लेना, या यह अर्थ होता है कि आप इस काम को आप ही निपटा लेना। जैसे यह बात है उसी तरह से आगम में भी निर्णय लेना चाहिये। तदनुसार 'स्वयं परिणमता' का कर्त्ता कारक में अर्थ होगा – आप ही परिणमता है।

कथन नं. ९७ का समाधानः—इस कथन में समीक्षक के वचनों में आडंबर और पुनरुक्ति के सिवाय और कोई तथ्य दिखाई नहीं देता, जिनके सम्बन्ध में विस्तार से हम यहां उत्तर लिखें आगम के प्रति छल कौन कर रहा है, वह कि हम, इसका वह स्वयं ही निर्णय करे। अन्त में उसने जो यह लिखा है कि "यह विवाद तत्व चर्चा से समाप्त नहीं हो सका, अतएव तत्व चर्चा की इस "समीक्षा" को लिखने की ओर ध्यान देना पड़ा है" आदि, तो समीक्षा करने वाले पंडितजी जबकि स्वयं ही पूर्व पक्ष के एक सदस्य हैं; ऐसी अवस्था में यह तो उन्हें ही सोचना चाहिए था कि "समीक्षा लिखने के अधिकारी हम नहीं हो सकते, क्योंकि हम तटस्थ व्यक्ति नहीं हैं, इसलिये, हमें समीक्षा लिखने का अधिकार नहीं हो सकता।" हम यहां इतना अवश्य कहते हैं कि यदि उक्त पंडितजी स्वाश्रित निश्चयनय के कथन के अनुसार लिख सकें तो मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूं कि मैं निश्चयनय के कथन को किसी प्रकार की क्षति पहुंचाये बिना सद्भूत और असद्भूत व्यवहारनय के अनुसार वस्तु स्वरूप और कार्य कारण भाव का समर्थन कैसे लिखा जा सकता है – इसके लिये उनको इस जीवन के अन्तिम समय तक कभी भी उपलब्ध रहूंगा।

कथन नं. ९८ का समाधानः—इस कथन में भी समीक्षक ने "स्वयं" पद के आधार पर ऊहापोह करते हुए लिखा है कि – "उपादान में कार्य की उत्पत्ति निमित्त कारणभूत बाह्यवस्तु की सहायता से ही होती है।" सो उसका ऐसा लिखना भ्रमोत्पादक ही कहा जायगा। कारण कि एक तो उपादान में कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं, उपादान तो कारण है और वह कार्य के अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यरूप ही होता है, अतः कार्य उपादान के ध्वंसरूप ही होता है। इससे निश्चित है कि कार्य उपादान में न होकर जो वस्तु कार्य का उपादान बनती है उसके अनन्तर समय में ही होता है। दूसरे—निश्चयनय से प्रत्येक वस्तु स्वाश्रित ही होती है। उसका लक्षण भी यही है—"स्वाश्रितो निश्चय-नयः" अतः इस दृष्टि से जब विचार करते हैं तब प्रत्येक परिणाम (कार्य) पर निरपेक्ष स्वयं ही (अपने आप ही) होता है ऐसा आगम से स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आती। प्रवचनसार गाथा १६९ की तत्वदीपिका टीका में आये हुए "स्वमेव" पद का भी यही आशय है। अन्यत्र जहां कर्ता कारक के अर्थ में "स्वयमेव" पद आया है वहां भी इस पद का यही अर्थ करना चाहिये। प्रवचन-सार गाथा १६ की इसी तत्वदीपिका टीका में "स्वयंभू" पद का षट्कारक के रूप में जो स्पष्टीकरण मिलता है सो उसका भी यही आशय है और इसीलिए उसकी पुष्टि में प्रवचनसार गाथा १६ की तत्वदीपिका टीका में यह कहा गया है कि "निश्चयनय से पर के साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नहीं है, जिससे कि शुद्ध आत्मस्वभाव के लाभ के लिये सामग्री की मार्गणा की व्यग्रता से यह जीव परतंत्र होवे" उल्लेख इस प्रकार है –

अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणाव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ।

यह कार्य कारण का ही प्रकरण है। इतना अवश्य है कि यहां पराश्रित कार्यकारण भाव की अपेक्षा कथन नहीं किया गया है। किन्तु स्वाश्रित कार्य कारणभाव की अपेक्षा ही यह कथन किया गया है। वही मुख्य है, अन्य कथन तो प्रयोजन के अनुसार कथन मात्र हैं।

कथन नं. ९९ का समाधानः—इस कथन में समीक्षक ने उपचार पद के अर्थ को स्वीकार कर लिया है पर उसे गौण करके अन्य विषय की चर्चा छेड़ दी है, किन्तु उसे मालूम होना चाहिये कि धवल पु. पृ. ११ का अनुवाद मेरा नहीं है। मैने तो उस अनुवाद को प्रामाणिक मानकर ही उसका उल्लेख मात्र किया था। इसकी चर्चा वह पहले भी कर चुका है और मुख्य मुद्दे को छोड़कर यहां भी कर रहा है। हम कहते हैं कि उसे इसी प्रकार यहां और सर्वत्र अपने वक्तव्य में सुधार कर लेना चाहिए। ऐसा न करके प्रकृत में उसका यह तो अपने पृ. ३१ वक्तव्य के सम्बन्ध में अपने को छिपा लेना हुआ। जो तत्व चर्चा में उपयुक्त नहीं माना जा सकता। उसने पृ. ३१ में समयसार के आधार से लिखा था—

"परन्तु ऐसा उपचार प्रकृत में सम्भव नहीं है कारण कि आत्मा के कर्तृत्व का उपचार यदि द्रव्य कर्म में आप करेंगे तो इस उपचार के लिये सर्वप्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजन देखना होगा जिसका कि सर्वथा अभाव है।"

इसका समाधान करते हुए हमने लिखा था – समाधान यह है कि यहाँ पर न तो व्यवहार हेतु और न व्यवहार प्रयोजन का अभाव ही है और न ही आत्मा के कर्तृत्व का उपचार द्रव्यकर्म में कर रहे हैं, किन्तु प्रकृत में हम कर्म परिणाम के सन्मुख हुए कर्म वर्गणाओं के कर्तृत्व का व्यवहार हेतु संज्ञा को प्राप्त अज्ञानभाव से परिणित आत्मा में कर रहे हैं।

हमारे इस समाधान से स्पष्ट है कि समीक्षक अपनी भूल को ऐसे रूप में स्वीकार करता है कि वह शब्दों के जाल में सब की समझ में न आये। □

उपसंहार

पूर्व पक्ष ने (समीक्षक ने) इस समीक्षा लिखने में जो भूलें की हैं, उनमें से कुछ भूलों का संक्षेप में स्पष्टीकरण :—

(१) मूल शंका :—द्रव्य कर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

समाधान :—"संसारी आत्मा के विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण में द्रव्य कर्म का उदय निमित्त मात्र है विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण का मुख्य कर्त्ता स्वयं आत्मा ही है।"

यह उत्तर हमने इसलिये दिया था कि प्रत्येक कार्य में एक ही कारण नहीं होता, इसलिये समीक्षक द्वारा केवल उपचारनय से (असद्भूत व्यवहारनय से) पूछी गई शंका का पूरा समाधान हो जाना आवश्यक था। यह जानकर हमने उक्त उत्तर दिया था। इसके अतिरिक्त हम और क्या कर सकते थे ?

(२) शंका :—समीक्षक व्यवहार के विषय को कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ मानता है। स. पृ. ४

समाधान :—यह समीक्षक का कहना है, किन्तु प्रकृत में व्यवहारनय से असद्भूत व्यवहारनय का ग्रहण किया गया है। इसलिये वह भूतार्थ नहीं होता, क्योंकि वह उपचरित (कल्पनारोपित) धर्म का कथन करता है जिसका कि कार्य-वस्तु में सर्वथा अभाव है। जिस कार्य का निमित्त कहा गया है उसमें भी अन्य द्रव्य के कार्य का कारण धर्म वास्तविक नहीं होता। बाह्य वस्तु में कालप्रत्यासत्ति वश कारणता का आरोप करके उसे कार्य का निमित्त कहा जाता है। स्वय समीक्षक इसी पृष्ठ में "और निमित्तकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म में स्वीकृत निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहार के विषय हैं" यह लिखकर हमारे कथन को स्वीकार कर लेत है।

(३) शंका :—"वहां पूर्व पक्ष उसे उस कार्यरूप परिणित न होने के आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणिति में सहायक होने के आधार पर भूतार्थ मानता है। स पृ. ५।

समाधान :—निमित्त और सहायक का एक ही अर्थ है। और निमित्त अयथार्थ कारण है। इस प्रकार जबकि उसमें कारणता अयथार्थ है तो उसकी सहायता से कार्य हुआ, परमार्थ से यह कहना कैसे संगत हो सकेगा; अर्थात् नहीं हो सकेगा। और फिर कार्य-द्रव्य अत्यन्त भिन्न है, उसमें उपचरित कारण-द्रव्य का अत्यन्ताभाव है। इसलिये उसकी सहायता से कार्य हुआ ऐसा कहना असद्भूत व्यवहार से ही बनता है, परमार्थ से नहीं। अत: जैसे निमित्त को कारण कहना अभूतार्थ है वैसे ही उसकी सहायता से कार्य हुआ – यह कहना भी अभूतार्थ है, भूतार्थ नहीं है, क्योंकि निमित्त की सहायता से कार्य हुआ– यह कहना भी उपचरित अर्थ को ही सूचित करता है।

(४) शंका :– आरोप है कि व्यवहारनय के विषय में तो विवाद नहीं है, विवाद केवल कार्य में निमित्त की अकिंचित्करता के विषय में है। उत्तरपक्ष कार्य में उसे सर्वथा अकिंचित्कर मानता है और हम भूतार्थ मानते हैं। स. पृ. ५६।

समाधान :–जो कर्म का उदयादिरूप निमित्त हो या अन्य कोई निमित्त हो, वह कार्य में अपने गुण धर्म को प्रदान नहीं करता, इसलिये इस अपेक्षा से वह अकिंचित्कर है। किन्तु विवक्षित द्रव्य अपने परिणामरूप अपना कार्य करता है वैसे ही उसका निमित्त द्रव्य, या बाह्य निमित्त द्रव्य क्रम से उदयादिरूप और अपने परिणामरूप अपना कार्य करता है। इन दोनों के एक काल में होने का नियम है, इसलिये प्रयोजनवश उनमें निमित्त व्यवहार कर लिया जाता है।

(५) शंका :–(समयसार गाथा ८१) ऐसा लगता है कि उत्तरपक्ष ने "कर्म गुण" और "जीव गुण" इन दोनों पदों को सप्तमी तत्पुरुष के रूप में समझकर गाथा का अर्थ किया है जब कि उन पदों की षष्ठी तत्पुरुष के रूप में समस्त पद मानकर गाथा का अर्थ करना चाहिये था? स० पृष्ठ ६।

समाधान :–इस गाथा में "कम्मगुणे" और "जीवगुणे" पद हमने सप्तमी विभक्ति में समझकर अर्थ नहीं किया है, वह सप्तमी विभक्तिरूप है भी नहीं। वे दोनों पद द्वितीया विभक्ति के बहुवचन हैं। हमने इसी को ध्यान में रखकर कोई भूल नहीं की है।

(६) शंका :–पूर्वपक्ष (प्रेरक और उदासीन) दोनों निमित्तों को मानता है? स. पृ. १३।

समाधान :–आगम में निमित्त दो प्रकार के स्वीकार किये गये हैं – विस्रसा और प्रायोगिक। द्वीन्द्रियादि जीव जिस कार्य में बुद्धिपूर्वक निमित्त होते हैं, उनकी यह निमित्तता प्रयोग-निमित्तक (प्रायोगिक) जाननी चाहिये। शेष अबुद्धिपूर्वक जितनी निमित्तता है वह सब विस्रसा कहलाती है। इसलिये आगम में उदासीन और प्रेरक निमित्त जिन्हें कहा गया है, वे यदि अबुद्धिपूर्वक निमित्त हुए हैं तो वे दोनों विस्रसा निमित्तों में परिगणित हो जावेंगे तथा बुद्धिपूर्वक निमित्त प्रायोगिक कहलावेंगे –ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

(७) शंका :–प्रेरक निमित्त वे हैं जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं? स. पृ. १३।

समाधान :–आगम में कार्यकाल में कालप्रत्यासत्तिवश बाह्य द्रव्य में निमित्तता स्वीकार की गई है, इसलिये विवक्षित कार्य के साथ ही उसमें होने वाले किसी भी प्रकार के निमित्तों की अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियां बनती हैं। जैसे – जिस समय आत्मा क्रोध परिणामरूप परिणमता है उसी समय क्रोध कषाय कर्म का उदय रहता है और बाह्य अनुकूलता भी उसी समय बनती है। यह स्वीकार करना ही ठीक है। असद्भूत व्यवहार से इसे इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि जिस समय क्रोध कषाय कर्म का उदय है उसी समय क्रोधरूप परिणाम होता है। इन दोनों में समव्याप्ति

है। प्रमेयरत्नमाला के उद्धरण (३–६३) का भी यही अर्थ है, क्योंकि उपादान के अनुसार होने वाले कार्य के साथ प्रायोगिक या विस्रसा किसी भी प्रकार के निमित्तों की समव्याप्ति है। अतः समीक्षक ने जो प्रेरक निमित्त मानकर उसका उदासीन निमित्त से भिन्न लक्षण करने की चेष्टा की है वह यथार्थ नहीं है।

समीक्षक ने जो प्रेरक निमित्तों के विषय में रेल के इंजन व डिब्बों का उदाहरण उपस्थित किया है, सो उस उदाहरण से यही निश्चित होता है कि समय भेद के बिना, दोनों में एक ही साथ गति उत्पन्न होती है या दोनों ही एक साथ ही रुक जाते हैं। यह विवक्षा की बात है कि हम इंजन को प्रेरक कारण मानकर यह लिखें या कहें कि इंजन के चलने पर डिब्बों में गति उत्पन्न होती है। वस्तुतः यहाँ प्रायोगिक कारण ड्राइवर है। उसके विकल्प और योगरूप क्रिया के काल में ही इंजन व डिब्बों दोनों में गति उत्पन्न होती हुई देखी जाती है। इंजन से जुड़े हुए डिब्बे उस समय इंजन के अंग हैं इसलिये ये दो नहीं एक ही हैं। अतः प्रकृत में रेलगाड़ी समर्थ उपादान है, उसमें गति का विकल्प और योग क्रिया करता है उसी समय रेलगाड़ी भी चलने लगती है। इसी को उपादान की मुख्यता से यह भी कहा जा सकता है कि जिस समय रेलगाड़ी चलती है उसी समय ड्राइवर उसमें प्रायोगिक निमित्त होता है। इन दोनों की क्रिया में कालप्रत्यासत्ति है, इसलिये उपादान या निमित्त किसी की भी मुख्यता से कथन किया जा सकता है, तात्पर्य एक ही है।

(८) **शंका :–** प्रेरक कारण – अनुकूल निमित्तों का सहयोग मिलने पर उपादान की विवक्षित कार्यरूप परिणति होना और जब तक अनुकूल निमित्तों का सहयोग प्राप्त न हो तब तक उसकी (उपादान की) विवक्षित कार्यरूप परिणति न हो सकना — यह निमित्तों के साथ कार्य की अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं। स. पृ १३।

समाधान :– आगम में कार्य-कारणभाव के मध्य कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की गई है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिस काल में उपादान है उससे होने वाले कार्य के समय ही निमित्त है। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि जिस समय जिस कार्य का निमित्त है उसी समय वह अपने उपादान का कार्य है। इसलिये यह आगम से कहाँ सिद्ध होता है कि उपादान के रहते हुए भी जब तक उसके अनुकूल (प्रेरक) निमित्त नहीं मिलते तब तक उससे विवक्षित कार्य नहीं होता।

ऐसा मालूम पड़ता है कि यहाँ समीक्षक ने आगमोक्त निश्चित उपादान को स्वीकार न करके यह लिखा है, किन्तु उसका यह कहना तभी संगत माना जा सकता था जब आगम में प्रत्येक कार्य के प्रति समर्थ उपादान की स्वतन्त्र व्यवस्था न की गई होती। समीक्षक को यह समझना चाहिये कि प्रत्येक कार्य को उत्पन्न करनेवाला समर्थ उपादान ही कार्यकारी माना गया है, केवल द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत उपादान नहीं। इसलिये चाहे प्रेरक (प्रायोगिक) निमित्त हो या उदासीन (विस्रसा) निमित्त हो: जब समर्थ उपादान कार्य के सन्मुख हो तभी दोनों की उपयोगिता मानी गई है।

(६) शंका :- इतना स्पष्ट है कि दोनों ही पक्ष उपादान की कार्यरूप परिणति के अवसर पर दोनों निमित्तों की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं। इतनी समानता पायी जाने पर भी दोनों पक्ष के मध्य जो मतभेद है वह यह कि उत्तरपक्ष उन्हें वहां सर्वथा अकिंचित्कर मानता है जब कि पूर्वपक्ष उन्हें वहां कार्योपत्ति में उपादान के सहायक होने रूप से कार्यकारी मानता है। स. पृ. १४।

समाधान :- इस वक्तव्य में मुख्यतया "सर्वथा" पद ही विवाद का विषय है। इसे समीक्षक का हमारे ऊपर आरोप कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि उत्तरपक्ष कार्य के प्रति निमित्तमात्र को असद्भूत व्यवहारनय से स्वीकार करता है। इसलिए उसका (उत्तरपक्ष का) कहना है कि जब वह कार्य के प्रति असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त माना गया है तो उसे निमित्त को कार्य के प्रति असद्भूत व्यवहारनय से ही सहायक मानना चाहिये। किन्तु समीक्षक इसे मानने के लिए तैयार नहीं है। वह कार्य के प्रति निमित्त को व्यवहारनय से कारण मानकर भी भूतार्थ रूप से उसको सहायक मानता है। हमने कार्य-कारण भाव में निमित्त को लक्ष्य कर उसे सर्वथा अकिंचित्कर कहीं भी नहीं लिखा। अपनी गलत मान्यता को छिपाने के लिये समीक्षक का हमारे ऊपर यह मात्र मिथ्या आरोप है।

उसके कथन में एक भूल तो यह है कि वह असद्भूत व्यवहारनय के स्थान में मात्र व्यवहारनय का प्रयोग करता है और इस प्रकार वह पाठकों को भ्रम में डाले रखना चाहता है।

दूसरी भूल यह है कि जबकि आगम में निमित्त को असद्भूत व्यवहारनय से अर्थात् उपचार से सहायक माना गया है, ऐसी अवस्था में वह उसे भूतार्थरूप से सहायक मानता है। इसे आगम का अपलाप न कहा जाय तो और क्या कहा जाय?

(१०) शंका :- कथन ३० में समीक्षक का कहना है कि कुम्भकार घटोत्पत्ति में स्वरूप से कारण या कर्ता नहीं है व घट स्वरूप से कुम्भकार का कार्य नहीं है। यह अवश्य है कि कुम्भकार में घटोत्पत्ति के प्रति सहायक होने रूप से योग्यता का सद्भाव है और घट में कुम्भकार की सहायकता में उत्पन्न होने की योग्यता का सद्भाव है?

समाधान :- यहां सवाल यह है कि कुम्भकार में घट की उत्पत्ति में सहायक होने की योग्यता और घट में कुम्भकार की सहायता में उत्पन्न होने की योग्यता स्वरूप से है या इन दोनों में दोनों योग्यतायें असद्भूत व्यवहारनय से कल्पित की गई हैं या कही गई हैं। स्वरूप से हैं यह तो समीक्षक को स्वयं स्वीकार नहीं है। यदि कल्पित की जाती है या कही जाती है तो यहां समीक्षक को यह स्पष्ट कर देना आवश्यक था कि इसप्रकार की ये दोनों में दोनों प्रकार की योग्यतायें असद्भूत व्यवहारनय से कल्पित करली जाती हैं या कही जाती हैं। यह एक उदाहरण है, निमित्त कथन की दृष्टि से सर्वत्र ही इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

(११) शंका :- कार्य की निष्पत्ति उपादान में ही हुआ करती है?

समाधान :- कार्य की निष्पत्ति उपादान में ही होती है यह कहना अधिकरण कारकपने की अपेक्षा यथार्थ है, किन्तु कर्त्ता कारक की दृष्टि से उपादान ही कार्य को उत्पन्न करता है ऐसा

समीक्षक स्वीकार नहीं करता, इसका हमें आश्चर्य है। समीक्षक 'य:परिणमति' का सर्वत्र प्राय: यही अर्थ करता आ रहा है इसलिये यह विचारणीय हो जाता है। दूसरे समीक्षक ने यहीं पर अपने उक्त कथन को जो द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय लिखा है तो यह कथन सद्भूत व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि उक्त कथन में आधार-आधेय भाव की विवक्षा होने से वह द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय कैसे हो गया – यह वही जाने।

(१२) शंका :– समीक्षक का कहना है कि वाह्याभ्यंतर सामग्री के रहने पर यदि प्रतिवन्धक कारण का सद्भाव हो तो कार्य नहीं होता ?

समाधान :–आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि वाह्य-आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में कार्य होता है, यह वस्तुगत स्वभाव है। ऐसी अवस्था में यह समीक्षक वतलावे कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति के प्रतिकूल यदि प्रतिवन्धक सामग्री का सद्भाव है तो वहां किसी भी कार्य के होने में वाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता कैसे मानी जाय ? अर्थात् नहीं मानी जा सकती है।

दूसरी वात यह है कि जिसे समीक्षक प्रतिवन्धक कारण कहता है तो यहां देखना यह है कि प्रतिवन्धक कारण क्या द्रव्य को सर्वथा अपरिणामी वना देता है या उसके अभाव में जिस कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये थी वह न होकर दूसरे कार्य की उत्पत्ति में वह निमित्त हो जाता है। यदि समीक्षक कहे कि उस प्रतिवन्धक कारण के अभाव में जिस कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये थी उसकी उत्पत्ति न होकर जिस कार्य का वह प्रतिवन्धक नहीं है उस कार्य की उत्पत्ति होने लगती है तो इसका यह अर्थ हुआ कि समीक्षक उस समय किसी अन्य कार्य की कल्पना कर उसे उस कार्य का प्रतिबन्धक कह रहा है। वस्तुत: उस समय उपादान के परिणमनरूप या परिस्पंदरूप कार्य का वह प्रतिवन्धक न होकर उसके होने में अन्य निमित्तों के समान वह भी एक निमित्तमात्र है।

(१३) शंका :–कथन ३१(ग) के अनुसार समीक्षक उपादान कारणभूत वस्तु को द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय मानता है सो उसका ऐसा मानना समीचीन है क्या ?

समाधान :–आगम में सर्वत्र उपादान-उपादेय भाव का निर्देश करते हुए अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य को उपादान और अव्यवहित उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य को उपादेय कहा गया है। इसलिये समीक्षक ने उपादान को जो द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय लिखा है सो उसकी वह मान्यता एकान्तवाद से दूषित हो जाने के कारण आगम में उसे मान्य नहीं किया जा सकता दूसरे द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय तो अभेद विवक्षा में सम्यग्दर्शन या रत्नत्रय परिणत स्वभावभूत आत्मा ही होता है, न कि उपादान कारणभूत वस्तु; किन्तु वस्तु तो विभाव पर्याय से परिणत होकर भी उपादान कारण होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर वह अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य ही उपादान ठहरता है, जिसे आगम में प्रमाण का विषय स्वीकार किया गया है। (देखो अष्टसहस्री कारिका १० की अष्टसहस्री टीका के टिप्पण।)

इसप्रकार हम देखते है कि समीक्षक द्वारा लिखी गई खानिया तत्वचर्चा की समीक्षा अनेक आगम वाह्य विवेचन का कलेवर है। इत्यलं विस्तरेण।

मूल शंका २ की सामान्य समीक्षा का समाधान

मूल शंका २ : — जीवित शरीर की क्रिया से धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

समाधान :— इस शंका को उपस्थित करने में शंकाकार का क्या अभिप्राय रहा है यह उत्तर पक्ष कैसे जानता ? शंका में "जीवित" शब्द शरीर का विशेषण है। यही उत्तर पक्ष ने समझा था, इसलिये इसी आधार पर उसने उत्तर दिया था, जो युक्तियुक्त होने से शंकाकार पक्ष को या समीक्षक को मान्य कर लेना चाहिये था।

अब जो उसने लिखा है उसके अनुसार हम उससे आत्मा में धर्म-अधर्म का निषेध नहीं करते हैं, क्योंकि शरीर आत्मा के धर्म और अधर्म में असद्भूत व्यवहारनय से ही निमित्त है, बाह्य निमित्त होकर वह परमार्थ से सहयोग नहीं करता। वह सहयोग नहीं करता है — यह कहना भी उपचरित ही है, जो प्रयोजन विशेष से कहा जाता है।

हमारे सामने कोई विचारणीय प्रश्न नहीं, क्योंकि आत्मा में धर्म और अधर्म की उत्पत्ति का आधार भी स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि जिसमें जो उत्पन्न होता है परमार्थ से वही उसका आधार होता है। शरीर को उसका आधार कहना यह उपचार मात्र ही है।

जीव जो पुरुषार्थ करता है वह जीव की ही परिणति विशेष है। शरीर उसमें उपचार से निमित्त मात्र है। कोई किसी को परमार्थ से सहयोग नहीं करता। सब अपनी-अपनी परिणति में मग्न हैं। आगे स. पृ. १९१ के प्रारम्भ में उसने जो कुछ लिखा उसका भी यही उत्तर है।

(१) क्रमांक के अन्तर्गत, जो कुछ लिखा है उसका उत्तर यह है कि धर्म आत्मा का रत्नत्रय-रूप परिणाम है और अधर्म मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम है। इनके होने में जहां जिसकी संभावना बनती है वहां उसमें शरीर उपचार से निमित्त है। आगे क्रमांक के अनुसार समाधान इस प्रकार है—

(२) द्रव्य मन, वचन और काय ये तीनों जीव के सक्रिय होने में निमित्त हैं। जीव में धर्म और अधर्म की व्याख्या उसके परिणामों के अनुसार बनती है। आत्मलक्षी परिणाम धर्म भाव का कारण है और परलक्षी परिणाम इसके विपरीत भाव का कारण है। ऐसी सीधी व्याख्या करना ही श्रेयस्कर है।

(३) संसार शरीर और भोगों के प्रति जो मन, वचन और काय को निमित्त कर उपयोग परिणाम होता है उसी का नाम अशुभोपयोग है। संसार के प्रयोजन को गौणकर सम्यक् देवादि के प्रति या व्रतादि के प्रति जो उक्त प्रकार से उपयोग परिणाम होता है उसी का नाम शुभोपयोग है। धर्म भाव इससे सर्वथा भिन्न है। वह मुक्ति स्वरूप है और क्रम से पूर्ण मुक्ति का कारण है।

(४) इनमें शुभ और अशुभ परिणति तथा शुभोपयोग अशुभोपयोग बन्ध के कारण या स्वयं ही बन्ध स्वरूप हैं। तथा स्वभाव परिणति और शुद्धोपयोग मोक्ष के कारण हैं या स्वयं मुक्ति स्वरूप हैं।

भाववती शक्ति और क्रियावती शक्ति का परिणमन यथासंभव धर्म और अधर्म होने में अन्तरंग और वहिरंग निमित्त हैं । इसलिये उनके आधार से हमने प्रकृत में उहापोह करना प्रयोजनीय नहीं समझा । यहां तो यह देखना है कि धर्म क्या है और अर्धम क्या है ?

आगे समीक्षक ने पृ. १६२ में "यहां पर यह ज्ञातव्य" के अन्तर्गत जो कुछ लिखा है वह उसकी मान्यता है, वह आगम नहीं । तथा प्रकृत में प्रयोजनीय नहीं होने से यहां हम उस विषय में नहीं लिख रहे हैं । समीक्षक मूल शंका को ध्यान में रखकर लिखता तो प्रकृत में उपयोगी होता ।

मूल शंका २ के पहले दौर की समीक्षा का समाधान

सीधा प्रश्न यह है कि "जीवित शरीर के क्रिया से धर्म, अधर्म होता है या नहीं ? इसमें "जीवित" शब्द शरीर का विशेषण है । जब कोई प्राणी मरण के सम्मुख होता है तो देखने वाले पूछते है कि यह प्राणी जीवित है कि मर गया ? इससे हम जानते हैं कि "जीवित" यह विशेषण जीते हुए प्राणी के लिए लगाया जाता है, न कि शरीर के लिये । किन्तु समीक्षक इस विशेषण को शरीर के साथ लगाकर उससे धर्म या अधर्म होता है या नहीं – यह पूछता है । इसलिये यदि हमने उसकी शंका के अनुसार उत्तर दिया तो फिर आश्चर्य है कि वह यह लिखने का साहस कैसे कर रहा है कि "उत्तर प्रश्न के आशय के प्रतिकूल और निरर्थक है।" यह तो उसे शंका उपस्थित करते हुए सोचना चाहिये था कि हम उत्तर पक्ष के सामने इस भाषा में शंका उपस्थित करें जिससे उत्तर पक्ष द्वारा हमारे आशय के अनुरूप हमें समाधान मिल जाय । समीक्षक ने जिस भाषा में शंका की थी, समाधान भी उसी को ध्यान में रखकर किया गया था । अब व्यर्थ के विकल्प से कोई लाभ नहीं । समाधान आगम सम्मत है –

शंकाकार शरीर की क्रिया को जीव की क्रिया मान लेना चाहता है सो इस संबंध में हमने जो नाटक समयसार पद्य १२१–१२३ समयसार कलश २४२ और परमात्मप्रकाश पद्य २–१६३, प्रमाण उपस्थित किये हैं उनसे तो अज्ञानी के उसी विकल्प का सूचन होता है जिसे शंकाकार पक्ष जीवित शरीर की क्रिया कहता है । इसलिये हमने अपने समाधान में जिन प्रमाणों को उपस्थित किया है, समाधान के अनुरूप हैं । किन्तु शंकाकार पक्ष हमारे सप्रमाण समाधानों पर से जो आशय फलित करता है, वह फलित नहीं होता । और न हमारा समाधान आगम से विपरीत ही है । शंकाकारपक्ष की ही उक्त शंका आगम के विपरीत अवश्य ही है । इतने बड़े विद्वानों के द्वारा उपस्थित की गई ऐसी शंका अवश्य ही हंसी और मनोरंजन का साधन वनी हुई है ।

शंकाकारपक्ष जिसे जीवित शरीर की क्रिया कहता है वह अजीव तत्व में अन्तर्भूत होती है, क्योंकि शरीर जीवित नहीं होता, जीवित तो जीव होता है । इसलिये न तो वह परमार्थ से धर्म अधर्म का हेतु ही है और न स्वयं धर्म अधर्म ही है । फिर भी जैसे वह पक्ष यह कहने में नहीं हिचकिचाता कि संसारी आत्मा परमार्थ से भोजन नहीं करता तो कौन करता है ? वैसे ही वह पक्ष "जीवित शरीर" कहकर उससे परमार्थ से धर्म और अधर्म मानता हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि वह पक्ष जब जीव को जीवित कहने की अपेक्षा शरीर को ही जीवित कहता है, ऐसी अवस्था में

उसकी यही मान्यता मालूम पड़ती है कि वह पक्ष जीव के शरीर की क्रिया को ही धर्म या अधर्म भी मानता है। उसके इसी आशय को समझकर हमने उक्त समाधान किया है, विशेष क्या सूचित करें।

अन्य कथन का समाधान :— जैसे कर्म का उदय उपशम आदि को जीव के धर्म अधर्म में असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त कहा जाता है वैसे ही जीव के शरीर को भी नोकर्म होने से उसी नय से धर्म अधर्म में निमित्त कहा जाता है। पूरा कर्म शास्त्र और चरणानुयोग शास्त्र इसका साक्षी है। इतने सीधे कथन को सीधे शब्दों में न स्वीकार कर पण्डिताई लगाना कोई प्रयोजन नहीं रखता यहाँ इतना और समझना चाहिये कि हमने यह कथन उपचारनय का आशय लेकर ही स्वीकार किया है, इसलिए इस विषय में समीक्षक का अन्य जितना लिखना है, उसे अपने मत को पुनः-पुनः दुहराते रहने के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता।

मूल शंका २ के दूसरे दौर की समीक्षा का समाधान

(१) प्राणी में यह व्यवहार होता है कि "यह जीवित है", शरीर में नहीं, इसलिए जीवित पद जीव का विशेषण तो बन जाता है परमार्थ से शरीर का नहीं। "जीवित शरीर" ऐसा हमने आज तक सुना नहीं। समीक्षक ही उसकी पुष्टि में लगा हुआ है। हां यह अवश्य कहा जाता है कि "अभी यह भाई मरा नहीं, जीता है।" और जब जीव निकल जाता है तब शरीर को मुर्दा कहा जाता है या मरे हुए का शरीर – यह कहा जाता है।

(२) शरीर में स्थित प्राणी को निमित्त कर यह कहा जाता है कि यह दाँतों से काटता है, हाथों से मारता है, पूजा करता है, मुनि को आहार देता है, यह असद्भूत व्यवहार होता अवश्य है, पर कौन काटता है, कौन मारता है, कौन पूजा करता है, कौन मुनि आहार को देता है, ऐसा पूछा जाय तो कहा जाता है कि इस आदमी ने मारा, काटा, पूजा की, मुनि को आहार दिया, आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस व्यवहार में शरीर गौण हो जाता है। असद्भूत व्यवहारनय से आदमी कर्त्ता बन जाता है। हम जानते हैं कि काटना आदि क्रिया शरीर से हुई है, पर वह जीवित शरीर से नहीं, जीते हुए आदमी के शरीर से हुई।

शंकाकार के विविध कथनों का समाधान : –

(१) यहाँ भाववती शक्ति में शंकाकार ने श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुणों को ग्रहण किया हो तो बात दूसरी है पर भाववती शक्ति और क्रियावती शक्ति स्वतंत्र है, इसीलिये "भाववती शक्ति का विभावरूप परिणमन मिथ्यात्वादि हैं, और स्वभावरूप परिणमन सम्यक्त्वादि हैं" यह लिखना इसलिये आगम विरूद्ध है क्योंकि वह सामान्य कारण है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन आदि रूप श्रद्धादि गुणों का परिणमन है। बाकी शंकाकार पक्ष का लिखना विकथारूप कथन है।

(२) शरीर तो जड़ है उसको नयविवक्षा को गौण कर जीवित कहना हास्यास्पद जान पड़ता है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि एक तो "जीव के सहयोग से होने वाली जीव की क्रिया दूसरी शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया" इन दोनों ही कथनों का समीक्षक द्वारा लिखा

जाना बड़ा विचित्र लगता है। कदाचित् इसमें से प्रथम विकल्प को जीवित शरीर की क्रिया वह पक्ष कैसे कह रहा है — यह समझ के बाहर की बात है। हां यदि दूसरे विकल्प को मानने वाले व्यक्ति को समीक्षक अप्रतिबुद्ध स्वीकार करता है तो उसका ऐसा मानना ठीक ही है, फिर भी हमें इस बात का आश्चर्य होता है कि ऐसा जानते हुए भी उसने इस मूल शंका को उपस्थित ही कैसे किया ? यदि हमसे पूछा जाय तो हम तो इतना ही कहेंगे कि धर्म या अधर्म का कर्त्ता तो स्वयं जीव ही है, शरीर की क्रिया उसमें निमित्त मात्र है। यदि किसी भी प्रकार के निमित्त में धर्म या अधर्म के कर्तृत्व का आरोप करके ऐसा मान भी लिया जाय तो भी शरीर को जीवित कहना केवल अपने घर की मान्यता ही कही जायेगी।

(३) इस क्रमांक के अन्तर्गत समीक्षक ने जो कुछ लिखा है वह केवल उसने शरीर को जो जीवित विशेषण लगाया है, उसकी पुष्टि मात्र है, अन्य कुछ नहीं। पंचमहाव्रत आदि का पालन जीव ही करता है, शरीर नहीं। शरीर तो निमित्तमात्र है। असद्भूत व्यवहार से शरीर के आधार से जीव के रहने पर भी शरीर तो जड़ ही बना रहता है, इसलिए धर्म अधर्म जीव का ही परिणाम है, वही उसका परमार्थ से कर्ता है, शरीर नहीं। उसको यदि निमित्तपने की अपेक्षा कथन की बात करना भी थी तो उसे शरीर के निमित्त से जीव धर्म अधर्म करता है या नहीं, इस रूप में शंका रखना चाहिये थी। उस पक्ष में इस चर्चा के प्रतिनिधि तब चोटी के विद्वान थे। उनसे यह प्रमाद कैसे हो गया, इसका हमें ही क्या, सबको आश्चर्य होता है।

यह ठीक है कि जीव का मतिज्ञान रूप उपयोग इन्द्रियों के निमित्त से होता है, किन्तु इतने मात्र से बाह्य उपकरणों को जीवित तो नहीं कहा जा सकता।

वह पक्ष "सहारे" की धुन यदि नहीं छोड़ता है तो वही बताये कि चारित्र मोह कर्म के उदय से जब राग भाव होता है तो चारित्र मोह का उदय किसके सहारे से होता है। उपशम, क्षय, क्षयोपशम के विषय में भी यही पृच्छा की जा सकती है। यदि वह कहे कि उक्त कर्म का उदय तो स्वयं होता है तो उसी समय वह पक्ष राग भाव को स्वयं होता हुआ क्यों नहीं मान लेता, क्योंकि उक्त कर्म का उदय तो निमित्त मात्र है। यदि कहो कि उक्त कर्म के उदय में काल निमित्त है तो उक्त राग की उत्पत्ति में काल को निमित्त क्यों नहीं मान लेता ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं ही उत्पाद-व्ययरूप परिणमती है। कोई किसी को परिणमाता नहीं। इस निमित्त से यह कार्य हुआ यह कथन उपचार मात्र है। केवल प्रयोजन विशेष से ऐसा उपचार किया जाता है।

(४) हमारा पक्ष शरीर आदि पर द्रव्यों और उनकी पर्यायों के असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा निमित्त से तो धर्म या अधर्म मानता है, जीवित शरीर से नहीं, क्योंकि शरीर जीवित होता ही नहीं तो उससे धर्म या अधर्म होता है या नहीं — ऐसा लिखना मात्र प्रमाद को ही सूचित करता है। चूंकि उस पक्ष द्वारा एक बार प्रमाद हो गया तो उसका बार-बार पोषण तो नहीं करना चाहिये, इसी में मोक्ष मार्ग की प्रतिष्ठा है।

(५) यहां स्वयंभू स्तोत्र का हमने उद्धरण देकर जो अर्थ लिखा है उसे समीक्षक ने कुछ बदल कर मान लिया है। वह मानता है कि कार्य में जो निमित्त होता है उसके सहारे से अन्य द्रव्य का कार्य होता है, इस पर हम पूछते हैं कि "सहारा" क्या वस्तु है ? यदि उसे निमित्त का धर्म माना जाय तो वह निमित्त में ही रहा। उससे जिस वस्तु में कार्य हुआ उसको क्या लाभ मिला, अर्थात् कुछ भी नहीं। तो फिर निमित्त के सहारे से कार्य होता है – ऐसा क्यों कहते हो ? यदि कहो कि जिसमें कार्य होता है वह उसका धर्म है तो हम पूछते हैं कि उसे किसने पैदा किया ? यदि कहो कि निमित्त ने पैदा किया तो फिर वह निमित्त का धर्म ठहरा। ऐसी अवस्था में जिसमें कार्य हुआ उसमें संक्रमण कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता है। यदि कहो कि निमित्त के सहारे से कार्य हुआ यह कथन मात्र है, तब फिर यही क्यों नहीं मान लेते कि काल प्रत्यासत्ति वश विवक्षित कार्य के समय अन्य वस्तु में निमित्त व्यवहार होता है। परमार्थ से अन्य वस्तु अन्य के कार्य का निमित्त नहीं होती। इस प्रकार विचार करने पर यही निर्णय होता है कि स्वयंभू स्तोत्र के उक्त उल्लेख का हमने जो अर्थ किया है वही उपयुक्त है। उससे हमारे इस अभिप्राय की ही पुष्टि होती है कि जीवित विशेषण जीव के लिए ही आता है, शरीर के लिए नहीं।

स. पृ. २०२ में "अंग" शब्द को लेकर समीक्षक ने जो टिप्पणी की है उसके अनुसार बाह्य निमित्त कार्य-द्रव्य का कोई उपकार तो नहीं करता, मात्र ऐसा असद्भूत व्यवहारनय से कहा अवश्य जाता है। और फिर उसके भी "अंग" शब्द का अर्थ स. पृ. २०० में "गौण" किया ही है। इसलिए प्रकृत में उक्त श्लोक से जो अर्थ फलित होता है, वही अर्थ हमने किया भी है।

(६) त. च. पृ. ७८ में हमारे उल्लेख के आधार पर समीक्षक ने (क) के अन्तर्गत जो आत्म पुरुषार्थ का उल्लेख किया है, वह ठीक है। हमने स्वयं भूस्तोत्र पृ. ६० का जो अर्थ किया है वह भी ठीक है। इसी अनुच्छेद में उसने दूसरी बात लिखी है सो उस सम्बन्ध में प्रकृत में यह समझना चाहिये कि मोक्षमार्गी के जो स्वभाव पर्याय उत्पन्न होती है वह उसके आत्मलक्षी होने से ही होती है। यहां निमित्त गौण है।

(ख) कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त मिलते ही नहीं हैं या प्रतिकूल निमित्त मिलते है यही लिखना उस पक्ष का प्रमाद है। आचार्यो ने जब कार्योत्पत्ति के समय बाह्य और आभ्यंतर उपाधि की समग्रता में कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की है तब कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त मिलते ही नहीं हैं या प्रतिकूल निमित्त मिलते हैं, यह प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। समीक्षक को आगम से ऐसा उदाहरण देना चाहिये कि कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त नहीं मिलते या प्रतिकूल निमित्त मिलते हैं। व्यर्थ में ऐसा लिखकर आगम को क्यों बदलना चाहता है, इसे हम उसकी जिनागम की उपासना नहीं कह सकते।

(ग) आगे उसने जो यह लिखा है कि "परन्तु कार्योत्पत्ति जीव और अजीव दोनों में होती है, इसलिए जीव के लिए अपने उपादान की सम्हाल का क्या प्रयोजन रह जाता है" आदि। सो इसका यही उत्तर है कि कार्य एक में होता है, जीव और अजीव दो में मिलकर नहीं। इसलिए

प्रत्येक कार्य योग्य काल में होकर भी वह जीव के गौण मुख्यरूप तदनुकूल योग्य पुरुपार्थ पूर्वक ही होता है। यदि अबुद्धि पूर्वक कार्य होता है तो पुरुषार्थ की गौणरूपता कही जाती है। आचार्य समन्तभद्र के "बुद्धिपूर्वापेक्षायां" इत्यादि वचन से यही फलित होता है। कहीं दैव की मुख्यता है और कहीं पुरुषार्थ की। इससे कार्य के होने में कालप्रत्यासत्ति का अभाव नहीं हो जाता।

(घ) कार्यकाल में निमित्त कार्य का काम नहीं करता, इसलिये तो वह अकिंचित्कर है, क्योंकि निमित्त का सद्भाव माना भी गया है असद्भूत व्यवहारनय से ही। निमित्त को कार्य के अनुकूल भी इसी नय से कहा जाता है। जिसे हम कार्य का निमित्त कहते हैं, वह उस समय अपना कार्य अवश्य करता है, इस अपेक्षा से वह किंचित्कर भी है।

(च) प्रश्नोत्तर १ में जिन प्रमाणों से समीक्षक ने यह सिद्ध किया है कि "कार्य के प्रति सन्मुखता प्रेरक निमित्त के बल से ही होती है" वहीं हम (उत्तरपक्ष) यह भी सिद्ध कर आये हैं कि प्रेरक निमित्त कहना यह कथन मात्र अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है। वैसे देखा जाय तो पर के कार्य के प्रति सभी निमित्त उदासीन ही होते हैं। कार्य समर्थ उपादान से होता है यह जहाँ सद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है वहां वह आवश्यक बाह्य निमित्त से होता है यह असद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है। वैसे देखा जाय तो सब कार्य अपने काल में स्वयं होते हैं, यह परमार्थ है।

(छ) हम जो यह लिख आये हैं कि "इस जीव का अनादि काल से पर द्रव्य के साथ संयोग बना चला आ रहा है, इसलिये वह संयोग काल में होनेवाले कार्यों को जब जिस पदार्थ का संयोग होता है अज्ञानवश उससे मानता चला आ रहा है। यही उसकी मिथ्या मान्यता है" वह यथार्थ लिखा है, क्योंकि अज्ञान इसी का नाम है। सर्वार्थसिद्धि अ. १ सूत्र ३२ की टीका में जो कारण-विपर्यय का उल्लेख किया है वह उक्त मिथ्या मान्यता को ध्यान में रखकर ही लिखा है।

(ज) हमने अपने वक्तव्य के अन्त में जो यह लिखा है कि "प्रत्येक प्राणी को अपने परिणामों के अनुसार ही परमार्थ से पुण्य, पाप और धर्म होता है, शरीर की क्रिया के अनुसार नहीं यही निर्णय करना चाहिये और ऐसा मानना ही जिनागम के अनुसार है" सो यह हमने ठीक ही लिखा है। तत्वार्थसूत्र अ. ६ सूत्र ३ की सर्वार्थसिद्धि टीका में योग की चर्चा करते हुए लिखा है कि—

"शुभपरिणाम निर्वृत्तः योगः शुभयोगः अशुभपरिणाम निर्वृत्तः योगः अशुभयोगः"

अर्थात् शुभ परिणाम से जिस योग की स्थिति बनती है वह शुभ योग कहलाता है तथा अशुभ परिणाम से जिस योग की स्थिति बनती है वह अशुभ योग कहलाता है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह की शरीर की क्रिया में संसारी आत्मा की जिस प्रकार की परिणति निमित्त है शरीर की उसी क्रिया को शुभ-अशुभ भाव और धर्म में निमित्त कहा जाता है, फिर भी कोई शरीर जीवित नहीं होता। इसलिये जीवित शरीर मानकर उसकी क्रिया से शुभ अशुभ भाव

और धर्म होता है, उस पक्ष का यह कहना मिथ्या ही है। इस शंका का हम हमारे प्रथम, द्वितीय और तृतीय दौर में विविध प्रमाण देकर गहराई से विचार कर आये हैं। इसलिए इस विषय पर पुनः पुनः लिखना पिष्टपेषण मात्र है। जिज्ञासुओं को इस समाधान के साथ उन दौरों को विशेष रूप से पढ़ना चाहिये।

प्रेरक नाम का कोई निमित्त है ही नहीं। प्रेरक निमित्त कहना मात्र असद्भूत व्यवहार ही है। इसी अपेक्षा से आगम में कहीं-कहीं इसका कथन दृष्टिगोचर होता है। विचार करके देखा जाय तो किसी प्रकार का भी निमित्त क्यों न हो, अन्य द्रव्य के कार्य के प्रति वह उदासीन ही होता है, क्योंकि जिस समय कोई भी द्रव्य अपने उत्पाद-व्ययरूप स्वभाव के अनुसार कार्यरूप परिणमता है उसी समय जिसे इस कार्य का निमित्त कहा जाता है वह भी अपने उत्पाद-व्ययरूप द्रव्य स्वभाव के अनुसार अपने कार्यरूप परिणमता है, किसी को परमार्थ से सहायता करने का अवसर ही नहीं मिलता है। मात्र इन दोनों में कालप्रत्यासत्ति होने से एक को अपने कार्यरूप परिणमन को गौणकर दूसरे के कार्य का निमित्त कहा जाता है। उपचारनय से यह अनादि कालीन व्यवस्था है जो अकाट्य है, और वह कालप्रत्यासत्ति या बाह्य व्यक्ति के आधार पर आगम में स्वीकार की गई है।

मूल शंका २ के तीसरे दौर की समीक्षा का समाधान

इस दौर में जीवित शरीर पद को स्वीकार कर उसी आधार पर धर्म अधर्म होना लिखा है। तदनुसार आगे इसी बात को ध्यान में रखकर समीक्षा का समाधान किया जाता है।

समीक्षक ने १, २, ३ क्रमांक के अन्तर्गत हमारे वक्तव्य को उद्धृत कर अन्त में स. पृ. २०५ में जो यह लिखा है कि "उत्तरपक्ष प्रकृत प्रश्नोत्तर की सामान्य समीक्षा के प्रथम और द्वितीय दोनों दौरों की समीक्षा के कथनों पर ध्यान देता तो उसे अपनी प्रकृत विषय सम्बन्धी भूल का पता हो जाता।

सो इसका समाधान यह है कि चाहे जीते हुए जीव का शरीर हो और चाहे जीव के निकलने के बाद का शरीर हो — दोनों ही शरीर हैं और दोनों ही जड़ हैं। निमित्तपने की दृष्टि से पर के कार्य में दोनों ही बाह्य निमित्त होते हैं, अतः यह आपत्ति योग्य नहीं है। परमार्थ से आपत्ति-योग्य तो शरीर को जीवित विशेषण लगाना है। वह यह प्रमाद स्वीकार करले और उसके बाद असद्भूत व्यवहारनय से शरीर को धर्म अधर्म में निमित्त कहे तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।

कथन १ के सम्बन्ध में खुलासा :—

(क) जीवित विशेषण शरीर के स्वरूप का ख्यापन नहीं करता, अपने भावप्राणों से जीवित तो जीव ही होता है। "जीव के सहयोग से" का अर्थ ही असद्भूत व्यवहारनय से जीव के निमित्त से होता है। इसलिये जीव के निमित्त से जब समीक्षक शरीर को ही स्वरूप से जीवित मान सकता है तो उसे सीधे शरीर की क्रिया को ही स्वरूप से धर्म अधर्म मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये; अर्थात् कुछ भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

यदि वह कहे कि जैसे दण्ड के निमित्त से मनुष्य दण्डी कहलाता है वैसे ही यहां जीव के निमित्त से शरीर को जीवित कहा गया है। सो उसका यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जैसे दण्ड के निमित्त से मनुष्य दण्डी या दण्डवाला कहा जाता है वैसे ही जीव के निमित्त से शरीर को जीववाला शरीर कहा जायगा, न कि जीवित शरीर। अन्यथा जीव और शरीर में अभेद का प्रसंग प्राप्त होता है।

(ख) हमने शंकाकार पक्ष की प्रतिशंका २ और ३ के विवेचनों पर ध्यान दिया था और वहीं उनका समाधान भी कर आये थे। यहाँ उस आधार पर जो समीक्षक यह लिखता है कि "जिसे उत्तर पक्ष जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रियारूप जीवित शरीर की क्रिया को पुद्गल द्रव्य की पर्याय मानकर उसे अजीव तत्व में अन्तर्भूत करके और उससे आत्मा में धर्म अधर्म मानने के विषय में कुछ भी आपत्ति नहीं है। मैंने अपनी प्रकृत विषय सम्बन्धी समीक्षा में भी इस बात को स्पष्ट कर दिया हैं।" सो समीक्षक यदि इस वक्तव्य को उत्तर पक्ष के प्रथम दौर के बाद लिखी गई प्रति शंका २ में ही स्वीकार कर लेता तो आगे यह विषय विवाद का विषय ही नहीं बनता, अस्तु जब समीक्षक ने उत्तर पक्ष के कथन को स्वीकार किया तभी पूर्व में सूर्य का ऊगना कहा जायगा।

किन्तु यहीं पर "परन्तु" लिखकर जो अपनी अन्य मान्यता का हवाला देकर उसने शरीर के निमित्त से होनेवाली जीव की क्रिया को यद्यपि वह जीवित शरीर की क्रिया नहीं है "फिर भी उसका ऐसा कहना तो उत्तरोत्तर असत्य कहने की परम्परा का ही सूचक है। इससे इष्टार्थ फलित करना संभव प्रतीत नहीं होता। इसकी अपेक्षा समीक्षा लिखते समय उसके सामने इतना लिखा होता कि "शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म अधर्म होता है या नहीं" तो उसे इतना द्राविड़ी प्राणायाम न करना पड़ता।

(ग) बाह्य पदार्थ अगणित होते हैं और असद्भूत व्यवहारनय से जब वे विवक्षित द्रव्य के कार्यकाल में निमित्त कहे जाते हैं – ऐसी अवस्था में उसे मूल शंका की जिन मनमानी व्याख्या उपस्थित करके अपने मन की खीझ मिटानी पड़ रही है वह स्थिति उत्पन्न न होती यदि वह शरीर को "जीवित" विशेषण लगाने का समर्थन न करता। सीधी सी बात तो यह है कि वह इस प्रमाद को स्वीकार करले कि हम शरीर को "जीवित" विशेषण लगाने का मर्थन कर रहे हैं तो ठीक नहीं कर रहे हैं। अतः उसके द्वारा उक्त मूल शंका की उत्तरोत्तर नाना व्याख्यायें उपस्थित करने से कोई लाभ नहीं।

(घ) प्रश्न विषयक प्रथम और द्वितीय दौर में उसकी शंका प्रतिशंकायें हैं, समीक्षा नहीं। इस दौर को वह भले ही समीक्षा कहे और लिखे, पर है वह प्रतिशंका ही। शेष सब व्याख्यायें इस समाधान में हम पहले ही स्पष्ट कर आये हैं कि शरीर की क्रिया आत्मा के भावों में निमित्त है, इसलिये इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक रूप से कार्यकारण भाव घटित हो जाता है। वह उपचरित कथन ही – इतना यहाँ विशेष जानना चाहिये।

(ङ) इसके अन्तर्गत आये हुए उसके कथन का समाधान (ग) के अन्तर्गत किये गये समाधान से हो जाता है।

(च) शरीर या कोई भी परद्रव्य आत्मा के शुभ अशुभ भावों के होने में निमित्त है। शरीर जीवित नहीं होता, इसलिए अपने कथन की पुष्टि के लिये द्राविड़ी प्राणायाम करना व्यर्थ है।

(छ) हम क्या मानते हैं, आगम के आधार पर यह हम सब स्पष्ट करते आये हैं। मूल बात यह है कि शरीर को "जीवित" कहना परमार्थ से बनता नहीं। इस सम्बन्ध में उसको अपना मत बदल लेना चाहिये। बाकी सब कथन यथासम्भव बन जायगा। जहाँ थोड़ा बहुत सुधार अपेक्षित है उसे आगम के अनुसार जान लेना चाहिये, अपनी व्याख्या के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये। यह जंगल में अकेले फाग खेलना है। हमने उपादान-उपादेय भाव से एक शब्द भी नहीं लिखा। व्यर्थ ही वह पक्ष हम पर आरोप करके अपना बचाव करना चाहता है। मूल शंका उपादान-उपादेय भाव से विवेचन करने की है भी नहीं।

(ज) हमने तत्वार्थ सूत्र के अ० ६ के सूत्र १ व २ पर ध्यान दिया है। यह प्रश्न ही नहीं कि किससे क्या होता है? आगम में स्पष्ट है, सब जानते हैं। जो बात चिन्त्य है, समीक्षक को उस पर ध्यान देना चाहिये। आगम ही हमारी मान्यता है। शरीर को जीवित विशेषण लगाना हमारी मान्यता नहीं है। यह उसकी मान्यता है। समयसार गाथा १६७ का आशय रागादि के योग से जीव का शुभ अशुभ भाव ही होता है। जीव की क्रियावती शक्ति का परिणमन तो आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप ही होता है।

आगे उस पक्ष ने रागादिरूप परिणमन तथा मन, वचन और काय की क्रिया में जो फर्क है उसे स्वयं ही स्वीकार कर लिया है।

मोहनीय कर्म के उपशमादि के साथ जीव के सम्यग्दर्शनादिक की काल प्रत्यासत्ति है, इस लिये उपचार नय से यह कह सकते हैं कि मोहनीय कर्म के उपशमादि से जीव के सम्यग्दर्शनादि होते हैं। निश्चय से तो ये स्वाभावभूत आत्मा की ओर लक्ष्य देने से स्वयं ही होते हैं, पर आश्रय से नहीं क्योंकि वे जीव के स्वभाव भाव हैं। समीक्षक को दोनों नयों के कथनों में भेद करके लिखना चाहिए। आगे (आ) से लेकर (अः) के अन्तर्गत जो कुछ भी लिखा है वहां सर्वत्र पूर्वोक्त विधि से समझ लेना चाहिये, क्योंकि निश्चयनय स्वाश्रित कथन को स्वीकार करता है और असद्भूत व्यवहारनय का विषय पराश्रित कथन है। इसके अतिरिक्त नय विवक्षा को छोड़कर एकान्त से जितना कुछ भी लिखा जाता है वह आगम बाह्य होने से ग्राह्य नहीं माना गया है।

मिथ्या दर्शनादिरूप जितने भी परिणमन हैं वे सब जीव की भावरूप अवस्थायें हैं। उनके रहते हुए अतत्व श्रद्धा आदि कार्य होते हैं। "मस्तिष्क के सहारे" यह आज की भाषा है, आगम के अनुसार चिन्तन का काम मन का है, मस्तिष्क का नहीं। आगे (क) के अन्तर्गत समीक्षक ने जो "व्यवहार मिथ्याज्ञान" लिखकर उसकी व्याख्या की है सो मिथ्याज्ञान तो मिथ्याज्ञान ही है और वह स्वतंत्र

आत्मा का ही कार्य होने से निश्चयस्वरूप है । कोई निश्चय मिथ्याज्ञान हो और कोई व्यवहार मिथ्याज्ञान हो — ऐसा नहीं है । इतना अवश्य है जब कुदेवादि के ज्ञान को सुदेवादि का ज्ञान कहा जाता है या मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्याज्ञान होता है, ऐसा कहा जाता है तव वह पर सापेक्ष कथन होने से व्यवहार मिथ्याज्ञान कहा जाता है अथवा वह स्वभावभूत आत्मा के आलम्बन से नहीं उत्पन्न हुआ है, पर के आलम्बन से उत्पन्न हुआ है फिर भी उसे आत्मा का कहना यह लोक व्यवहार है । किन्तु यहां सव विषय प्रयोजनीय नहीं है । यहां तो मात्र परमार्थ से शरीर "जीवित" होता है या नहीं और उसे जीवित मानकर उससे धर्म अधर्म होता है या नहीं, इतना मुख्यरूप से विचारणीय विषय है । उस पक्ष की ओर से इसी भाव को लेकर शंका उपस्थित की भी, गई जिसका कि हमने तीनों दौरों में समाधान किया है । प्रकृत से दुनियाँ भर के असंगत विषय लिखकर मालूम पड़ता है कि वह पक्ष सीधी तौर से अपने प्रमाद को नहीं स्वीकार करना चाहता । स० पृ० २०६ में (क) के अन्तर्गत जो उस पक्ष ने मिथ्याज्ञान के परिणमन को मतिष्क के सहारे पर लिखा है, वह उसकी भूल हैं, क्योंकि मिथ्या ज्ञान का परिणमन जीव में एक तो अपने अज्ञान के कारण होता है और दूसरे वह मिथ्यात्व कर्म के उदय को निमित्त कर होता है । जैन आगम में पांच इन्द्रियां और छठा मन माने गये हैं । इनके सिवाय "मस्तिष्क" नाम की कोइ स्वतन्त्र इन्द्रिय नहीं है जिसके सहारे से मिथ्या ज्ञान का परिणमन माना जाय ।

(ख) और (ग) मिथ्या दर्शन भी जीव का परिणमन विशेष है । उसके अस्तित्व में जीव के मन के निमित्त से अन्यथा श्रद्धा अवश्य होती है । स्वरूप से व्यहार मिथ्या ज्ञान न तो व्यवहार मिथ्या दर्शन ही है और न ही व्यवहार मिथ्या चारित्र ही है । इन तीनों को जब पर सापेक्षपने से मानते हैं तब वे अवश्य ही व्यवहार मिथ्या दर्शन, व्यवहार मिथ्या ज्ञान और व्यवहार मिथ्या चारित्र कहलाते हैं ।

(घ) व्यवहार अरुचि क्यों कहलाती है, इस विषय में भी पूर्वोक्त विधि से जान लेना चाहिये । (च) और (छ) का भी यही उत्तर है ।

आगे स. पृ. २१० में उसने जो कुछ लिखा है, वह उसके मन से होने वाले विकल्पों की ही उपज है, इसीलिये मूल शंका से इन सव विचारों का सम्वन्ध न होने से हम उनके संवन्ध में कुछ नहीं लिख रहें हैं ।

कथन नं० २ (स० पृ० २११) का खुलासा :-

इस कथन में समीक्षक ने स. पृ. ८६ के हमारे वचन को उद्धृत कर जो कुछ शंका उपस्थित की है, उसमें व "जिवित शरीर की क्रिया से" जिसे उसने शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रियारूप स्वीकार किया है, उसका यह कथन मूल शंका से बहिर्भूत है, क्योंकि जीव की क्रिया को जीवित शरीर की क्रिया कहना मात्र भ्रामक शब्दों का जाल ही है । यदि उसे जीवित शरीर की क्रिया से यही अर्थ ग्राह्य था तो शंका । में ही इसे स्पष्ट कर दिया गया होता । किन्तु इस खुलासे

को प्रतिशंका २ और प्रतिशंका ३ में भी स्पष्ट नहीं किया। इतना अवश्य है कि जब समीक्षक ने इसे समझा तब जीवित शरीर की क्रिया को पूर्वोक्त विशेषण मानकर स्पष्ट करना चाहा जो कि भ्रामक शब्दों का जाल मात्र है। हम शरीर के सहयोग से (निमित्त से) होनेवाली जीव की क्रिया को जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रिया नहीं मानते हैं, क्योंकि हम तो जीव की परिस्पन्दरूप क्रिया को ही जीवकी मानते हैं और शरीर की क्रिया को शरीर की ही मानते हैं। इन दोनों क्रियाओं के होने में निमित्त कौन है, यह प्रश्न अलग है। ऐसा नहीं है कि एक की क्रिया को परयार्थ से दूसरे की क्रिया कही जाय। अन्य की क्रिया को अन्य की कहना यह यह उहचार मात्र है। क्या समीक्षक यह स्वीकार करता है कि यह उपचार कथन है।

कथन ३ (स. पृ २१२) का खलासा :–

त. च. पृ. ८६ में हमने जो कुछ लिखा है, सब आगम के आधार पर ही लिखा है। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि शरीर जीवित नहीं होता, इसलिये इस समाधान में जीवित शरीर की क्रिया का अर्थ शरीर की क्रिया ही होगा। जड़ शरीर को जीवितरूप समीक्षक ही मान रहा है। इस समीक्षा में भी वह अपने मत के समर्थन में विविध प्रकार के भ्रामक वचनों का प्रयोग कर रहा है। समीक्षक ने जो धर्म-अधर्म को भाववती शक्ति का परिणमन जगह-जगह लिखा है, सो धर्म-अधर्म के होने में तो भाववती शक्ति का परिणमन निमित्त मात्र है। वस्तुतः धर्म अधर्मरूप परिणमन तो श्रद्धा आदि गुणों के स्वभाव और विभावरूप परिणमन हैं — ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये।

स पृ. २१३ में समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "यद्यपि जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रिया आत्मा के धर्म अधर्म के अभिव्यक्त होने में निमित्तभूत और शरीर के सहयोग से होने वाली जीव की क्रिया के अभिव्यक्त होने मे निमित्त होती है।" सो इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि शरीर का कोई भी परिणमन परिस्पन्दरूप हो या परिणामरूप हो, उन दोनों को ही जीव जिस भाव से लक्ष्य में लेता है अर्थात् यदि जीव उसको विषय रूप से लक्ष्य में लेता है तो वे अधर्म के होने में निमित्त होते हैं और यदि ज्ञान भाव से पुद्गल का परिणमन जानकर उनको लक्ष्य में लेता है तो वे धर्म के होने में निमित्त होते हैं — ऐसा समझना चाहिये।

आगे के पैरा में उसके द्वारा कहे गये कथन का भी यही समाधान है।

"एक बात और है" लिखकर हमारे कथन के विषय में भी जो उसने शब्द योजना लिखी है, वह हमारी मान्यता नहीं है। हम अपने अभिप्राय को आगम के अनुसार यहां अभी ही लिख आये हैं। स. पृ. २१४ पर उसने हमारे अभिप्राय के विषय में जो स्पष्टीकरण किया है, वह भी ठीक नहीं है।

हमने स. पृ. ८६ पर भी 'आत्मा के शुभ अशुभ भावों के निमित्त से ही मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को शुभ और अशुभ कहा है, क्योंकि मन, वचन, काय की जितनी भी प्रवृत्ति होती है वह स्वयं न शुभ है और न अशुभ है। उसे शुभ और अशुभ जीवभावों के आधार से ही शुभ-अशुभ कहा जाता है। जैसा कि त. सू. अ. ६ सू ३ की सर्वार्थसिद्धि टीका से ज्ञात होता है। यथा– ही

शुभपरिणामनिर्वृत्तः योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तः योगः अशुभः।

यह निर्णय आज भी हमारा ऐसा ही बना हुआ है। इस संबन्ध में स. पृ. २१४ में हमारे इस वचन को "यदि वे स्वयं समीचीन होने लगे तो अपने परिणामों के सम्हाल की आवश्यकता ही न रह जाय" उद्धृत कर उसने जो टीका प्रारम्भ कर दी है, सो शोभनीक नहीं है। इसी प्रकार त. च. पृ. ८७ पर हमने जो कुछ लिखा है, उसे भी आगम के अनुसार ही लिखा है। इसलिये वह जो उक्त कथन को अपने कथन से निरस्त मानता है सो वह मानना आगम विरुद्ध ही है। हमारे उस कथन के अन्तिम भाग को तो उसने स्वीकार कर लिया है सो उसने ठीक ही किया है, वास्तव में उस अन्तिम भाग से सम्बद्ध पूरा कथन ठीक है।

इस शंका में "मोक्ष के साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामों की सम्हाल करने का उपाय क्या है।" इस कथन के अन्त में उसने जो लिखा है सो उसका सीधा सरल उत्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र की एकता ही है, जिसकी प्राप्ति परावलंबन को गौणकर स्वभाव सन्मुख होने से ही होती है, यह निर्विवाद है। इस विषय में उसकी जो यह मान्यता है कि "द्रव्य मन वचन (मुख) और काय के अवलम्बन पूर्वक होने वाली और जीव की यथायोग्य भाववती और क्रियावती शक्ति के परिणाम स्वरूप शुभाशुभ प्रवृत्तियों से यथाविधि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में निर्वृत्ति प्राप्त करना ही मोक्ष के साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामों की सम्हाल करने का उपाय है," सो उसका ऐसा कहना आगम के अनुसार यथार्थ नहीं है। क्योंकि शुभाशुभ परिणामों से न तो तीन गुप्तियों की ही प्राप्ति होती है और न ही आत्मा स्वभाव सन्मुख होने के योग्य होता है। कारण कि उपयोग में जहां शुभाशुभ परिणाम बने रहते हैं, वहां स्वभाव-सन्मुख होना बनता ही नहीं है।

कथन ४ (स. पृ. २१५) का समाधान :-

इस कथन में समीक्षक ने त. च. पृ. ८७ पर हमारे द्वारा जो नाटक समयसार का प्रमाण दिया है उसे उसने प्रकरण के अनुसार निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया है, यह योग्य ही किया है।

कथन ५ (स. पृ. २१५) का समाधान :-

वह अपनी समीक्षा के नाम से कथन नं. ४ में जो यह लिखता है कि "प्रकृत में शरीर के सहयोग से होने वाली जीविका क्रिया को ही पूर्वपक्ष जीवित शरीर की क्रिया मानता है, जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रिया को नहीं।" सो इस शंका का समाधान यह है कि जीवित शरीर की क्रिया जब परमार्थ से होती ही नहीं, क्योंकि शरीर जड़ है, उसका उपादान स्वयं शरीर ही है, संसारी आत्मा उसमें निमित्त भले ही रहे, इतने मात्र से वह जीवित शरीर की क्रिया नहीं कही जा सकेगी। यदि निमित्त की अपेक्षा कथन भी करेंगे तो यही कहा जायेगा कि संसारी जीव के निमित्त से हुई शरीर की क्रिया। न तो उसे समीक्षक के अनुसार जीवित शरीर की क्रिया कहा जायेगा और न ही जीव के सहयोग से होने वाली "जीवित शरीर की क्रिया" ही कहा जाएगा। अतः इस कथन में उसने जो कुछ भी लिखा है, वह यथार्थ नहीं है।

आगे उसने धर्मअधर्म का जो स्पष्टीकरण किया है, उस विषय में आगम के अनुसार यह स्पष्टीकरण योग्य प्रतीत होता है कि जीव के निश्चय रत्नत्रय के साथ जिसे व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं, वह देवादि की पूजा, विनय और व्रतादिरूप ही माना जाता है तथा जिसे आगम में अधर्म कहा गया है, वह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्ररूप ही स्वीकार किया गया है, जैसा कि रत्नकरण्डश्रावकाचार के श्लोक संख्या ३ से स्पष्ट है।

कथन ६ (स. पृ. २१६) का समाधान :—

इस कथन में उसके उपादान और निमित्त का जो अर्थ लिखा है, वह व्याकरण में की गई व्युत्पत्ति के अनुसार ही लिखा है। इन दोनों का वास्तविक लक्षण इस प्रकार है— अव्यवहितपूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान का लक्षण है तथा अन्य द्रव्य के कार्यकाल में कालप्रत्यासत्तिवश जिसकी त्रैकालिक व्याप्ति का योग बनता है, यह निमित्त का लक्षण है। हमारे द्वारा किये गये ये दोनों लक्षण आगम सम्मत होने से विद्वानों द्वारा मान्य हैं, किन्तु उसके द्वारा जो लक्षण इस कथन में लिखे गये हैं, वे केवल शब्दों की व्युत्पत्तिमात्र हैं, इसलिये आगम में उनको मान्य नहीं किया है। समयसार गाथा ८० में "जीवपरिणामहेदु" और "पोग्गलकम्मनिमित्त" पद आये हैं, इन दोनों में भी बाह्यवस्तु में ही निमित्तपना स्वीकार किया गया है। बाह्यवस्तु उपादान का मित्र के समान स्नेहन करता है, यह अर्थ उन दोनों पदों से फलित नहीं होता। यह केवल धातुपरक अर्थ है, जिसे केवल नैयायिक दर्शन के अनुसार वह समीक्षक स्वीकार कर रहा और उसे जैनदर्शन पर लादना चाहता है। रही समयसार ८२ संख्याक गाथा, सो उसमें निश्चय कर्त्ता-कर्म की विवक्षा की गई है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपचार से जो निमित्त में कर्त्तापन स्वीकार किया गया है, वह वास्तविक नहीं है। यही स्थिति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के १२—१३ संख्याक श्लोकों की है। स्वयंभूस्तोत्र संख्या ६९ वें श्लोक में जो 'अंगभूत' पद आया है सो उस पद का हमने जो अर्थ किया है, उसे उसने मान्य कर लिया है, यह प्रसन्नता की बात है; किन्तु उसी श्लोक में जो "आभ्यंतरम्" पद आया है, वह अपने में स्वतन्त्र है। इन दोनों पदों में विशेषण-विशेष्य भाव का आशय एक दृष्टि से मान्य भी किया जाय तो कोई हानि नहीं है। इसका समर्थन समयसार गाथा ८२ और ८५ से भलेप्रकार होता है क्योंकि निमित्त की स्वीकृति निश्चय की सिद्धि के अभिप्राय से आगम में स्वीकार की गई है, वस्तु में परमार्थ से अन्य द्रव्य के कार्य में निमित्तता नहीं हुआ करती। परमार्थ से देखा जाय तो वस्तु अपने प्रत्येक कार्य में स्वयं निमित्त है और स्वय उपादान है। अभेद विवक्षा में वही कर्त्ता है और वही कर्म भी है।

कथन ७ (स. पृ २१७) का समाधान :—

हमने त च. पृ. ८७ पर जो वक्तव्य लिखा है, उसके उत्तर में समीक्षक (पूर्वपक्ष) ने जो यह लिखा है कि "उत्तरपक्ष के कथन से ऐसा लगता है कि वह अपने को जो तत्वज्ञ समझता है और उसे अतत्वज्ञ समझता है। केवल यहीं पर नहीं, अपितु तत्वचर्चा में सर्वत्र उत्तरपक्ष ने ऐसा ही

समझकर अपनी लेखनी चलाई है। लेखनी चलाने से पूर्व उसने कहीं पर भी यह समझने का प्रयास नहीं किया कि पूर्वपक्ष की अमुक विषय में क्या मान्यता है और वह अपने वक्तव्यों में क्या कह रहा है। यदि वह पूर्वपक्ष की मान्यताओं और उसके वक्तव्यों के अभिप्रायों को समझकर अपनी लेखनी चलाने की बात सोचता तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वह (उत्तरपक्ष) अपनी लेखनी अनर्गल ढंग से कदापि नहीं चलाता। उत्तरपक्ष द्वारा अनर्गल ढंग से लेखनी चलाने का यह परिणाम हुआ है कि तत्वचर्चा अत्यधिक लम्बायमान हो गई है, और वह सार्थक भी नहीं हो सकी है।"

यह समीक्षक की शिकायत है, जो उत्तरपक्ष के द्वारा लिखे गये समाधानों के आधार पर उसने व्यक्त की है। वास्तव में देखा जाय तो उसके भीतर का अभिप्राय अंधेरे में नहीं रहा, यह अच्छी बात हुई। यह तो स्पष्ट ही है कि उत्तरपक्ष व्यवहारनय के विषय को गौण अर्थात् अविवक्षित कर निश्चयनय के विषय को ही स्पष्ट करने के अभिप्राय से लिखने के लिए बाध्य था, जब कि उस पक्ष को निश्चयनय को न छोडते हुए व्यवहारनय के विषय को उपचार से स्पष्ट करना था, किन्तु वह (पूर्वपक्ष) इसमें सर्वथा असमर्थ रहा और उसने नैयायिक दर्शन के आधार से जैनदर्शन के व्यवहार पक्ष को लिखना प्रारम्भ कर दिया। अन्यथा वह पक्ष (१) न तो बाह्य निमित्त का अर्थ यह लिखता कि जो उपादान का स्नेह करे वह निमित्त कहलाता है, न ही यह (२) लिखता कि जिसमें कार्य होता है उसे उपादान कहते हैं और न वह यही लिखता कि (३) प्रेरक बाह्य कारण के बल पर उपादान का कार्य आगेपीछे किया जा सकता है और न वह यही लिखता कि (४) पर्याय को छोड़कर मात्र सामान्य द्रव्य उपादान होता है। जबकि जैनदर्शन में अन्य द्रव्य के साथ निमित्त की कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की गई है। साथ ही अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को समर्थ उपादान कहा गया है। ऐसी अवस्था में उसका यह लिखना कि (५) पर्याय क्रमबद्ध भी होती है और अक्रमबद्ध भी। यह वही बताये कि यह जैनदर्शन में कैसे स्वीकार किया जा सकता है। वह अपनी मान्यताओं को जैनदर्शन कहता है, किन्तु वह जैनदर्शन नहीं है। यह तो समीक्षक की कुछ ऐसी मान्यतायें हैं, जो जैनदृष्टि से बाह्य तो हैं ही और कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका जैनदर्शन में स्वीकार करने पर कार्य-कारणभाव से मेल नहीं खाता। जैसा वह लिखता है कि व्यवहार (असद्भूत व्यवहारनय) कथंचिद् भूतार्थ है और कथञ्चित् अभूतार्थ है। (६) निमित्तकारण अयथार्थ कारण होकर भी वह अन्य द्रव्य के कारण में सहायक होने के आधार पर भूतार्थ है। (७) प्रेरक निमित्त वे हैं, जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं और (८) उदासीन निमित्त वे हैं, जिनकी कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं। (९) निमित्तों को सहयोग मिलने पर अन्य द्रव्यों की उपादान होते हुए कार्यरूप परिणति होना और उनके न मिलने पर उपादान होते हुए भी उसकी कार्यरूप परिणति न होना यह प्रेरक निमित्त का लक्षण है तथा (१०) उपादान के कार्यरूप परिणति में निमित्त होना और न होने पर न होना यह उदासीन निमित्त का लक्षण है। इन दोनों लक्षणों में यह भेद दिखलाने के लिए ही पूर्वपक्ष ने समर्थ उपादान के प्रसिद्ध लक्षण को न स्वीकार कर उसके स्थान में (११) अन्य द्रव्य को उपादान का लक्षण, और

यह कहकर कि पर्याय तो द्रव्य में रहती ही है, समर्थ उपादान के लक्षण को तिलांजलि देकर अपनी मान्यतानुसार निमित्तों और उपादान के लक्षण वना लिये हैं। इत्यादि पूर्वपक्ष के कतिपय ऐसे विचार हैं जो जिनागम की तत्वप्ररूपणा की मूल तथा प्रयोजनीय धारा को ही वदल देते हैं। अतः हमारा प्रयोजन निश्चयव्यवहार को यथावत्रूप में उपस्थित करने का रहा है, अतः समीक्षक को अगर अपने कथनानुसार हमारे लिखान में ऐसी कोई गंध आई हो, जिससे उसे ऐसा प्रतीत हुआ हो कि हम अपने को तत्वज्ञ समझ रहे हैं तो इसके लिये हम समीक्षक से इतना ही कहेंगे कि निर्णय के लिये की गई चर्चा में उसे ऐसे भाव नहीं वनाने चाहिये थे। हमें तो जिनागम स्पष्ट करना था और उसी प्रयोजन से समग्र समाधान लिखे भी हैं। इस प्रसंग में हमें तो पू. पं. माणिकचन्दजी न्यायाचार्य के ये वचन याद आते हैं, जव उन्होंने जयपुर खानिया में इस तत्वचर्चा के ७वें दिन कहे थे – "फूलचन्दजी आप भी आज हमें उसी रूप में मानते हैं तो यह मानकर चलना कि यह पं. फूलचन्द नहीं लिख रहा है, यह पं. माणिकचन्द लिख रहा है।" इस सम्वन्ध में हम वहुत क्या सकेत करें, पूर्वपक्ष द्वारा लिखी गई जिन कतिपय १० वातों को हमने यहाँ प्रस्तुत किया है, उन्हीं वातों से वह समझ लेगा कि हम (पूर्वपक्ष) जिनागम की प्ररूपणा को छोड़कर कहाँ भटक कर चले गये हैं। अस्तु।

आगे समीक्षक ने स. पृ. २१८ में जो उपचरित कारण को स्वीकार करने के अभिप्राय से यह लिखा है कि – "पूर्वपक्ष उपचरित कारण को उपादान के कार्य में सहायक होने के आधार पर कार्यकारी मानता है।" सो इस कथन का समाधान यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के कार्य में परमार्थ से सहायक नहीं हुआ करता। जैसा कि समयसार गा. ११६ से १२० की आत्मख्याति टीका में कहा भी है –

"स्वयं परिणममाणं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत"

परमार्थ से स्वयं परिणमन करने वाला द्रव्य अन्य परिणमन कराने वाले द्रव्य की अपेक्षा नहीं करता। व्यवहार की विवक्षा में जो यह कहा जाता है कि "उसकी सहायता से यह कार्य हुआ" सो यह कथन अपरमार्थरूप होने से परमार्थ से उसका निषेध ही किया जाता है, क्योंकि किसी अन्य द्रव्य की सहायता से अन्य द्रव्य कार्य करे यह भूतार्थ अर्थात् यथार्थ नहीं है। परमार्थ से कथन मात्र है। उसे कथन मात्र इसलिये कहते हैं कि वह कार्य द्रव्य के स्वरूप से वहिर्भूत है, क्योंकि सहायता नाम की कोई वस्तु नहीं है। न तो उसका निमित्त द्रव्य में ही सद्भाव है और न कार्य द्रव्य में ही।

आगे समीक्षक ने भव्य जीव को मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो मानव शरीर और वज्रवृषभनाराच संहनन के समर्थन का उल्लेख किया है, सो भाई जिसे निमित्त कहा जाता है उसमें और कार्य में कालप्रत्यासत्तिवश तीनों कालों में एक साथ होने का जो नियम है, सो उसका यह आशय नहीं है कि शरीर या वज्रवृषभनाराच संहनन अपने कार्यों को छोड़कर भव्य जीवों के मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य में परमार्थ से सहायता करने लगता है। वस्तुतः भव्य जीव रत्नत्रय प्राप्ति रूप कार्य को अन्य किसी की सहायता के विना स्वयं उत्पन्न करता है और शरीर तथा वज्रवृषभनाराच संहनन भी भव्य जीव की सहायता के विना स्वयं ही उत्पन्न होते हैं और स्वय ही जीर्ण होते हैं। कर्मोदय तो

उनमें निमित्त मात्र हैं। वस्तुतः जिस द्रव्य के साथ अन्य जिस द्रव्य का त्रैकालिक अविनाभाव सम्बन्ध बनता है, उसके आधार पर ही निमित्त-नैमित्तिक रूप से कार्य कारण भाव का कथन किया जाता है। जिनागम में भी इसी आधार पर कथन चलता है। वस्तुतः देखा जाय तो व्यवहार कथन मात्र उपचरित ठहरता है और परमार्थ कथन यथार्थ ठहरता है।

आगे स. पृ. २१८ में स्पष्ट करने के अभिप्राय: से समीक्षक ने जो दो विकल्प लिखे हैं, वे दोनों ही समाधानकर्ता को मान्य नहीं हैं, क्योंकि हमने उन विकल्पों में से किसी एक का भी उल्लेख नहीं किया है। वह अपनी मान्यताओं को हमारी मान्यता न बनावें, यह हमारा उससे निवेदन है।

आगे सर्वार्थसिद्धि अ. १ सू. १ का उद्धरण उपस्थित कर जो कुछ भी समीक्षक द्वारा लिखा गया है उसका भी पूर्व में किया गया समाधान ही उत्तर है, अर्थात् वह अपनी मान्यता को हमारी मान्यता न बनावे।

आगे उसने स. पृ. २१९ में जो यह पृच्छा की है कि "अपर पक्ष ही बतलावे कि उक्त क्रिया (रागमूलक और योगमूलक) के सिवाय और ऐसी शरीर की कौन सी क्रिया बनती है, जिसे मोक्ष का हेतु माना जाय? सो इसका समाधान यह है कि परमार्थ से शरीर की तो नहीं, आत्मा की ज्ञान क्रिया अवश्य बनती है, जिसे साक्षात् मोक्ष का साधन माना गया है, शरीर की कोई भी परिणति तो निमित्त मात्र है। बाकी सब उसने जो प्रमाण दृष्टि और नय दृष्टि आदि के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से ठीक कहने का प्रयोजन रखा है, वहाँ उसका वह ढंग कौन है, इसे हम अभी तक नहीं समझ सके हैं। वह ढंग वास्तविक है या उपचरित है। यदि वास्तविक है तो वह किस वस्तु का अंश है। यदि उपचरित है तो वह सत्स्वरूप है या असत्स्वरूप? इन सब बातों पर उसी को प्रकाश डालना चाहिये, अन्यथा ऐसा लिखना शोभा नहीं देता।

कथन नं. ८ (स. पृ २२०) का समाधान :—

इस कथन में "बाह्येतरोपाधि" इत्यादि स्वयंभूस्तोत्र की कारिका के आधार पर जो हमने त. च. पृ. ८८ में भाव व्यक्त किया है, उसे समीक्षक ने यद्यपि मान्य तो कर लिया है, परन्तु साथ ही उसने जो बाह्य सामग्री की समग्रता को कार्य में कारणतारूप से भूतार्थ होने का विधान किया है, वह हमारी समझ के बाहर है, क्योंकि वह बाह्य सामग्री को अयथार्थ कारण मानते हुए भी उसकी सहायता को भूतार्थ मानता है। (देखो स. पृ.–४) जब कि हमारी दृष्टि में कोई किसी की सहायता नहीं करता, सब अपना-अपना कार्य करते हैं। मात्र कालप्रत्यासत्तिवश उनमें विवक्षा भेद से निमित्त-नैमित्तिक भाव मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ संसार रूप कार्य को ध्यान में रखकर जहाँ कर्म के उदय को कर्म के निमित्त से कहा जाता है, वहीं आत्मा के मोक्ष रूप कार्य को ध्यान में रखकर आत्मा के स्वाभाविक भावों को निमित्त कर कर्म के उदय, उदीरणा, उपशम और क्षयरूप कार्य को "निर्जरा" कहा जाता है।

कथन नं० ९ (स० पृ० २२१) का समाधान :—

स्वयंभू स्तोत्र कारिका ५९ के मेरे किये गये अर्थ को समीक्षक स्वीकार करके भी उसने अपने द्वारा किये गये गलत अर्थ की पुष्टि करने का उपक्रम चालू रखा; यह योग्य नहीं है, क्योंकि उक्त कारिका में आये हुए अंगभूत पद का अर्थ गौण होता है और गौणमुख्यपना दृष्टि में हुआ करता है, वस्तु में नहीं। बाह्य कारणता भी वर्तमान में क्या कार्य हुआ इसके समझने के लिये विवक्षित हुआ करती है, वस्तु में वाह्य कारणता यथार्थ नहीं हुआ करती। वस्तु में तो एक के वाद दूसरी पर्याय होती रहती है, क्योंकि परिणमन करना वस्तु का उसी तरह स्वभाव है, जिस प्रकार उनका परिणमन करते हुए नित्य वने रहना स्वभाव है। और इसीलिये वस्तु में कारणता का सद्भाव नयदृष्टि से ही स्वीकार किया जाता है। पहली पर्याय के वाद उस समय होने वाली दूसरी पर्याय होने का नियम है, इसीलिये भेदविवक्षा में हम विवक्षित पर्याययुक्त द्रव्य को उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य का उपादान कारण कहते हैं। साथ ही प्रत्येक द्रव्य तीनों कालों में होने वाली पर्यायों का द्रव्यदृष्टि से तादात्म्य समुच्य होने से वे पर्यायें प्रत्येक द्रव्य में उसी क्रम से होती हैं, जिस रूप से वे योग्यता के रूप में क्रमपने से अवस्थित हैं। यही वात ज्ञान में आती है, इसलिये अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान रूप से स्वीकार किया गया है। और त्रैकालिक इस व्यवस्था के आधार पर अन्य जिस द्रव्य की पर्याय की इसके साथ वाह्य व्याप्ति वनती रहती है, उसमें प्रयोजन के अनुसार निमित्त व्यवहार कर लिया जाता है, यह वस्तुस्थिति है। इसे पूर्वपक्ष एकवार वुद्धि में स्वीकार करले तो सव विवाद समाप्त हो जाय। और हमने जो उक्त कारिका का अर्थ किया है उसे भी वह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेगा।

उक्त कारिका में जो अपि पद आया है, उसका प्रकृत में क्यों एव. अर्थ करना प्रयोजनीय किया है, उसे भी समीक्षक को समझ में आ जायगा। विशेष क्या स्पष्ट करें।

कथन नं० १० (स० पृ० २२३) का समाधान :—

हमने "यद्वाह्यवस्तु" इत्यादि कारिका को ध्यान में रखकर जो अर्थ त. च. पृ. ८९ में किया है उसे समाधान के रूप में पूर्वपक्ष ने स्वीकार करके उससे फलित होने वाले तात्पर्य को स्वीकार करने का जो साहस दिखलाया है, उसकी हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं; किन्तु इसके वाद पूर्वपक्ष ने समयसार गाथा में कहे गये अर्थ की जो दृष्टि की अपेक्षा व्याख्या की है, उसे देखने पर वह ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि स्वसमय अर्थात् जो ज्ञानी होता है, वह स्वयं के जीवन में नियम से अध्यात्मवृत्त होता है, अज्ञानी नहीं, यह उक्त गाथा में कहा गया है। अर्थात् अज्ञानी भी स्वरूप से ज्ञानस्वरूप होकर भी मान्यता में अवश्य ही स्वयं को वद्ध-स्पष्ट, अन्य-अन्य, अनियत, विशेप रूप और राग-द्वेषरूप अनुभवता है, इसलिए अज्ञानी है। पर को और आत्मा को एक मानना अज्ञानी का लक्षण है और पर से भिन्न स्वयं को ज्ञानस्वरूप अनुभवना ज्ञानी का लक्षण है। यह तथ्य समयसार गाथा में आचार्य देव ने स्पष्ट किया है।

प्रत्येक द्रव्य की एक पर्याय के वाद दूसरी पर्याय होने का नाम ही कार्योत्पत्ति है। वह किसी से नहीं होती, स्वयं होती है फिर भी उपादान और निमित्त के योग से यह हुई, यह व्यवहार

है। इनमें एक सद्भूत व्यवहार है और दूसरा असद्भूत व्यवहार है। आचार्यदेव तो कहते हैं कि कर्ता कर्ता है और कर्म (कार्य) कर्म है। कर्ता ने कर्म को पैदा किया हो – ऐसा भी नहीं है, और कर्म कर्ता से हुआ हो ऐसा भी नहीं है।" फिर भी यह व्यवहार तो होता ही है कि इस कार्य को इस कर्ता का जानना चाहिये या इस कर्ता का यह कार्य है।

सम्यग्दृष्टि जीव, कोई किसी का नहीं होता 'इस तथ्य को जानते हुए राग के कारण यह पुत्र मेरा है – ऐसा व्यवहार करता है। परन्तु यहां संयोग का अर्थ ही यह है कि जो अनात्मीय हैं उनमें आत्मभाव का होना संयोग है। इसलिये पूर्वपक्ष ने यदि इसी अर्थ में संयोग शब्द का प्रयोग किया हो तो मुझे कुछ आपत्ति नहीं है। वैसे तो जहां हम रहते हैं, वहीं छहों द्रव्य वर्तते हैं, फिर भी उनमें यह मेरा – यह व्यवहार नहीं होता। इसलिये संयोग पद का हमने जो अर्थ किया है, वह आगम सम्मत है। मूलाचार में "एगो मे" इत्यादि गाथा में आये हुए "सव्वे संजोगलक्खणा" पद में आये हुए "संयोग" पद का अर्थ करते हुए उसकी टीका में लिखा है "अनात्मनीनां आत्मभावः संयोगः" आशा है समीक्षक भी इसे स्वीकार करेगा।

आगे गौणमुख्यभाव के विषय में जो समीक्षक ने लिखा है, सो उसे यदि उसका आशय मुख्यगौण से उपादेयअनुपादेय का है तो सम्यग्दृष्टि कभी भी परमभाव ग्राही निश्चय को अनुपादेय रूप से गौण नहीं करता। लक्ष्य को सदा ख्याल में रखता है।

कथन नं. ११ (स. पृ. २२४) का समाधान :—

इस कार्य-कारण भाव के विषय में हम पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। यहां इतना अवश्य कहना है कि छद्मस्थ के प्रमाण ज्ञान भी विकल्प रूप होता है। कोई भी बाह्य निमित्त वस्तु का स्वरूप नहीं होता, मात्र कालप्रत्यासत्तिवश कार्य के समय 'अन्वय-व्यतिरेक समधिगम्यो हि कार्य-कारणभाव, इस विषय के अनुसार अन्य में निमित्तता कल्पित कर ली है, इसलिये अन्य को निमित्त कहना यह असद्भूत व्यवहार रूप एक विकल्प ही है, परमार्थ नहीं। रही उपादान की बात सो प्रत्येक पर्याय के बाद उसकी अविनाभावी दूसरी पर्याय होने का नियम है, जैसे वस्तु के स्वरूप में नित्यता सन्निहित है, उसीप्रकार एक पर्याय के बाद उसकी अविनाभावी दूसरी पर्याय का होना भी उसमें सन्निहित है। तथा उक्त दोनों पर्यायें द्रव्य की अपेक्षा सद्भूत हैं, इसलिये इनमें रहने वाले अविनाभाव को देखकर ऐसा व्यवहार स्वयं हो जाता है कि इसके बाद यह पर्याय होगी। इसीलिये इसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय कहते हैं ऐसा स्वरूप से जानना ही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। विशेष क्या संकेत करें। यह हमने जो लिखा है, वह खुलासा मात्र है।

समीक्षक बाह्य सामग्री कार्यरूप परिणत नहीं होती, इसलिए उसे असद्भूत कहता है यह तो ठीक है, पर यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि वह स्वरूप से कार्यरूप वस्तु में नहीं है, इसलिये भी असद्भूत है, और जब वह कार्य द्रव्य से अपने विशेष लक्षण की अपेक्षा सर्वथा भिन्न लक्षणवाली है तो सर्वथा भिन्न रहकर उसकी सहायता से कार्य होता है यह कहना असत् क्यों नहीं हो जायगा। अर्थात् असत् ही ठहरेगा। आश्चर्य है कि फिर भी समीक्षक बाह्य वस्तु में कारणता को असत्स्वरूप

मानते हुए भी कार्यद्रव्य में भूतार्थरूप से उसकी सहायता से कार्य होता है यह कहते हुए नहीं अघाता ।

कथन नं. १२ (स. पृ. २२५) का समाधान :—

समीक्षक स पृ. ४ और ५ में वाह्य सामग्री को अयथार्थ कारण स्वयं स्वीकार कर आया है। यहां भी वह इसे स्वीकार कर रहा है। ऐसी अवस्था में उसमें (वाह्यसामग्री में) अयथार्थ कारणता कल्पनारोपित या कथन मात्र है तो फिर कार्य में उसकी सहायता कल्पनारोपित याकथन मात्र ही ठहरेगी, उसे वास्तविक कैसे कहा जाय, इसका विचार स्वयं वह ही करे, क्योंकि कारणता तो अयथार्थ हो और उसकी सहायता भूतार्थ (यथार्थ) हो — ये दो वातें नहीं वन सकती ।

आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "लोकोत्तर जन के लिये उसमें वाह्य सामग्री गौण कारण है और अंतरंग सामग्री मुख्य कारण है" सो "यद्वाह्यवस्तु" इत्यादि कारिका में उत्तरार्द्ध का उसकी ओर से जो उक्त अर्थ किया गया है, उसका यह अर्थ नहीं है; क्योंकि उक्त कारिका में वाह्य कारण गौण है अर्थात् अविवक्षित है और अभ्यंतर कारण मुख्य है। इसका जो निष्कर्ष समीक्षक ने फलित किया है वह नहीं है। उक्त कारिका में "अलम्" पद आया है, जिसका प्रकृत में मुख्य अर्थ न होकर पर्याप्त अर्थ होता है। इसलिये समग्र भाव से विचार करने पर उसका आशय होता है कि जो अध्यात्मवृत्त जीव अपने उपयोग में वाह्य (पर) निरपेक्ष आत्मा का आलम्वन लेता है अर्थात् आत्मा को ध्येय वनाकर उसमें तन्मय होता है, उसके लिये आत्मा का आश्रय लेना पर्याप्त है, क्योंकि परनिरपेक्ष स्वभाव के आलम्वन से स्वभाव पर्याय की (अभेद विवक्षा में स्वभावभूत आत्मा की) प्राप्ति होती है। आचार्यदेव कुंदकुन्द का वचन भी है :—

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो परणिरवेक्खो ।

पर्याय दो प्रकार की हैं — स्व-परसापेक्ष और परनिरपेक्ष अर्थात् स्वभावसापेक्ष। विचार करने पर विदित होता है कि समग्र रूप से मोक्षमार्गी वनने की कला उक्त कारिका में गर्भित है। मिथ्यादृष्टि जीव यदि सम्यग्दृष्टि वनता है तो इसी मार्ग से, सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि विरताविरत और अप्रमत्तसंयत वनता है तो इसी मार्ग से। प्रमत्त यदि अप्रमत्त वनता है तो इसी मार्ग से। यह स्वभाव पर्याय को प्राप्त करने की कला है। संसारी के मोक्षमार्गी और मोक्षमार्गी के आगे की भूमिका में जाने की कला क्या है — इसे ही आचार्यदेव ने उक्त गाथा के उत्तरार्द्ध द्वारा स्पष्ट कर दिया है।

विज्ञेषु किमकिंधकम् ।

प्रारम्भिक भूमिका में अध्यात्मवृत के सविकल्प दशा मे भले ही वाह्य सामग्री उपचार से प्रयोजनीय रहे, पर वह उतनी ही मात्रा में उपचार से प्रयोजनीय होती है, जो उस भूमिका के अनुकूल होती है। इसी वात को ध्यान में रखकर आचार्यवर्य अमृतचन्द्र देव एक कलश में कहते हैं—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा ।
कर्म-ज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत् ।
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ।। ११० ।।

जबतक ज्ञान की कर्म विरति भलीप्रकार परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तबतक कर्म और ज्ञान का समुच्चय शास्त्र में कहा है । उसके एक साथ रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है । यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो एक परम ज्ञान है, वह एक ही मोक्ष का कारण है जो कि स्वतः विमुक्त है अर्थात् सर्वप्रकार के भेदरूप और उपचार रूप परभावों से भिन्न है । ११० ।।

तात्पर्य यह है कि यथाख्यात चारित्र के प्राप्त होने के पूर्व तक सम्यग्दृष्टि की दो धारायें रहती हैं – कर्मधारा और ज्ञानधारा । उनमें कर्मधारा अपना कार्य करती है और ज्ञानधारा अपना कार्य । आगे जितने अंश में ज्ञानधारा में प्रकर्ष होता जाता है, उतने अंश में कर्मधारा का स्वयं नाश होता जाता है । यहाँ ज्ञानधारा का अर्थ है – स्वय को परनिरपेक्ष ज्ञानस्वरूप अनुभवना । यह परनिरपेक्ष होने से शुद्ध है । अन्य सब कर्मधारा है । शेष सब कथन उपचार मात्र हैं, क्योंकि कर्मधारा शुभाशुभ परिणति मात्र है और ज्ञानधारा परनिरपेक्ष अभेद विवक्षा में स्वयं आत्मा है और भेद विवक्षा में स्वभावरूप अनुभवन मात्र है ।

कथन १३ (स. पृ. २२६) का समाधान :—

हमने त. च. पृ. ६० पर यह लिखा था कि 'उपादान के अपने कार्य के सन्मुख होने पर निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है ।" किन्तु समीक्षक हमारे इस कथन को कार्य-कारण की विडम्बना करनेवाला ही है, "उसकी सिद्धि करनेवाला नहीं" ऐसा लिखता है और उसकी पुष्टि मन्दबुद्धि शिष्य और अध्यापक को उपस्थित कर अपने मन के विकल्प के अनुसार निष्कर्ष निकाल लेता है । किन्तु देखना यह है कि यदि अध्यापक का पढ़ाना निमित्त है और शिष्य का पढ़ना कार्य है तो शिष्य ने अपनी बुद्धि के अनुसार अवश्य पढ़ा है । तभी इन दोनों में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बनता है । अब यदि जैसा समीक्षक कहता है कि शिष्य ने नहीं पढ़ा ह और अन्य कार्य किया है तो अध्यापक पढ़ाने में निमित्त हैं यह कहना नहीं बनता । शिष्य ने उस समय जो कार्य किया उसके अनुरूप उपचार से निमित्त कोई अन्य होगा यह स्पष्ट है । यहां पर समीक्षक को यह स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिये कि ऐसे मानसिक विकल्पों के आधार पर हमारे उक्त कथन का निरसन न होकर समर्थन ही होता है । ऐसे पांच उदाहरणों को उपस्थित कर मालूम पड़ता है कि वह कार्य-कारण भाव की अकाट्यव्यवस्था को अभी तक नहीं स्वीकार करना चाहता ।

आगे अपनी मान्यता के रूप में उसने जो कुछ लिखा है, दूसरे शब्दों में तो वह वही है कि जिसे हमने त. च. पृ. ६० के उक्त कथन द्वारा स्पष्ट किया है । उसके कथन में हमें कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती । रही बात निमित्त के सहयोग की, सो यह केवल शब्दजाल है या विकल्पों का

ताना-वाना, जवकि कालप्रत्यसत्तिवश वाह्य-वस्तु कार्य में उपचार से निमित्त मात्र कही जाती है। इसी वात को भट्टाकलंकदेव ने—

"मृदः स्वयं घटभवनपरिणामाभिमुख्ये सति दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्त मात्रं भवति।" इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है।

समीक्षक को भय है कि हमारे कथनानुसार वाह्य निमित्त अकिंचित्कर ठहर जाता है, किन्तु यह भय निःसार है; क्योंकि जो वाह्य निमित्त है वह स्वयं गुण-पर्याय वाला द्रव्य है, इसलिए जिस समय उपादानभूत द्रव्य ने अपना कार्य किया, उसी समय वाह्य निमित्तभूत द्रव्य ने भी उपादान होकर अपना कार्य किया। इसलिये कोई भी द्रव्य अकिंचित्कर नहीं रहा, फिर भी एक के कार्य में दूसरे को उपचार से निमित्त इसलिए कहा जाता है कि निमित्तभूत द्रव्य के द्वारा उपादानभूत द्रव्य में विवक्षित कार्य की सिद्धि होती है। कहा भी है—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेद दृक्॥ – अनगारधर्मामृत

आगे पृ. २२७ पर उसने जो यह लिखा है – "उत्तरपक्ष यदि अपने अनुभव पर दृष्टि डाले" आदि तो उसके उत्तरस्वरूप हम (उत्तरपक्ष) समीक्षक स्वामी समतभद्र की "बुद्धिपूर्वापेक्षायां" इत्यादि कारिका की ओर दृष्टिपात करने का आग्रह करते हैं, तब निमित्त-नैमित्तिक के रूप में कार्य-कारणभाव की सब आगमिक व्यवस्था उसे आकुलता के बिना समझमें आ जायगी। नित्य उपादान द्रव्य योग्य रूप उपादान रहे और वह समर्थ उपादान की स्थिति में पहुंचे तो कार्य नहीं होता, अतः नित्य उपादान कार्यकारी नहीं रहा, इसलिये कार्य नहीं हुआ, ऐसा मानना योग्य है। उदाहरणार्थ भव्य हो और काललब्धि का योग न हो तो मोक्षमार्ग की जैसे सिद्धि नहीं होती, वैसे ही मन्दबुद्धि शिष्य के सम्वन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

इन्द्र को ख्याल में रखकर धवला में यह प्रश्न उठाया गया है कि जिस समय भ. महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, उसी समय इन्द्र ने गौतम को क्यों नहीं लाकर खड़ा कर दिया? तो वहाँ यही उत्तर दिया गया गया है कि उस समय काललब्धि के अभाव में इन्द्र गौतम को लाने में असमर्थ था और जव काललब्धि आ गई तो उसी इन्द्र ने गौतम को लाकर भगवान के सामने उपस्थित कर दिया।

भैया! हमने तो कार्य-कारण भाव की रीढ़ को समझ लिया है। व्यर्थ ही आप प्रेरक नाम से उपचार से कहे गये निमित्त की सिद्धि के व्यामोह में पड़कर स्वयंसिद्ध निमित्त-नैमित्तिक भाव की कथनी को विडम्वनापूर्ण लिखकर अपने को उससे निमित्त-नैमित्तिक भाव के कथन से अनभिज्ञ न वनावें। निमित्त-नैमित्तिक भाव की व्यवस्थित परम्परा नियत कार्य-कारणभाव की संजीवनी वूटी है, इसका पान करें। जहाँ आगम साक्षी है, उसका अनुभव और तर्क उसके अनुकूल ही होते हैं, उसके विरुद्ध नहीं, इतना निश्चित समझें। हमारे लिये ही क्या, छद्मस्थ मुनि के लिये भी आगम ही चक्षु है।

इसलिये आगम के आगे अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्क के लिये तो कोई स्थान ही नहीं है। हाँ समीक्षक ऐसा आगम उपस्थित कर सके तो अवश्य ही उसके सामने हमें अपना सिर झुकाना होगा, किन्तु शब्द प्रयोग के आधार पर किसी बात का निर्णय नहीं हुआ करता, सिद्धान्त ही सर्वत्र मार्गदर्शक होता है।

उदाहरणार्थ उपादान के लक्षण आगम में तीन प्रकार से वर्णित हैं — एक प्रमाण दृष्टि से, जिसके अनुसार अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को उपादान कहते हैं, दूसरा द्रव्यार्थिकनय से, जिसके अनुसार सब मिट्टी घट का उपादान कही जाती है। तीसरा पर्यायार्थिक (ऋजुसूत्र) नय से, जिसके अनुसार घट परिणमन के सन्मुख मिट्टी ही घट का उपादान है।

अब देखना है कि सर्वत्र आगम में जो कार्य-कारण भाव की व्यवस्था है, वह किस आधार पर की गई है। द्रव्यार्थिकनय से मानने में तो भव्य निगोदिया जीव भी मोक्ष का उपादान बन जाता है। समीक्षक ने जो बाह्य निमित्त के दो भेद स्वीकार करके प्रेरक निमित्त के आधार पर कार्य-कारणभाव की व्यवस्था बनाकर स. पृ. १९ में अपना यह मंतव्य प्रगट किया है कि "उपादान की कार्योत्पत्ति में" प्रेरक निमित्तों की प्रेरणा इसलिये आवश्यक है कि प्रेरणा प्राप्त किये विना उपादान कार्योत्पत्ति की स्वाभाविक योग्यता के सद्भाव में भी अपने में उस कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है" आदि। इसी प्रकार इसी आधार पर स. पृ. ५१ में जो यह लिखा है कि "क्योंकि उपादान की कार्यरूप परिणति में वह बाह्य सामग्री आवश्यक एवं अनिवार्य रूप से होती है। उसके विना उपादान भी पंगु रहता है। दोनों की संघट्टना से ही कार्य होता है।" सो पूर्व-पक्ष का यह कथन भी इन प्रेरक निमित्तों की बलवत्ता को एकान्त से सिद्ध करता है। पूर्वपक्ष ने इस आधार पर दो प्रकार के निमित्त स्वीकार करके जो प्रेरक निमित्तों का लक्षण किया है कि "प्रेरक निमित्त वे हैं, जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं।" इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी द्रव्य का कोई भी परिणामनरूप कार्य नियत नहीं है। वह द्रव्य जब उदासीन निमित्त मिले तब तो वह द्रव्य अपने आधार पर परिणमेंगे, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य जैसा अपना परिणमन कार्य करेगा वैसा ही निमित्त रहेगा। यदि बीच में प्रेरक निमित्त आ जायगा तो प्रत्येक द्रव्य अपने आधार पर होने वाले परिणमन को छोड़कर प्रेरक निमित्त जैसा होगा उस रूप में उसे परिणमना पड़ेगा," किन्तु निमित्तों की यह व्यवस्था कैसे बने इसी के लिए समीक्षक के प्रमाण की अपेक्षा और ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा उपादान के लक्षणों को तिलांजलि देकर अर्थात् दूर से ही नमस्कार कर आगम में द्रव्यार्थिक-नय से स्वीकृत लक्षण को अपनी प्ररूपणा में मुख्यता से मान्यता दी है। इससे उस पक्ष ने कई लाभ देखे। एक तो उसे यह लक्षण आगम के अनुसार है यह लिखने में कोई बाधा नहीं दिखाई दी। दूसरे अपनी काल्पनिक मान्यतानुसार तोड़-मरोड़कर आगम के वचनों का अर्थ करने में सहजता प्राप्त हो गई। तथा तीसरे जिन्होंने आगम का सम्यक्-प्रकार से परिशीलन नहीं किया है ऐसे बहुजन समाज के अनुकूल पड़ने से अपनी वाहवाही बटोरने में अनुकूलता प्राप्त हो गई।

इससे लाभ यह हुआ कि आगम में सर्वत्र स्वीकृत उपादान के लक्षण को छोड़कर मात्र अपनी मान्यता के अनुसार की गई उपादान की व्युत्पत्ति के आधार पर जो परिणमन को स्वीकार

करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्य का आश्रय ठहरता है (स. पृ. २१)" वह पक्ष यह सहज लिख सका और ऐसा लिखने में उसे कोई बाधा नहीं दिखाई दी।

यही कारण है कि समीक्षक ने द्रव्यार्थिकनय से स्वीकृत उपादान के लक्षण को अपनी प्ररूपणा का आधार बनाकर अपने मंतव्यानुसार ईश्वरवाद को जैनागम में स्थान दिलाने का असफल प्रयास किया है। इसमें संदेह नहीं, यह कोई समीक्षक पर हमारा आक्षेप नहीं है, उस पक्ष द्वारा की गई इस कथनी से जो आशय फलित होता है, उसका यह दिग्दर्शनमात्र है। हम तत्त्वज्ञानी हों, पर ऐसे दुष्परिणाम से दूर रहकर जिनागम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये हमने जो प्रयत्न चालू रखा है, उसके लिये कोई भी विवेकी हमें प्रोत्साहन ही देगा।

अरे भाई! कार्य-कारण भाव की कथनी में उपादान का भी स्थान है और बाह्य निमित्त का भी स्थान है। पर वहाँ उपादान का लक्षण इस रूप में उपलब्ध होता है कि जिसमें न तो द्रव्य गौण होता है और न पर्याय गौण होती है। कार्य होता है तो दोनों रूप होता है। यह कोई मोक्ष-मार्ग या संसार मार्ग की कथनी नहीं है कि जिससे दृष्टि की अपेक्षा एक को गौण किया जाए और दूसरे को मुख्य किया जाय। यह तो वस्तुव्यवस्था का प्रसंग है। यहाँ तो प्रत्येक स्थिति में वस्तु पूर्ण रहती है। चाहे संसाररूप अवस्था हो या मोक्षरूप अवस्था हो। जहाँ समीक्षक ने उदासीन निमित्त के आधार पर अपनी बात का समर्थन किया है। वहाँ उसने प्रमाण दृष्टि से म.ने गये आगम सम्मत समर्थ उपादान को स्वीकार कर ही निमित्त-नैमित्तिक भाव की सम्यक व्यवस्था को स्वीकार भी कर लिया है, मेरा समीक्षक यही कहता है कि उपादान के लक्षण को दो प्रकार का मान कर लोगों को भ्रम में क्यों डालते हो। समर्थ उपादान तो एक ही प्रकार का है। तथा समीक्षक ऐसा उदाहरण दे सकता है कि द्रव्यार्थिक नय का उपादान हो और प्रेरक निमित्त के बल पर कार्य हो जावे। यदि नहीं दे सकता है तो व्यर्थ के भ्रमजाल में दूसरे जीवों को क्यों डालता है।

इसी आधार पर समीक्षक ने स पृ. २१ में निमित्त की पुष्टि के लिये ही "उपचरित (काल्पनिक) नहीं है" जो यह लिखा है सो वह भी अपने अभिप्राय से लिखा है, क्योंकि वह मानता है कि उपादान और निमित्त की संघटना से कार्य होता है और निमित्त कार्य की उत्पत्ति में भूतार्थ रूप से सहायता करता है, किन्तु इसके साथ जहाँ उसने कार्य को केवल स्वप्रत्यय मान लिया है और उस आधार पर आगम विरुद्ध यह लिखने से भी नहीं चूका है कि जैन संस्कृति ऐसे परिणमन भी स्वीकार करती है जो निमित्तों की अपेक्षा के बिना केवल उपादान के अपने बल पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हें यहाँ स्वप्रत्यय नाम दिया गया है, स. पृ. २५" और विचित्र बात यह है कि ऐसे सर्वदा आगम विरुद्ध परिणमनों को स्वीकार करके भी समयसार गाथा ११६ आदि में आये हुए "सयं" पद का अर्थ अपने आप करने के लिये वह कदापि तैयार नहीं है। आश्चर्य महाआश्चर्य। यह है थोड़े में पूर्वपक्ष के मंतव्यों का निचोड़, फिर भी वह अपनी को विश्राम देना नहीं चाहता और परस्पर विरुद्ध अपने विचारों को मूर्त रूप देता चला जा रहा है।

यहाँ (स. पृ. २२० में) जो उसने प्रमेयकमलमार्तण्ड (शास्त्रागार) पत्र ५२ का हिन्दी अनुवाद उपस्थित कर अपने पक्ष का समर्थन करवाना चाहा है सो यह वचनशैली है, इससे कुछ सिद्धान्त नहीं फलित किये जाते। जब दोनों में कालप्रत्यासत्ति है तो उसे किन्हीं शब्दों में कहा जाय, उसका अर्थ इतना ही होगा कि उपादान स्वयं कर्त्ता होकर परिणामलक्षण या क्रियालक्षण अपना कार्य करता है और उपचार से उसके अनुकूल अन्य द्रव्य उसमें निमित्त होता है।

यदि उपादान द्रव्य कार्यरूप परिणमन न करे और निमित्त उस रूप परिणमन करे तो कहा जायगा कि कार्यद्रव्य में मात्र कार्यरूप परिणमन की योग्यता है, किन्तु जब निमित्तद्रव्य उस द्रव्य के कार्यरूप परिणमन करता है, तब वह कार्य होता है। सो बात तो है नहीं, क्योंकि जिस समय उपादान द्रव्य कार्यरूप परिणमन करता है तब उसके निमित्त होने वाला द्रव्य भी अपने कार्यरूप परिणमन करता है, इसलिये कोई किसी की सहायता से परिणमता है यह जिनागम नहीं है। अनुभव आदि के विषय में तो हम पहले ही स्पष्टीकरण कर आये हैं। षड्गुण हानि-वृद्धिरूप कार्य के विषय में हमने यही स्पष्ट लिखा है कि जैसी पूर्वपक्ष की मान्यता है वह जिनागम नहीं है। उपादान और निमित्त के मेल से कार्य नहीं होता, किन्तु उपादान स्वयं कार्यरूप परिणमता है और बाह्य पर्याय युक्त द्रव्य उसमें निमित्त होता है। निमित्त से कार्य हुआ यह उपचरित नय वचन है, परमार्थ ऐसा नहीं है। उपादान ने कर्त्ता बनकर स्वयं कार्य किया, यह परमार्थ है।

यहाँ समीक्षक "मेरी (पं० फूलचन्द की) किस मान्यता को उत्तरपक्ष ने स्वीकार नहीं किया" यह स्पष्ट कर देता तो मैं अपने सहयोगी बन्धुओं से पूछता भी। परन्तु उत्तरपक्ष के दूसरे सहयोगियों का निजि मामला बतलाकर समीक्षक अपने काल्पनिक मंतव्य की पुष्टि में लग जाता है।

आगे पृ. २३० में समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "प्रत्येक वस्तु में प्रति समय कार्योत्पत्ति की स्वाभाविक योग्यतारूप अनेक उपादान शक्तियों का सद्भाव रहता है, उनमें से प्राप्त निमित्तों के अनुसार कोई एक कार्य की उत्पत्ति एक समय में हुआ करती है।"

तो इस सम्बन्ध में जानना यह है कि (१) निमित्त कार्यकाल में होता है कि पहले होता है। (२) दूसरी बात यह जाननी है कि जितने काल में समय है, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य में कार्य-योग्यतायें हैं, तो क्या वे कालविभाग से विभक्त हैं या प्रत्येक समय में एक साथ प्राप्त होती रहती हैं। (३) तीसरी बात यह जाननी है कि जहां कार्य के साथ निमित्त की व्याप्ति है, वहां कार्य पहले हो लेता है, तब निमित्त मिलता है या निमित्त पहले रहता है और बाद में कार्य होता है। या कार्य और निमित्त एकसाथ होते हैं या निमित्त के अभाव में भी कार्य हो जाता है। इन सब बातों का निर्णय होने पर ही स. पृ. २३० में जो विधान किया है, उसे युक्तियुक्त कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। निमित्त को कार्यकाल में मानने पर दोनों एकसाथ हैं, किसी ने किसी को उत्पन्न नहीं किया यही कहा जायेगा।

(१) निमित्त को पहले मानने पर वह उपादान हो जायगा, क्योंकि परीक्षामुख में उपादान को एक ही समय पहले स्वीकार किया है, निमित्त को नहीं।

(२) जितने काल के समय हैं, उतनी जब कार्य योग्यतायें हैं तो वे युगपत प्राप्त न होकर समर्थ उपादान के अनुसार काल के विभाग से ही प्राप्त होती हैं। यदि ऐसा न मानोगे तो जिन निमित्तों की कार्यों के साथ आपके ही मतानुसार व्याप्ति हैं, वे कार्य नहीं बन सकेंगे तथा जो कार्य निमित्तों के बिना पैदा होते हैं, वे कार्य भी नहीं बन सकेंगे।

(३) समीक्षक के मतानुसार सब कार्ययोग्यताओं का युगपत प्रत्येक समय में प्राप्त होना मान लेने पर जितने काल तक प्रेरक निमित्त प्राप्त नहीं होंगे, उतने काल तक तो उस द्रव्य को अपरिणामी ही बना रहना पड़ेगा।

(४) यदि कहो कि उस अवस्था में वह स्वयं अपनी एक योग्यतानुसार परिणमेगा और उस समय जो द्रव्य उपचार से उसके अनुकूल होगा वही, उसमें निमित्त होगा। यदि ऐसा है तो हम कहते हैं कि जब प्रत्येक समय में चाहे प्रेरक कारण मिलो या न मिलो, द्रव्य को स्वयं अपना परिणमन कार्य करना है तो प्रेरक कारण मानने से लाभ ही क्या हुआ, अर्थात् कुछ भी नहीं। तब तो इष्टोपदेश के "धर्मास्तिकायवत्" वचनानुसार द्रव्य के सभी कार्य नियत समय में अपने कार्यानुपाती पद्धति से ही होते हैं यही मानना श्रेयस्कर प्रतीत होता है। और ऐसा मानना आगमानुसारी तो है ही।

(५) यदि समीक्षक कहे कि कहीं उपादान बलवान होता है और कहीं निमित्त बलवान होता है। जहां निमित्त बलवान होता है वहां द्रव्य को निमित्त के अनुसार ही परिणमना पड़ता है, तो हम पूछते हैं कि यहां पर उपादान पद से किसका ग्रहण करते हो — सामान्य द्रव्य का या अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य का? यदि आप कहो कि उपादान तो द्रव्य ही होता है, पर्याय तो उसमें रहती ही है। तो हम पूछते हैं कि ऐसा आप (समीक्षक) किस दृष्टि से कहते हो — प्रमाण से, या द्रव्यार्थिकनय से या पर्यायार्थिक नय से? आप समीक्षक कहोगे कि यह हम द्रव्यार्थिकनय से कहते हैं तो हम (समाधानकर्ता) पूछते हैं कि यह आप मन में सोचे गये कार्य की विवक्षा में कह रहे हो या अगले समय में नियत क्रम से होने वाले कार्य की विवक्षा में कह रहे हो। यदि आप (समीक्षक) कहे कि यह हम मन में सोचे गये कार्य की विवक्षा में कह रहे हैं तो वह तो ठीक नहीं, क्योंकि वह तो आप (समीक्षक) का विकल्प माना है। यदि असमर्थ उपादान के अनुसार अगले समय में होने वाले नियत कार्य की विवक्षा हो तो हम कहते हैं कि यहां प्रत्येक कार्य की अपेक्षा कार्य-कारणभाव का विचार चला है। अतः आपको प्रमाण की अपेक्षा यही मान लेना योग्य है कि सर्वत्र अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य ही उपादान होता है। और वही समर्थ उपादान है, कार्य भी प्रति-समय उसी के अनुसार होता है। कहीं निमित्त बलवान होता है और कहीं उपादान, यह कथन मात्र है।

ऐसा मानने पर सर्वत्र चाहे बुद्धिपूर्वक कार्य की विवक्षा हो और चाहे अबुद्धिपूर्वक कार्य की विवक्षा हो, सर्वत्र एक नियम यही बनता है कि अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य ही उपादान होता

होता है। रही उपादान और प्रेरक निमित्तों को स्वीकार करने की बात, सो जितने भी अजीव पुद्गलादि सम्बन्धी कार्य और जीवों के भी अबुद्धिपूर्वक कार्य होते हैं, उन सबकी विवक्षा से हुए कार्यों में परिगणना हो जाती है। जैसे वायु के प्रवाह को निमित्त कर ध्वजा का फड़कना यह विस्रसा से हुआ कार्य है। तथा प्राणियों के पुरुषार्थपूर्वक जितने भी कार्य होते हैं, उनकी परिगणना प्रायोगिक कार्यों में हो जाती है, किन्तु ये सब कार्य होते हैं अपने अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादान के अनुसार ही।

आप्तमीमांसा अष्टसहस्री में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की कथन के प्रसंग से तथा 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः' इस कारिका के प्रसंग से तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में उपादान का उक्त लक्षण स्वीकार करके ही उपादान-उपादेयभाव रूप से और निमित्त-नैमित्तिक भावरूप से कार्य-कारणभाव की व्याख्या की गई है, ऐसा यहां समझना चाहिये।

समीक्षक ने त.च.पृ. ८२ पर जो सुबोध छात्र और मन्दबुद्धि छात्र का उदाहरण उपस्थित कर अपना मंतव्य सिद्ध करना चाहा है वह योग्य नहीं है। कंकड़ आदि रहित प्रत्येक चिकनी मिट्टी में घट बनने की स्वाभाविक योग्यता है, पर जब तक वह उपादान की भूमिका में आकर स्वतः अपने परिणमन स्वभाव के द्वारा घट भवन रूप परिणाम के सन्मुख नहीं होती है, तब तक वह घट नहीं बनती है। जब इस भूमिका में आ जाती है तो वह स्वयं घटरूप परिणम जाती है और उसमें योग-उपयोग परिणत कुम्हार निमित्त हो जाता है। यह प्रायोगिक कार्य का उदाहरण है। फिर भी इसमें भट्टाकलंकदेवने उपादान-उपादेयभाव और निमित्त-नैमित्तिक भाव को कैसे सुन्दर हृदयग्राही शब्दों में घटित कर लिखा है यह किसी भी विवेकी के हृदय को छूने लायक कथन है। प्रकृत में भी समीक्षक को ऐसा ही समझना चाहिये।

अरे भाई! प्रत्येक वस्तु स्वयं अपना कार्य करने में स्वतन्त्र है। जब इस विवक्षा को जीव स्वीकार करता है, तभी वह अपने प्रयोजनीय कार्य के सन्मुख होता है और बाह्य अनुकूलता भी तभी बनती है। सुबोध छात्र को अध्यापक का मिलना उसकी अनुकूलता नहीं है। इसे गुरू मानकर इसके पास मुझे पढ़ना है यह भाव जब छात्र के होता है, तभी उसके पठन-कार्य में अध्यापक निमित्त होता है! इतना समीक्षक भी समझता है, फिर भी वह अपने कल्पित मन्तव्य की पुष्टि किये जा रहा है और इसे हमारी भूल बतलाकर अपने आप में बड़प्पन अनुभव करता है। और कार्य-कारण-भाव की पदस्थल से अनभिज्ञ व्यक्तियों से भी बड़प्पन का भागी बनता है, किन्तु हम मानते हैं कि किसी बात की योग्यता होना अन्य बात है और उसका परिपाक काल का होना अन्य बात है। आत्मा सर्वज्ञ और समदर्शी स्वयं बनता है, कर्म या गुरु या तीर्थंकर नहीं बनाते। अपना उपयोग स्वभाव आत्मा इनके विकल्पों को छोड़कर जब अपने स्वभावभूत आत्मा को चेतता है तब बनता है। पर जब तक उसके देवादि की पूजा स्तुति आदिका विकल्प रहता है, तब तक वह मुनि होकर भी छठे गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ पाता है। वहीं अन्तमुहूर्त काल तक अटका रहता है या फिर गिर जाता है।

समीक्षक जितना कुछ लिख रहा है वह विकल्प की विवक्षा में लिख रहा है, इसी में वह अपनी इतिश्री मान रहा है। यही कारण है कि वह पक्ष समयसार गाथा ११६ आदि में आये हुए "सयं" पद का "अपने आप" अर्थ करने में हिचकिचा रहा है और सर्वत्र निमित्त की सहायता का विकल्प उसे सभी कार्यों को परतन्त्र बनाने के लिए प्रेरित करता रहता है। और मजे की बात यह है कि ऐसा होने पर भी षड्गुण-हानि-वृद्धि रूप कार्यों को वाह्य निमित्त के विना भी मानने में वह हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करता। जबकि स्वामी समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्र कारिका ६० में लिखते हैं कि "सभी कार्यों में वाह्य और आभ्यंतर उपाधि की समग्रता रहती है। यदि ऐसा न माना जाय तो पुरुष की मोक्ष विधि नहीं वनती। देखो आचार्य महाराज ने कितनी वड़ी वात लिख दी कि आत्मा का मोक्षकार्य आत्माश्रित होने पर भी उसमें वाह्य और आभ्यंतर उपाधि की समग्रता नियम से रहती है।" यह है जिनागम। पूर्वपक्ष से हमारा निवेदन है कि वह इसे समझे और अपने विचारों में सुधार करे। इसी में जिनागम की सुरक्षा है, अन्यथा नहीं।

हमने त. च. पृ. ६०—६१ पर जो अध्यापक अध्यापन सीखने के लिए इत्यादि लिखा है सो हमारे इस कथन का समीक्षक ने निराकरण न करके मेरी समझ से समर्थन ही किया है, अन्यथा वह यह नहीं लिखता कि "परन्तु एकान्त में की गई वह क्रिया अध्यापन सीखने की दृष्टि से कार्यकारी ही है, निरर्थक नहीं।" सो इसका हमने कहां निषेध किया है, क्योंकि उसका एकान्त में सीखना तो उपादान द्रव्य की कार्यरूप परिणति ही है। उसका भला कौन निषेध करेगा। हमारा तो यह कहना है कि प्रत्येक कार्य में जो निमित्त होता है वह उपादान द्रव्य का कुछ भी कार्य नहीं करता, इसलिए इस अपेक्षा से वह अकिंचित्कर ही है। हमारे इस कथन में क्या आपत्ति है इसे वह इतना सव लिखने के वाद भी सिद्ध नहीं कर पाया है, फिर भी उसका समर्थन किये जा रहा है। उससे "यह उपचरित कथन है" ऐसा कहा जाय तो वह उपचार के अर्थ को काल्पनिक विकल्पभिन्न मानने के लिए भी तैयार नहीं दिखाई देता। जबकि आचार्यों ने उपचार को काल्पनिक विकल्पभिन्न स्वीकार करके प्रयोजन के अनुसार उसका कथन किया है। देखो—समयसार गाथा ४७, १०६, १०८ आदि।

हम कार्य-कारणभाव की व्यवस्था का जैसा प्रतिपादन कर रहे हैं वह आश्चर्य की वात नहीं, क्योंकि हम जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनरूप स्वभाव के कारण स्ययं (अपने आप) परिणमती है, यह परमार्थ कथन है। परसापेक्ष परिणमती है, यह उपचार कथन है। आश्चर्य तो हमें इस वात का है कि वह (प्रेरक निमित्तों को) यथार्थ स्वीकार करके द्रव्यार्थिकनय से उपादान स्वीकार कर लेता है और उदासीन निमित्तों को यथार्थ मानकर वह प्रमाण दृष्टि से अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को उपादान स्वीकार कर लेता है। और षड्गुण हानि-वृद्धिरूप कार्यों को अनिमित्तक स्वीकार करके वह उपादान को पर्यायार्थिकनय से स्वीकार कर लेता है। फिर भी वह अपने लिखान से सन्तुष्ट है। इसलिए आश्चर्य तो उसे अपने लिखान का होना चाहियें, हमारे लिखान का नहीं, क्योंकि हमने प्रमाण से माने गये उपादान को स्वीकार करके ही पूरी प्ररूपणा निवद्ध की है। केवल समीक्षक ही निश्चयनय के वक्तव्य को पर निरपेक्ष स्वीकार नहीं करना

चाहता, और इसलिये वह निश्चयनय से की गई कथनी के विरोध में समाज को उखाड़ने से नहीं हिचकिचाता, इसलिए मात्र निश्चयकथनी की सिद्धि आगम ग्रन्थों में कैसे की गई है यह प्रसिद्ध करने के लिये ही हमने ब्र. लाडमलजी के आह्वान पर आमन्त्रण स्वीकार किया था। इसलिए समीक्षक को उस समय किये गये लिखान की ओर देखना चाहिये। विरोध में कुछ भी लिखते रहने से कोई लाभ होने वाला नहीं। इतना वह निश्चय माने कि हम व्यवहार कथनी को भी जानते हैं और परमार्थ कथनी को भी जानते हैं। इसलिए हम असत् आरोपों द्वारा परमार्थ कथनी को अपने जीवन भर मटियामेट नहीं होने देंगे। विशेष क्या निवेदन करें।

कथन नं. १४ स. पृ. २२३ का समाधान :—

समीक्षक ने हमारे द्वारा दिए गए "नियत वाह्य सामग्री नियत आभ्यंतर सामग्री की सूचक होने से व्यवहारनय से आगम में ऐसा कथन किया गया है। इस उत्तर को सीधे मार्ग से न पकड़कर घुमावदार मार्ग से पकड़ना चाहा है।" अर्थात् वह वाह्य सामग्री को जो आभ्यंतर सामग्री का सूचक मानते हैं सो इससे तो कार्योत्पत्ति में वाह्य सामग्री की उसकी मान्य अकिंचित्करता खंडित हो जाती है। लिखा है सो यह केवल समीक्षक की कल्पना मात्र है। समीक्षक ऐसा मानता कहां है जिससे हमारे कथन की हानि मानी जाय। पहले तो उसे 'भूतार्थ रूप से सहायता करता है' इसका अर्थ 'सूचन करता है,' इतना स्वीकार कर लेना चाहिये, उसके बाद ही हमारे ऊपर उक्त दोषारोपण करना ठीक ठहराया जा सकता है।

दूसरे हमारा तो यह कहना है कि वाह्य निमित्त परमार्थ से उपादान का कार्य नहीं कर सकता, इसलिए अकिंचित्कर है। वह उपादान के कार्य में व्यवहार से सूचक है। इसका समीक्षक ने कहां निषेध किया ?

समीक्षक ने जो आधार की पृच्छा की है सो इसका उत्तर हम—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक्॥

अनगारधर्मामृत के इस कथन के द्वारा वार-वार दे आये हैं। इसके द्वारा यही तो कहा गया है कि वस्तु से भिन्न अन्य वस्तु को कर्ता आदि रूप कथन निश्चय की सिद्धि के लिए किया जाता है। आदि समीक्षक को समझना चाहिये कि यह आधार ही तो है। रही हमारी वात सो समीक्षक मात्र आरोप करना जानता है। हमने क्या लिखा है और क्या लिख रहे हैं इस ओर वह यदि ध्यान नहीं देना चाहता तो इसके लिए हम क्या करें।

"व्यवहार से ऐसा कथन किया जाता है।" हमारे इस कथन को यदि वह ठीक मान लेता है तो व्यवहारनय का कथन विकल्प मात्र होने से उसे यह भी मान लेना चाहिये कि "समर्थ उपादान से होने वाले कार्य में वाह्य सामग्री सहायक होती है" ऐसा कहना विकल्प मात्र है-परमार्थ नहीं।

आलापपद्धति के वचन में जो "मुख्याभावे" पद है सो वह वहां मुख्य को गौण करने के अर्थ में है। कार्य में मुख्य का कभी भी अभाव नहीं होता है। यदि मुख्य बालक का अभाव मान लिया जाय तो सिंह का उपचार किसमें करेंगे ? हां वहां सिंहरूप निमित्त का अभाव अवश्य पाया जाता है, परन्तु सिंह के क्रौर्य शौर्य गुण का स्मरण कर बालक को सिंह कहा जाता है। अतएव समीक्षक आलापपद्धति के उक्त वचन का जो अर्थ करता है वह योग्य नहीं है।

कथन १५ (स. पृ. २३४) का समाधान :—

समीक्षक ने जीवित शरीर की क्रिया के दो अर्थ इस समीक्षा में ही किये हैं और इनमें से एक अर्थ के अनुसार वह यह तो मान लेता है कि त च. पृ. ६१ में प्रवचनसार के उद्धरण और मणिमाला के उदाहरण का जो समाधान किया गया है, वह सर्वार्थसिद्धि के "वियोजयति चासुभिः" इत्यादि उल्लेख के अनुसार एक अर्थ को ध्यान में रखकर ही किया गया है; किन्तु हमारी शंका शरीर के सहयोग से होने वाली जीव की क्रिया को जीवित शरीर की क्रिया मानकर प्रकृत में विचार करना था। सो यह बात तो हम मान लेते हैं कि जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रिया तो किसी भी अवस्था में धर्म-अधर्म का कारण नहीं होती। अब रह जाती है शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया, सो शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया दो तरह से होती है — एक तो अन्तरंग मानसिक परिणाम की प्रेरणा से होती है और दूसरी अन्तरंग मानसिक प्रेरणा न होने पर भी होती है। इनमें से जो शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया अन्तरंग मानसिक परिणाम की प्रेरणा से होती है, वह तो धर्म-अधर्म का कारण होती ही है; लेकिन जो शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया अन्तरंग मानसिक परिणाम के विना ही होती है वह भी धर्म-अधर्म में कारण होती है। इसे लक्ष्य में रखकर ही त. च. पृ. ८३ पर अपना कथन किया है। इसतरह उत्तरपक्ष ने उसकी आलोचना में जो कुछ उक्त अनुच्छेदों में लिखा है वह अप्रासंगिक और निरर्थक है।

अपनी इस समीक्षा में यह समीक्षक का कथन है। इसमें उसने जीवित शरीर की क्रिया पद से उसका अर्थ शरीर के निमित्त से होनेवाली जीव की क्रिया किया है। सो इसका सीधा अर्थ होता है कि संसारी जीव जब धर्म या अधर्मरूप परिणत होता है, तब वह शरीर उसमें असद्भूत व्यवहार से निमित्त होता है। यदि द्वितीय दौर में वह पक्ष ही इस बात को स्वीकार कर लेता तो यह विवाद कभी का समाप्त हो गया होता। अब जाकर कोई गति न देखकर इस समीक्षा में वह इस बात को दूसरे शब्दों में स्वीकार करता है इसकी हमें प्रसन्नता है। कहावत भी है कि सुबह का भूला शाम को घर आ जाय तो वह भूला हुआ नहीं कहलाता। सीधी सी बात यह है कि धर्म अधर्म का मुख्य कर्ता आत्मा ही होता है, अन्य परद्रव्य तो उसमें निमित्तमात्र होता है। समीक्षक ने जो मानसिक परिणाम का उल्लेख किया सो वह स्वयं जीवरूप है या पुद्गल रूप ? ऐसा प्रश्न होने पर जीव की क्रिया कहने से उसे जीवरूप ही मानना पड़ता है। और इस दृष्टि से देखने पर

वह जीव की क्रिया अर्थात् परिणति स्वयं व्यवहार धर्म और तत्वतः अधर्म रूप सिद्ध होती है। "उसकी प्रेरणा से" इतना विशेषण लगाने से तो कोई प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता।

कथन १६ (स. पृ. २३४) का समाधान :—

इस कथन में केवली की चलने आदि रूप क्रिया और समुद्घात इन दो मुद्दों को आधार बनाकर समीक्षक लिखता है कि "केवली जिनकी क्रिया प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध रूप कर्मबन्ध का कारण होकर भी नियम से संसारवृद्धि का कारण नहीं होती है। इस अपेक्षा से ही उसे मोक्ष का कारण पूर्वपक्ष ने माना है।" सो समीक्षक का यह विचार पढ़कर मैं अपनी हंसी नहीं रोक सका, कारण कि जो कम से कम एक समय के लिए ही सही संसार में रोक रखने में कारण है उसे मोक्ष का कारण माना जाय यह कैसे हो सकता है? यद्यपि हमने योगनिरोध की चर्चा करके समीक्षक का ध्यान उसकी असावधानी पूर्वक लिखी गई चर्चा की ओर आकर्षित करना चाहा था पर वह अपना पक्ष छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ, इसका हमें खेद है। और फिर उसे विवक्षित बनाकर कथन अपने द्वितीय दौर में ही करना था।

मैंने प्रवचनसार की ४५वीं गाथा सावधानी से पढ़ी है। विवाद उसका नहीं है। विवाद निश्चय और व्यवहार का है। समीक्षक व्यवहार को परमार्थरूप ठहराना चाहता है और हम व्यवहार को उपचरित मान लेने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। जो यथार्थ है, उसे यथार्थ मानो और जो व्यवहार है, उसे विकल्प का विषय मानो यही हमारा कहना है।

और फिर ४५वीं गाथा में तो वह क्रिया न बन्ध का कारण है और न मोक्ष का ही कारण है। योग बन्ध का निमित्त हो सकता है, काय की क्रिया नहीं। संभवत. समीक्षक काय की क्रिया और योग में अन्तर नहीं समझकर अपना वक्तव्य लिख रहा है, जो योग्य नहीं प्रतीत होता।

कथन १७ (स. पृ. २३५) का समाधान :—

त. च. पृ. ९२ में हमने जो कुछ लिखा है, उसे निमित्त बनाकर समीक्षक लिखता है कि "पूर्वपक्ष का प्रश्न शरीर के सहयोग से होने वाली जीव की क्रिया से सम्बद्ध है। उत्तरपक्ष इस बात को अन्त-अन्त तक नहीं समझ पाया है, समझकर भी उसकी उपेक्षा करता आया है।" सो यहां इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि समीक्षक ने जीवित शरीर की क्रिया का जो इस समीक्षा में घुमावदार अर्थ किया है, उसे तीन दौर तक पूर्वपक्ष ने स्वयं कहां किया? कोई गति न देखकर स्वयं समीक्षक यह अर्थ कर रहा है, पर इस अर्थ के करने पर भी इससे तो यही सिद्ध होता है कि वह जीव स्वयं धर्म-अधर्मरूप परिणमता है और संसार अवस्था में शरीर आदि परद्रव्य उसमें बाह्य निमित्त होते हैं।

समीक्षक ने भले ही "शरीर के सहयोग से (निमित्त से) होनेवाली जीव की क्रिया को आत्मा के धर्म-अधर्म में उपचरित हेतु माना है।" पर यहां वह इस बात को भूल जाता है कि

आगम में जीव और आत्मा इन दोनों का एक ही अर्थ है, इसलिए जीव की जो भी परिणाम लक्षण क्रिया होती है वह या तो धर्मरूप होती है या अधर्मरूप होती है। वह स्वयं धर्म और अधर्म है, यह कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं है। रही निमित्त की बात सो एक शरीर ही क्या, कार्यकाल में जिसके साथ जीव के कार्य की त्रिकालव्याप्ति या काल प्रत्यासत्ति बनती है, उसे उस समय निमित्त मानने में आगम से कोई बाधा नहीं आती। देखो *स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ५९।*

समीक्षक ने इसी वचन में "इसलिए उत्तरपक्ष का शरीर की क्रिया को आत्मा के धर्म-अधर्म में उपचरित कारण मानना मिथ्या ही है" यह कैसे लिख दिया, जबकि इसी बात के लिए वह तीन दौर तक उत्तरपक्ष से झगड़ता रहा। और अब सम्हला भी तो धर्म-अधर्म में शरीर को उपचरित हेतु मानने के लिए भी तैयार नहीं दिखाई देता। धन्य है समीक्षक की इस समीक्षा को। वह कब क्या मानेगा और क्या लिखेगा, कौन जाने ?

शंका ३ के पहले दौर की समीक्षा का समाधान

शंका – जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

(१) समीक्षक ने जीवदया को उत्तरपक्ष के अनुसार पुण्यभावरूप तो स्वीकार कर लिया, किन्तु उसने जो यह लिखा है कि "जहां पूर्वपक्ष पुण्यभावरूप जीवदया को व्यवहार धर्मरूप जीवदया की उत्पत्ति में कारण मानता है, वहां उत्तरपक्ष इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।" सो समीक्षक ने हमारे किस कथन से यह अर्थ फलित किया, यह समझ से बाहर है। कारण कि जो जीवदया व्यवहारधर्मरूप है वह अगले समय में होने वाले व्यवहारधर्म का कारण भी है ऐसा स्वीकार करने में हमने किसी प्रकार की बाधा तो उपस्थित की ही नहीं। अस्तु।

(२) जीवदया का अर्थ समीक्षक ने जो निश्चयधर्म किया है और उसकी पुष्टि में धवल पु. १३, पृ. ३६२ के जिस उद्धरण को उपस्थित किया है। उसमें करुणा को जीव का स्वभाव सिद्ध किया गया है।

सो इस सम्बन्ध में पूछना यह है कि जीवदया से यदि समीक्षक पर-दया को लेता है तो उसे निश्चयधर्म मानना नहीं बनता। धवल में जहां करुणा को जीवस्वभाव कहा गया है, वहां "करुणा" पद से स्वयं उसी जीव का स्वभाव धर्म ही लिया गया है, पर-दया नहीं। किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय इसलिये ही इतना स्पष्टीकरण किया है।

(३) अदयारूप अशुभप्रवृत्ति की निवृत्ति कहो या दयारूप शुभ परिणति कहो, वह व्यवहारधर्म तभी कही जायगी, जब वह मोक्षमार्ग के लक्ष्य से की गई हो। और वह निश्चयधर्म का निमित्त भी उसी अवस्था में मानी जायगी, अन्यथा नहीं। वह अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति की निवृत्तिरूप है, मात्र इसलिए वह न तो संवर और न निर्जरा का कारण ही हो सकती है और न ही संवर

निर्जरास्वरूप ही हो सकती है। यदि समीक्षक उसे पुण्यबन्ध का विशेष कारण कहे तो इसमें आगम से कोई आपत्ति नहीं आती, क्योंकि जितना भी शुभरूप भी रागांश है, वह एकमात्र बन्ध का ही कारण है।

अभव्य व्यवहारधर्म के अधिकारी नहीं :— नियम यह है कि जिसने निश्चयधर्म की प्राप्ति की है, उसी के शुभोपयोगरूप परिणाम को व्यवहारधर्म कहते हैं, अन्य के नहीं। मिथ्यादृष्टि के जो व्यवहारधर्म कहा जाता है, वह लौकिकदृष्टि से ही कहा जाता है। आगमिक सुनिश्चित व्याख्या के अनुसार नहीं। अज्ञानी अभव्य का धर्म भोग के निमित्त होता है, इसलिये वह परमार्थ से अधर्म ही है। लौकिक दृष्टि से उसे व्यवहारधर्म कहना हो तो भले कहो।

निश्चय धर्म

निश्चय धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप स्वभाव धर्म है। उसकी प्राप्ति भव्य जीव के अपने ज्ञायक स्वभाव के अवलम्बन से तन्मय होने पर होती है, ऐसा नियम है। इसमें भी सर्वप्रथम जिसने गृहीत मिथ्यात्व को बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया है ऐसे जीव के क्षयोपशम, विशुद्धि और देशनालब्धिपूर्वक प्रायोग्यलब्धि को प्राप्त कर जब यह जीव स्वभाव के आलम्बन से करणलब्धि के सन्मुख होता है, तब अनिवृत्तिकरण लब्धि के काल में मिथ्यात्व का या मिथ्यात्व आदि दर्शन-मोहनीय की दो तीन प्रकृतियों का अन्तरकरणपूर्वक उपशम करके करणलब्धि के समाप्त होने पर उसके स्वभावभूत सम्यक्त्वपर्याय का उदय होता है। यत: इसके सम्यक्त्वप्राप्ति के प्रथम समय में ही अनन्तानुबंधी चतुष्टय का अनुदयरूप उपशम नियम से होता है, अतः उसके प्रयोग द्वारा अपने आत्म-स्वभाव में स्थितिरूप परिणति का भी उदय हो जाता है। इसीलिये समयसार आदि प्रवचनों में पर-निरपेक्ष आत्मानुभूति को सम्यग्दर्शन कहा गया है।

(क) आगम में दया शब्द परदया के अर्थ में भी आता है और वीतरागभाव के अर्थ में भी आता है। यहाँ जीवदया को स्वदयारूप निश्चयधर्म कहना प्रयोजन के अनुसार है। यह समीक्षक ही जाने कि वह किस अर्थ में जीवदया को निश्चयधर्म कह रहा है — स्वदया के अर्थ में या परदया के अर्थ में ; प्रतिशंका २ में उस पक्ष ने जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे सब मिले-जुले प्रमाण हैं। उनसे जीवदया पद से पूर्वपक्ष को क्या अभीष्ट है, यह पता नहीं लगता। यहाँ अवश्य ही समीक्षक यह तो लिखता है कि जीवदया निश्चय धर्मरूप भी होती है, पर वह जीव पद से स्वजीव गृहीत है या परजीव, यह स्पष्ट नहीं करता। अस्तु, उसका अपना विश्लेषण है, उसके लिये वह स्वयं जिम्मेदार है, आगम नहीं।

(ख) समीक्षक ने तो पाँचवें गुणस्थान में जो अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षयोपशम लिखा है, वह ठीक होकर भी इसीलिये ठीक नहीं; क्योंकि क्षयोपशम में देशघाति स्पर्धकों का उदय भी विवक्षित रहता है, जब कि चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में ही अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क की उत्पादानुच्छेदनय की अपेक्षा उदयव्युच्छित्ति हो जाती है।

(ग) समीक्षक ने सातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षयोपशम लिखा है, जब कि पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ही प्रत्याख्यानावरण चतुष्क की उक्त नय की अपेक्षा उदयव्युच्छिति हो जाती है। वहाँ उदय किसका रहता है और लिखा जाता तो ही यह कथन समीचीन माना जाता।

(घ) समीक्षक का कहना है कि "छठवें और सातवें इन दोनों गुणस्थानों में झूलते हुए" उस जीव में यदि सप्तम गुणस्थान से पूर्व ही दर्शनमोहनीय कर्म की उक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्म के प्रथम भेद अनन्तानुवंधी कषाय की उक्त चार इन सात प्रकृतियों का उपशम या क्षय हो चुका हो अथवा सप्तम गुणस्थान में ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव आत्म-सन्मुखतारूप करणलब्धि का सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानों में क्रमशः अध करण और अनिवृत्ति-करण के रूप में और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है आदि।"

यहाँ यह स्पष्ट करना है कि जो पूर्वपक्ष की यह मान्यता है कि "सप्तम गुणस्थान के पूर्व यदि दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुवंधी का उपशम या क्षय न हुआ हो तो सातवें में उनका उपशम या क्षय होता है" यह विचारणीय है, क्योंकि उन प्रकृतियों का क्षय तो सातवें में भी होता है, पर उन प्रकृतियों का उपशम सातवें में भी होता है यह लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम तो मिथ्यात्व गुणस्थान में ही हो जाता है और उसके उदय का अभाव होने पर ही चौथे, पाँचवें या सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यदि अव्रति है तो चौथे की, यदि मिथ्यादृष्टि व्रति श्रावक है तो पांचवें की और यदि द्रव्यलिंगी मुनि है तो सातवे की प्राप्ति होती है। और इन जीवों के क्रम से अनन्तानुवंधी चतुष्क, इसके साथ अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और इनके साथ प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का नियम से उदयाभाव रहता है। दूसरी वात यह है कि एक तो अनन्तानुवंधी चतुष्क का अन्तरकरण उपशम होता नहीं, दूसरी इसका उदयाभाव ही उपशम कहलाता है, पर ऐसा जीव उपशम श्रेणि पर या तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि चढ़ता है या द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि चढ़ता है। और द्वितीयोपशम की प्राप्ति क्षयोपशम सम्यक्त्वपूर्वक होती है। ऐसा जीव अनन्तानुवंधी चतुष्क की विसंयोजना करता है और दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का उपशम करता है, तभी वह उपशम श्रेणि पर चढ़ने का अधिकारी होता हैं।

व्यवहार धर्म के विषय में स्पष्टीकरण :—

न केवल दयारूप शुभ प्रवृत्ति का नाम व्यवहारधर्म है और न ही उदयरूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियों से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में सर्वथा निवृत्ति पूर्वक की जाने-वाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति का नाम व्यवहारधर्म है, क्योंकि ऐसे परिणाम संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय प्रायः सभी जीवों के होते रहते हैं। व्यवहारधर्म मात्र मोक्षमार्गी के ही होता है, ऐसा आगम का नियम है। उसमें भी जो मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करने में सावधान होता है, उसके भी उपचार से व्यवहारधर्म कहा जाता है। यहाँ इतना

विशेष जानना चाहिये कि समीक्षक ने मनोगुप्ति आदि का जो स्वरूप निर्देश किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि मनोगुप्ति आदि सम्यग्दृष्टि संयमी के ही होती हैं।

आगे प्रकरण के बाहर समीक्षक ने जो जीव की भाववती और क्रियावती शक्तियों के विषय में लिखा है, वह प्रकरण बाह्य होने से यहाँ उनके विषय में हम कुछ नहीं लिख रहे हैं।

व्यवहारधर्म और दया :—

जो गृहस्थ सम्यग्दर्शनपूर्वक अहिंसादि पाँच अणुव्रतों को गुरु की साक्षीपूर्वक धारण करता है, उसके व्यवहार धर्म के साथ दयारूप परिणाम सदा ही रहते हैं। वह संकल्पी हिंसा का तो त्रियोग से त्यागी होता ही है, अनर्थदण्डरूप प्रवृत्ति भी उसके नहीं पायी जाती। वह आत्मा के छन्दस्थानीय सम्यक्देव, गुरु और जिनवाणी की उपासना में सदा सावधान रहता है। ऐसे गृहस्थ के ही व्यवहार धर्म के साथ दयारूप परिणाम पाये जाते हैं। इसके सिवाय समीक्षक ने अपने मानसिक व्यायामपूर्वक जो कुछ भी लिखा है, वह सब उसकी कल्पना मात्र है। लौकिक दृष्टि से कुछ भी कहा जाय यह दूसरी बात है।

यहाँ पर समीक्षक ने द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ को उद्धृत कर जो कुछ लिखा है, उसके विषय में मुझे इतना ही लिखना है कि सम्यग्दृष्टि व्रती गृहस्थ के अदया की निवृत्ति ही शुभकर्म में प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म है। वह मोक्षमार्ग को लक्ष्य में रखकर शुभ प्रवृत्तिरूप क्रिया होती है। इसमें मन, वचन और काय इन तीनों द्वारा की गई क्रिया का समावेश हो जाता है। यह सरल भाषा में व्यवहार धर्म का स्पष्टीकरण है।

आगे समीक्षक ने जो आ. वीरसेन द्वारा उल्लिखित "सुह-सुद्ध परिणामेहि" आदि कथन का जो स्पष्टीकरण किया है, आगम के अनुसार वह ठीक नहीं है; किन्तु यहां पर ज्ञानी की सविकल्प अवस्था को शुभ पद द्वारा ग्रहण किया गया है, क्योंकि उस काल में ज्ञानी के स्वभावपरिणति का नियम से सद्भाव पाया जाता है, जो स्वभाव परिणति नियम से कर्मक्षय का हेतु है, किन्तु इस कथन में इतना विशेष जानना चाहिये कि यहाँ स्वभाव परिणति को गौणकर शुभ परिणति की मुख्यता से उसे ही उपचार से कर्मक्षय का हेतु कहा गया है। यह उक्त वचन में आये हुए "शुभ" पद का स्पष्टीकरण है। अब रह गया शुद्ध पद, सो इस पद द्वारा निर्विकल्प अवस्था का मुख्यतया कथन किया गया है, क्योंकि इस अवस्था में ज्ञानी का उपयोग भी स्वभाव को ही अनुभवता है और परिणति भी स्वभावरूप ही वर्तती है। इस प्रकार आ. वीरसेन ने 'शुद्ध परिणामों से' कर्मक्षय कहा है, उसका यह आगमानुसार सम्यक् खुलासा है, जो स्वयं आ. वीरसेन को भी इष्ट था, अन्यथा 'शुभ' पद के साथ वे शुद्धपद नहीं लगाते।

आगे स. पृ. २४५ में समीक्षक ने १२ वें गुणस्थान को ख्याल में रखकर जो शंका उपस्थित की है, उस सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय में न तो रत्नत्रय की पूर्णता ही हुई है और न ही ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय के अनुकूल ध्यान की भूमिका

ही बनी है, अतः १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय में स्वभावभूत निश्चय धर्म का पूर्ण विकास मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय में क्षायिक चारित्र की पूर्णता हो जाती है, परन्तु बाह्य और आभ्यंतर क्रिया का निरोध का नाम ही पूर्ण चारित्र है और वह चौदहवें गुणस्थान में ही प्राप्त होता है, इसलिये १२वें गुणस्थान के प्रथम समय में स्वभावभूत निश्चय धर्म की पूर्णता नहीं होती है, ऐसा यहाँ समझना चाहिये। १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय में क्षायिकज्ञान भी नहीं है, इसको यहाँ विशेष जानना चाहिये।

दूसरे प्रथम गुणस्थान के अन्तिम समय में समीक्षक ने जो सात प्रकृतियों का क्षय लिखा है वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी एक गुणस्थान में होती है। पहले गुणस्थान के अन्तिम समय में मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम या क्षयोपशम नयविशेष से कहा गया है – ऐसा यहाँ जानना चाहिये।

समीक्षक ने जो आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा का अपनी पद्धति से विवेचन किया है, उसके स्थान में आगम में जो इनके स्वरूप और क्रम पर विशेषरूप से प्रकाश डाला गया है, उसके अनुसार ही इनका कथन होना चाहिये। ग्रंथ विस्तार के भय से हम यहाँ पर और विशेष नहीं लिख रहे हैं, और प्रकरण बाह्य होने से हम इस विषय में विशेष ऊहापोह भी नहीं करना चाहते हैं। इतना अवश्य है कि यह सब लिखान समीक्षक की अपनी प्ररूपणा है, आगम ऐसा नहीं है।

हमने परमात्मप्रकाश गा. २७१ को उद्धृत कर लिखा था कि जीवदया को पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नहीं है। इसकी पुष्टि में और भी प्रमाण दिये थे। दूसरे दौर में उस पक्ष ने उसे एक प्रकार से ठीक मानने की घोषणा की थी, समीक्षक साथ में यह भी लिखता है कि उस पुण्यरूप जीवदया का आस्रव और बन्ध में अन्तर्भाव होता है, संवर निर्जरा में नहीं। इसकी पुष्टि में उसका कहना है कि समयसार गा. २६९ में अहिंसा आदि को पुण्यबंध का कारण नहीं कहा है, किन्तु इसके विषय में होने वाली अध्यवसाय को ही पुण्यबंध का हेतु कहा है। सो उसका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अहिंसा के विषय में जो अध्यवसाय होता है, व्यवहार से वही तो अहिंसा है। अहिंसा और उसके विषय में अध्यवसाय ये दो वस्तु नहीं, एक ही हैं। अतएव इस गाथा द्वारा व्यवहारधर्म की ही प्ररूपणा हुई है, परमार्थ की नहीं।

आगे समीक्षक ने शंका उपस्थित करते हुए द्वितीय दौर में जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे सब उसी की पुष्टि में दिये हैं। भले ही उनमें से कोई प्रमाण ऐसा हो जिससे किसी प्रकार निश्चय धर्म फलित किया जा सके, परन्तु समीक्षक ने वहाँ यह बात नहीं लिखी कि हम अपनी मूल शंका में जीवदया पद से निश्चय धर्म को भी ग्रहण कर रहे हैं। मूलशंका का आशय भी यह नहीं था। वहाँ उत्तरपक्ष के मुख से यह कहलाना चाहता था कि जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है, परन्तु जब उत्तरपक्ष ने सम्यक् उत्तर दिया, तब समीक्षा पृ. २४९ में वह यह लिखने लगा कि जीवदया पद से हमारा अभिप्राय व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म और निश्चयधर्म के कारण इन तीनों से था। सो इन

बातों का समाधान यह है कि जीवदया को व्यवहारधर्म मानना भी मिथ्यात्व नहीं है और स्वरूप में स्वदयारूप जीवदया को धर्म मानना भी मिथ्यात्व नहीं है और न ही जीवदयारूप व्यवहारधर्म को उपचार से निश्चयधर्म की उत्पत्ति में निमित्त मानना भी मिथ्यात्व है।

यहाँ जो समीक्षक ने हमारे प्रथम दौर के समाधान को विसंगत और अनुचित आदि लिखा है, सो ऐसी बात द्वितीय दौर में शंका को उपस्थित करते हुए लिखी जानी थी; किन्तु वहाँ तो ठीक मानता गया। उसे शंका तो मात्र जीवदया के संवर और निर्जरा का कारण न मानने में रही, जिसका समाधान उत्तरपक्ष पहले कर ही आया है। अब जो वह उसका अर्थ (स. पृ. २५०) फलित कर रहा है? वही उसकी विसंगति है। अधिक क्या लिखें। अब लिपापोती करने से कोई लाभ नहीं। यह तो एक प्रकार का सम्यक् उत्तर का अपलाप करना है। हमने अपने विषय के समर्थन में परमात्म प्रकाश गा. २७१ और समयसार गा २६६ के जो दो प्रमाण उपस्थित किये थे, वे अर्थपूर्ण या सार्थक थे, उनसे उस द्वारा उपस्थित की गई शंका के ऊपर किये गये समाधान के रूप में जो विपद् प्रकाश पड़ता है, वही मूल शंका का आगमानुसार समाधान है।

शंका ३ के दूसरे दौर की समीक्षा का समाधान

द्वितीय दौर में शंकाकार ने जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे सब पर्यायान्तर से जीवदया को धर्म मानने के समर्थन में ही दिये हैं। ऐसा एक जगह भी पूर्वपक्ष ने नहीं लिखा कि यहाँ पर हम जीवदया पद से स्वदया को भी ग्रहण कर रहे हैं और वह स्वदया निश्चयधर्म रूप है।

(१) आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है (स. पृ. २५१) कि "वह भी इस बात को स्वीकार करता है कि आगम में पुण्यभावरूप जिनबिंबदर्शन, जिनपूजा और जीवदया आदि को कर्मक्षय या मोक्ष का कारण प्रतिपादित किया गया है।" सो आगम में जो इसका प्रतिपादन है, वह निमित्त के रूप में ही है। इनका साक्षात् मोक्ष के कारण के रूप में नहीं। आगे उसने आगम में इनके प्रतिपादित करने के जिन कारणों का निर्देश किया है, वह उसके मन की कल्पना मात्र है। अरे! जिसके संकल्पी हिंसा का त्याग होता है, उसी के जीवदया होती है। व्यवहार से दोनों एक है। थोड़ा बहुत जो भेद है वह प्रवृत्तिमूलक है, अभिप्राय मूलक नहीं। अशुभ प्रवृत्तियों के प्रति घृणा करने से कहीं शुभ प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। अशुभरूप प्रवृत्ति न होने का नाम ही शुभ प्रवृत्ति है। और शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्ति न होने का नाम ही शुद्ध परिणति है, जो स्वभावरूप उपयोग के होने पर ही होती है।

(२) जयधवल के शुद्धभाव के साथ शुभभाव को जो कर्मक्षय का कारण कहा है, वह इस अर्थ में ही कहा है कि जिस आत्मा में शुद्ध परिणति का सद्भाव पाया जाता है, उसी आत्मा में व्यवहारधर्म रूप शुभ परिणति का सद्भाव होता है, अन्य के नहीं। और यह व्यवस्था चौथे गुणस्थान से लेकर १० वें गुणस्थान तक नियम से पायी जाती है। इतनी व्यवस्था है कि चौथे से लेकर छठवें गुणस्थान तक शुभ परिणति की बहुलता रहती है, अर्थात् अधिक काल तक बनी रहती है और

शुद्ध परिणति का सद्भाव बना रहने पर भी स्वयं की अनुभूति क्वचित् कदाचित् होती है, किन्तु ७ वें गुणस्थान से आगे १० वें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक ही संज्वलन कषाय का उदय रहने से उसकी विवक्षा में पर्याय से शुभ परिणति कही जाती है, क्योंकि वहां उपयोग में आत्माश्रित परिणाम का ही सद्भाव पाया जाता है, जो शुद्धोपयोगरूप होता है। समीक्षक ने यहाँ पर जिस रूप में शुद्ध परिणति का स्पष्टीकरण किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि ७ वें गुणस्थान से लेकर अबुद्धिपूर्वक संज्वलन कषाय का सद्भाव रहने के कारण एक मात्र वही बन्ध का कारण है, शुद्धोपयोग नहीं। समीक्षक सर्वत्र निश्चयधर्मरूप जो जीवदया का निर्देश करता है, सो परजीवों की दया पराश्रित भाव है, उसे वह निश्चयधर्म कैसे स्वीकार करता है, यह वही जाने। मालूम पड़ता है कि स्वाश्रित भाव से पराश्रितभाव में क्या भेद है, इसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं गया है।

आगे समीक्षक ने स. पृ. २५२ में जो यह लिखा है कि "पुण्यरूप जीवदया जीव की संकल्पी पापमय अदया से घृणा उत्पन्न होने में सहायक होती है और घृणा के बलपर ही वह जीव उस संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर देता है, इत्यादि।" सो इस कथन से ऐसा लगता है कि संकल्पी हिंसा का त्याग, उसमें घृणा होने से करता है, अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति संसार का कारण है, ऐसा निर्णयकर उसका त्याग नहीं करता। आश्चर्य है कि समता परिणाम को जीवन में उतारने के अभिप्राय वाले जीव के घृणाभाव कैसे कैसे बना रहता है। अहिंसा धर्म है ऐसा मानकर संकल्पी हिंसा का त्याग करना और बात है तथा घृणा के कारण हिंसा का त्याग करना और बात है। यदि वह इस भेद को ठीक तरह से ध्यान में ले ले तो परजीव की संकल्पी हिंसा का त्याग करना व्यवहारधर्म है, क्योंकि उसमें शुभरूप परिणति पायी जाती है। तो वह अपने द्वारा किये गये विश्लेषण को छोड़कर जिनागम के अनुसार शुभभाव का जो अर्थ होता है उसे वह हृदय से स्वीकार करले। समीक्षक ने अपने कथन के आधार पर पुरुषार्थसिद्धयुपाय के पद्य १२१, ११६ और १२४ का जो निष्कर्ष निकाला है, उसका सुतराम् निरसन हो जाता है, क्योंकि परजीव की दया पराश्रित भाव होने से उसमें प्रवृत्ति की मुख्यता पायी जाती है, इसलिये वह मात्र बन्ध का ही कारण है, या स्वयं संवर-निर्जरा स्वरूप है। जयधवल में जो शुभ परिणति को भी संवर-निर्जरा का कारण कहा है, वह उपचार से ही कहा है, क्योंकि परकी जीवदया स्वयं प्रवृत्तिरूप होने से बन्धस्वरूप ही सिद्ध होती है। केवल उसे शुद्ध परिणति की संगति होने से उपचार से वह लाभ मिल जाता है, जो शुद्ध परिणति को स्वीकार किया गया है।

समयसार गाथा १५० और आत्मख्याति टीका को जो वह अपने समर्थन में समझता है सो उसका यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय पराश्रित भाव होने से वह परमार्थ से संवर-निर्जरा का कारण सिद्ध नहीं होता, मात्र उससे बन्ध ही होता है। अन्यथा व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म में कोई भेद ही नहीं रहेगा। व्यवहारधर्म पालन करते हुए ही मोक्ष का अधिकारी बन जायगा। निश्चयधर्म रूप प्रवृत्ति करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। उसके बिना भी व्यवहार धर्म की प्राप्ति हो जायगी, किन्तु ऐसा आगम में स्वीकार ही नहीं किया गया है।

आगे त. च.पृ. ९९ में सम्यग्दृष्टि को अबंधक किस रूप में कहा है, इसका विपद रूप से स्पष्टीकरण हमने पहले किया ही है, परन्तु वह स्पष्टीकरण को पुण्यभाव रूप जीवदया को लक्ष्य में रखकर स्वीकार करता है, सो उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्यभाव रागरूप होता है और सम्यक्दृष्टि ज्ञानभावरूप। सम्यग्दृष्टि के शुभभाव होता है यह और वात है और आत्मा को सम्यक्त्व के कारण स्वभावरूप स्वीकार करना और वात हैं। इससे फलित हो जाता है कि पुण्यभाव आत्मा का स्वभाव नहीं है, परभाव है।

हम्ने त. चर्चा पृ. १०० पर जो मात्र दया को वीतराग परिणामस्वरूप लिखा है, वह ठीक ही लिखा है, क्योंकि जिन सहस्त्रनाम में वीतराग-जिन को जो दयाध्वज कहा गया है, वह इसी आधार पर जीवदया को जो वीतराग परिणामरूप सिद्ध करना चाहता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि दया और जीवदया में वहुत अन्तर है। दया सामान्य शब्द है और जीवदया विशेष। दया से स्वदया का भी ग्रहण हो जाता है परन्तु जीवदया से स्वदया का ग्रहण नहीं होता, परदया का ही ग्रहण होता है। समीक्षक को हमारे कथन पर सम्यक्प्रकार से दृष्टिपात करने के वाद ही अपने इष्टार्थ को फलित करना था। आगे जो उसका कहना है कि हमने पुण्यभूत जीवदया से पृथक् वीतराग परिणतिरूप जीवदया को मान्य कर लिया है, सो उसका ऐसा मानना ठीक नहीं है। इसका विशेष खुलासा इसी पृष्ठ में किया ही है। इसी प्रसंग में समीक्षक ने जो भी कुछ लिखा है वह सव उसका अपना विश्लेषण है, आगम नहीं। उसमें हमें और विशेष कुछ कहना नही।

त. चर्चा पृष्ठ १०० पर हमारे कथन के उत्तर में उसने जो यह लिखा है कि – "परन्तु इसका यह स्वभावभूत ज्ञानस्वरूप परिणमन यथायोग्य कर्म की क्षपणापूर्वक ही होता है" आदि सो उसका ऐसा लिखना व्यवहार कथन है। परमार्थ यह है कि जव स्वयं यह जीव अपने उपयोग में स्वभाव का आलम्वन कर स्वभावरूप ज्ञानस्वरूप परिणमन करता है, तव कर्म की स्वयं क्षपणा होती है। ऐसा इन दोनों का योग है। कोई किसी अन्य के आशय से नहीं होता, यह वस्तुस्वभाव है। अन्य सव कथन अपरमार्थभूत है।

शंका ३ तीसरे दौर की समीक्षा का समाधान

समीक्षक लिखता है कि "आगम पुण्यरूप जीवदया से पृथक् व्यवहारधर्मरूप जीवदया को भी मान लिया गया है" आदि। सो इसका समाधान यह है कि आगम में वीतराग शब्द का पर्यायवाची दया शब्द भी आया है, जीवदया नहीं, क्योंकि जीवदया से परजीवों की दया का वोध होता है, जो परसापेक्ष होने से जिसे आगम में मात्र पुण्यभाव या शुभभाव में ही गर्भित किया गया है। अतएव उसे वन्ध का ही कारण समझना चाहिये, संवर-निर्जरा का कारण नहीं।

हमने शुभभावों की जो प्रशस्त राग के साथ व्याप्ति वताई है वह आगम के अनुसार ही वताई है। यथा—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मं विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदे सो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥ समयसार

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में जो आचार्य अमृतचन्द्र देव ने असंयत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में "येनांशन विशुद्धिः" इत्यादि तीन श्लोक लिखे हैं, उनमें यह बात स्पष्ट कही गई है कि जितने अंश में राग की हानि है, उतने अंश में उसके वन्ध नहीं है। विशुद्धि आत्मस्वभाव को सूचित करती है और निज स्वरूप की प्राप्ति वन्ध का कारण नहीं होती। साथ ही वहां यह भी कहा गया है कि जितने अंश में राग है, उतना उसके वन्ध अवश्य है, क्योंकि वह संयोगलक्षी परिणाम को सूचित करता है, इसलिए वह स्वयं वन्धस्वरूप होने से वन्ध का कारण भी है।

आगे इस प्रकरण में उसने अन्य जितने प्रमाण दिए हैं, वे सब विविधरूप को लिए हुए हैं। परन्तु उनका आशय एक यह है कि उन सब प्रमाणों को जीवदया के समर्थन में मानता है। अन्यथा उसे जीवदया के समर्थन में उन प्रमाणों को नहीं उपस्थित करना चाहिये था, जिनसे वीतरागता का समर्थन होता है।

अपने तृतीय दौर के प्रारम्भ में हमने उपसंहार त. च. पृ. ११०-१११ में जिन पांच अनुच्छेदों का उल्लेख किया है और उन पर स. पृ. २५६-२५७ में जो पुनः प्रतिशंकायें उपस्थित की हैं उनका समाधान इसप्रकार है :—

प्रतिशंकाओं का समाधान :—

(१) हमने अनुच्छेद १ में लिखा था कि "प्रकृत में मूल प्रश्न परदया को ध्यान में रखकर ही है।" इसपर प्रतिशंका करते हुए समीक्षक का कहना है कि वह प्रश्न "परदया अर्थात् पुण्यभावरूप जीवदया को ध्यान में रखकर नहीं है, अपितु सामान्यरूप से जीवदया को ध्यान में रखकर ही हैं।" सो इसका समाधान यह है कि यदि वह जीवदया को सामान्य रूप से स्वीकार करके उसका अर्थ हमारे लिखे अनुसार परदया और स्वदया रूप स्वीकार कर लेता है तो एक प्रकार से उसकी हानि ही है, क्योंकि वह पुण्यरूप शुभभाव को भी मोक्ष का साधकतम कारण मानता है और उससे संवर-निर्जरा भी मानता है। सो जीवदया का यह अर्थ करने से उसकी हानि ही है। हमने जो जीवदया का अर्थ परदया करके उत्तर दिया था, वह यथार्थ है। सामान्य व्यक्ति भी यह जानता है कि जीवदया का अर्थ जीवों पर दया करनी चाहिये, यही होता है। तीन दौर तक उसने स्वयं यह सवाल नहीं उठाया कि जीवदया से हम परदया और स्वदया दोनों को ग्रहण करते हैं, किन्तु जब हमने उपसंहार करते हुए जीवदया के ये दोनों अर्थ किये, तब वह अपनी समीक्षा में हमारे अर्थ को स्वीकार करके यह लिखने लगा कि जीवदया पुण्यवन्ध का भी कारण है और संवर-निर्जरा का भी कारण है। धन्य है समीक्षक की यह चतुराई।

(२) पूर्वपक्ष ने द्वितीय दौर में जो २० प्रमाण दिये हैं, उनका अर्थ मात्र लिखने के वाद यह कहीं नहीं लिखा कि हम जीवदया से स्वभाव को भी ग्रहण करते हैं। इतना अवश्य लिखा

कि "एक अखण्ड पर्याय में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति (राग) दोनों अंश सम्मिलित हैं, अतः उससे आस्रव-बन्ध भी हैं और संवर-निर्जरा भी है।" (त. चर्चा पृ. ११०) सो यह कथन इतना भ्रामक है कि उससे यही फलित होता है कि जिस प्रकार राग आस्रव और बन्ध का कारण है, उसीप्रकार वीतराग भाव भी आस्रव और बन्ध का कारण है। तथा जिसप्रकार वीतराग भाव संवर और निर्जरा का कारण है, उसीप्रकार रागभाव भी संवर-निर्जरा का कारण है, क्योंकि उसने ऐसे सामान्य शब्द को रखकर एक अपेक्षा से उसी बात को स्वीकार किया है, जिसका हमने यहां इसी अनुच्छेद में निर्देश किया है। अन्यथा उसको यह लिखना चाहिये था कि उस पर्याय में जितना प्रवृत्तिरूप अंश है, वह परमार्थ से आस्रव-बन्ध का कारण है और जितना निवृत्तिरूप अंश है, उतना संवर और निर्जरा का कारण है। वह पुण्यभूत जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदया को संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण भले ही माने, परन्तु वह प्रवृत्तिरूप अंश होने के कारण संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण परमार्थ से त्रिकाल में नहीं हो सकता। दूसरे पुण्यरूप जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदया कोई होती है — ऐसा आगम भी नहीं है। जीवों में होनेवाली अदया का अभाव ही जीवदया है, ये दो नहीं, क्योंकि अभाव भावान्तरस्वभाव होता है, ऐसा नियम है। यहां लौकिक जीवदया विवक्षित नहीं।

(३) समीक्षक क्या मानता है, इसका उसने इस समीक्षा में जैसा स्पष्टीकरण किया है, वैसा स्पष्टीकरण पूर्वपक्ष द्वारा तीन दौरों में कहीं नहीं किया गया। यदि पूर्वपक्ष ऐसा स्पष्टीकरण कर देता तो हमें कुछ पागल कुत्तों ने नहीं काटा है, जिससे कि हम पूर्वपक्ष से सहमत न होते। फिर भी समीक्षक जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदया को संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण मानता ही है, जो मात्र संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण न होकर परमार्थ से आस्रव—बन्ध का ही कारण है; क्योंकि उसे आस्रव और बन्ध रूप ही आगम स्वीकार करता है। इसलिए हमारा लिखना उसके द्वारा किसी प्रकार से भी बाधित नही होता।

(४) वह लिखता है कि वह "पुण्य (शुभराग) भावरूप दया को मोक्ष का कारण मानना ही नहीं है" स. पृ. २५८ (यदि यह बात सच है तो स. पृ. २५७) जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्म रूप जीवदया को संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण नहीं लिखना चाहिये था, किन्तु वह झमेले में तो है ही इसलिए कभी कुछ लिखता है और कभी कुछ। और जब सामने कठिनाई उपस्थित हो जाती है तो अपने अभिप्राय को बदलकर ऐसा लिखने लगता है कि यह हमारा आशय नहीं था। इसके लिये हम क्या करें।

(५) इस अनुच्छेद में वह लिखता है कि "पूर्वपक्ष तो पुण्यरूप जीवदया से पृथक् जीव के शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्म के रूप में इसमें कारणभूत व्यवहारधर्म के रूप में ही जीवदया को धर्मरूप स्वीकार करता है।" सो उसके इस वक्तव्य से ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह स्वभावभूत निश्चयधर्म और व्यवहारधर्मरूप जीवदया को एकसमान धर्मरूप स्वीकार करता है, किन्तु उसका ऐसा लिखना ही आपत्ति योग्य है। कहां निश्चयधर्म और कहां व्यवहारधर्म, दोनों को एक समान

धर्म मानना ठीक नहीं है। वह वहाने चाहे जितने करे, परन्तु वह व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म के समान ही धर्म मनवाना चाहता है। पूर्वपक्ष से हमारा मूल विवाद भी इसी विषय में प्रारम्भ से चला आ रहा है। जहां निश्चय धर्म संसार में उत्पन्न होकर भी मोक्ष में भी पाया जाता है, वहाँ पराश्रित व्यवहारधर्म छठवें गुणस्थान तक ही सम्भव है। आगे ध्यान की भूमिका होने से विकल्परूप कषाय का सद्भाव छठवें गुणस्थान के आगे भले पाया जाय, परन्तु विकल्परूप व्यवहारधर्म का वहां अभाव ही रहता है। समीक्षक का कहना है कि व्यवहारधर्म परम्परा से मोक्ष का कारण है, सो यह आरोपित उपचरित कथन है। इससे साक्षात् संवर, निर्जरा. और मोक्ष का कारण कौन इसका समर्थन नहीं होता। उसने अपनी मति से अन्य कथन किया,हैं, प्रयोजनीय न होने से उसकी हमने उपेक्षा कर दी है।

तीसरे दौर पर की गई शंकाओं का पुनः समाधान

(१) त चर्चा पृ. १११ में हमने जो परमात्मप्रकाश गाथा ७१ के आधार पर धर्म पद का अर्थ शुभभाव किया है, उसमें केवल पुण्यरूप दया का ही अन्तर्भाव नहीं होता, अपितु व्यवहारधर्म रूप दयाभाव आदि का भी अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि पुण्यभाव रूप दया और व्यवहारधर्मरूप दया में कोई फरक नहीं है, दोनों एक ही हैं। साथ ही पांचों व्रतों आदि का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

(२) आगे हमारे त. च. पृ. १११ के कथन पर टिप्पणी करते हुए समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "उसे समझना चाहिये था कि परजीवों की दया का विकल्प सम्यग्दृष्टियों और मुनियों का पहले किए गए विवेचन के अनुसार केवल पुण्यभावरूप जीवदया के रूप में न होकर व्यवहारधर्म रूप जीवदया के रूप में ही होता है।" सो उसका यह कथन केवल भ्रम उत्पन्न करने के लिए ही है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के पुण्यभावरूप जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदया कोई दूसरा परिणाम नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के आगमानुसार जब शुभभाव होता ही नहीं, कारण कि अध्यात्म आगम में प्रारम्भ के तीन गुणस्थानों में तारतम्यभाव से केवल अशुभ परिणाम का ही प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि के पुण्यभाव होता है, इसमें संदेह नहीं और सम्यग्दृष्टि के भी व्यवहारधर्मरूप पुण्यभाव होता है, इसमें भी सन्देह नहीं; परन्तु दोनों ही पुण्यभाव परमार्थ से आस्रव और बन्ध के ही कारण होते हैं, संवर-निर्जरा के कारण नहीं। इतना अवश्य है कि मोक्षमार्गी के वह व्यवहार से परम्परागत मोक्ष का कारण कहा जाता है।

(३) हमने त. च. पृ. ११२ पर जो समीक्षक के द्वारा उपस्थित किये गये विविध प्रमाणों को लक्ष्य में रखकर टिप्पणी की है, वह उसके कथनानुसार मिथ्यादृष्टि के पुण्यभाव रूप जीवदया को ध्यान में रखकर ही की है। यह निष्कर्ष उसने कैसे निकाल लिया ? जब कि उसने जितने भी प्रमाण दिये हैं, उनमें बहुत से प्रमाण ऐसे भी हैं, जो गृहस्थधर्म और मुनिधर्म को ध्यान में रखकर संग्रहीत किये गये हैं। अतः जितना भी व्यवहारधर्म है, वह स्वयं पराश्रितभाव होने से परमार्थ से बन्धरूप तो है ही, आस्रव-बन्ध का भी कारण है।

(४) हमने जो कुछ भी पूर्वपक्ष या समीक्षक के कथन को ध्यान में रखकर लिखा है, वह हमारी दूषित वृत्ति का परिणाम नहीं है, किन्तु जब वह सम्यग्दृष्टि और मुनि के जीवदया रूप व्यवहारधर्म को निश्चय की कोटि में रखकर उससे (व्यवहारधर्म से) परमार्थ से संवर-निर्जरा का कथन करता है, तब हमें यही लिखने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि पूर्वपक्ष या समीक्षक संभवतः व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म के समान ही मान रहा है। जहाँ कहीं सम्यग्दृष्टि के व्यवहारधर्म रूप पुण्यभाव को मोक्ष का कारण लिखा भी है, वह निमित्तपने से लिखा गया है अर्थात् उपचार से लिखा गया है।

(५) प्रवचनसार गाथा ६ और ११ के आधार पर हमने जो भी निवेदन किया है, वह हमने बुद्धिपूर्वक ही किया है। व्यवहारधर्म और व्यवहारधर्म का अंश इन दोनों में क्या अन्तर है, इसका वहां पूर्वपक्ष ने कोई खुलासा नहीं किया है। इतना अवश्य है कि उस पक्ष ने इतना मान लिया है कि "अशुभ से निवृत्तिपूर्वक होनेवाला शुभभावरूप व्यवहारधर्म एक अपेक्षा से वह संवर—निर्जरा का कारण है।" सो उसका यह कथन उपचार से ही जानना चाहिये, किन्तु इस पैरा में समीक्षक ने जो कथन किया है, वह पुनरुक्त होने से, अलग से उसपर विचार करना इष्ट नहीं समझा गया। दूसरे उन बातों का उत्तर पहिले ही दिया गया है।

(६) त. च. पृ. ११३ पर जयधवला के "सुह-सुद्ध परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खया-णुवत्तीदो" इस वाक्य का जो हमने खुलासा किया है, वह यथार्थ है। शुभ परिणाम और शुद्ध परिणाम क्रियावती शक्ति का परिणमन नहीं है, किन्तु वे दोनों ही परिणाम यहां भावरूप लिये गये हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि स्वभाव के आलम्बन से जो शुद्ध परिणति होती है, वह तो निश्चय से कर्मक्षय का कारण है ही और उपचार से इस शुभ परिणति को भी कर्मक्षय का कारण कहा जाता है। यहां उपचार का प्रयोजन यह है कि शुभ परिणति रागपूर्वक होती है और राग पराश्रित-भाव है, वह ज्ञानी के विकल्प की भूमिका में अवश्य होता है। यह प्ररूपित करना ही उसका प्रयोजन है। इसलिए परमार्थ से वह आस्रव और बन्धरूप होने से उन दोनों का ही कारण है। समयसारजी में कहा भी है कि—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मं विरागसंपत्तो ॥ १५० ॥

(७) शुभ भाव को यदि वह निर्विवादरूप से परमार्थ से आस्रव-बन्ध का कारण मान लेता तो हमें पंचास्तिकाय गाथा १४७ को उपस्थित कर स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता नहीं पडती, किन्तु जब वह शुभभावरूप व्यवहारधर्म को परमार्थ से संवर-निर्जरा का कारण मानता है तो ऐसी अवस्था में आगम प्रमाण देकर यह सिद्ध करना पड़ रहा है कि किसी प्रकार का और किसी का व्यवहारधर्म क्यों न हो, वह परमार्थ से एकमात्र आस्रव और बन्ध का ही कारण है, क्योंकि वह आस्रव-बन्धस्वरूप है।

(८) समीक्षक ने इस कथन में जितना कुछ लिखा है, वह मात्र पुनरुक्त होने से उसपर विचार नहीं किया जा रहा है। इतना अवश्य कहना है कि "अशुद्ध से निवृत्तिपूर्वक शुभ में प्रवृत्ति

रूप और अन्त में शुभ से भी निवृत्ति रूप व्यवहारधर्मरूप परिणाम" यह जो वाक्य समीक्षक ने लिखा है, वह बड़ा ही भ्रामक ज्ञात होता है, क्योंकि अशुद्ध परिणाम में अशुभ और शुभ दोनों परिणामों का अन्तर्भाव होता है, इसलिये अशुद्ध अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों परिणामों से निवृत्तिपूर्वक तो शुद्ध परिणाम ही होगा। अशुद्ध से निवृत्तिपूर्वक शुभ परिणाम कैसे होगा, यह समझ के बाहर है, आगम भी ऐसा नहीं है। देखो प्रवचनसार गाथा १८१।

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसे।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

दूसरे उसमें जो शुभ से भी निवृत्तिरूप व्यवहारधर्म परिणाम लिखा है, वह भी कल्पना मात्र है, क्योंकि शुभ से निवृत्तिरूप व्यवहारधर्म नहीं होता, किन्तु उससे निवृत्तिरूप निश्चयधर्म ही होता है। कदाचित् वह यह कहे कि शुभ से निवृत्ति होकर अशुभ में भी जीव जा सकता है, सो यह कहने की बात नहीं है।

(९) समीक्षक का जो यह कहना है कि "शुभभाव और शुद्ध भाव के अतिरिक्त तीसरी जीवदया व्यवहारधर्मरूप भी होती है और उस व्यवहारधर्मरूप जीवदया का ही अन्तर्भाव पूर्वोक्त प्रकार आस्रव और बन्ध के साथ संवर और निर्जरा तत्व में होता है, शुद्ध भाव रूप जीवदया का नहीं।" सो आगम तो ऐसा नहीं है, क्योंकि शुभ भाव से भिन्न कोई तीसरा जीवदयारूप व्यवहारधर्म नहीं है, किन्तु शुभभाव ही व्यवहारधर्म है, चाहे वह जीवदयारूप हो या अन्य किसी प्रकार का क्यों न हो। उसने अन्त में "शुद्धभावरूप जीवदया का नहीं।" यह जो वाक्य लिखा है, सो इससे वह क्या कहना चाहता है — यह समझ के बाहर है। शुद्धभावरूप जो स्वदया है, वह तो साक्षात संवर-निर्जरारूप होकर संवर निर्जरा का कारण भी होती हे, इसमें अन्य कोई विकल्प भी संभव नहीं है।

धवल पुस्तक १३ में करुणा को जो जीवरूप भाव कहा है, उसमें विवक्षा विशेष ही कारण है। उससे कोई जीवदयारूप व्यवहारधर्म जीव का स्वभाव नहीं सिद्ध हो जायगा। करुणा जीव-स्वभाव है, उसका विशेष खुलासा त. च. पृ. ११५ में किया ही है।

(१०) समीक्षक ने भावसंग्रह की "सम्मादिट्ठीपुण्णं" इत्यादि ४०७ संख्याक गाथा उपस्थित कर उसके आधार पर जो पुण्य को संवर-निर्जरा का कारण लिखा है, सो उसका ऐसा लिखना इसलिये असंगत है; क्योंकि पुण्य पराश्रित भाव या संयोगीभाव है और मोक्ष जीव का स्वाश्रित परिणाम है। ऐसी अवस्था में पुण्यभाव मोक्ष का कारण माना जाय, उसका अर्थ है कि मिथ्यात्व सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है। हमने जो त. च. पृ. ११५ में "नय विशेष से यह वचन लिखा है" वह योग्य ही लिखा है। यह दुर्भाग्य की बात है कि समीक्षक वस्तुस्थिति को समझे विना कुछ भी लिखता रहता है। लगता है कि उसे तत्त्वहानि की चिन्ता नहीं, अपने पक्ष का पोषण कैसे हो, मात्र इतनी ही चिन्ता है।

(११) उपसंहार रूप में त. च. पृ. ११६ पर हमने जिन चार विकल्पों का निर्देश किया है उन सभी विकल्पों को समीक्षक ने स्वीकार करके भी उन चारों पर अलग-अलग अभिमत व्यक्त

किया है, वह केवल उसकी अपनी कल्पना मात्र है, क्योंकि इन बातों को वह बारबार लिखता आ रहा है। भाववती और क्रियावती शक्ति क्या है और जीव का वीतरागभाव क्या है? इनको समझने के लिये शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

(१२) त. च. पृ. ११६ पर हमने जो यह लिखा है कि "हमें शुभभावों की अवान्तर परिणतियों का पूरा ज्ञान हो या न हो" इत्यादि। इसपर उसका कहना है कि "वह भी शुभभाव से अतिरिक्त उक्त शुभ-शुद्धभावरूप व्यवहारधर्म को न मानने का ही परिणाम है" इत्यादि। सो उसके ऐसे कथन से मालूम पड़ता है कि वह शुभभाव को दो जाति का मानता है। एक शुभभाव वह जो पुण्यरूप होता है और दूसरा शुभभाव वह जो व्यवहारधर्म होता है। इसके साथ ही वह ऐसे व्यवहारधर्म को भी मानता है जो शुभ-शुद्धभावरूप होता है। हमने आगम में यह तो पढ़ा है कि शुभभाव के असंख्यात भेद होते हैं, परन्तु यह नहीं पढ़ा कि शुभभाव दो जातियों में भी विभक्त होता है। और साथ ही यह भी नहीं पढ़ा कि शुद्धभाव स्वाश्रित होते हुए भी व्यवहारधर्म की जाति का होता है। उस पक्ष की उक्त बातों को पढ़कर ऐसा लगता है कि वह अपने मत की पुष्टि के लिये एक नये आगम की सृष्टि कर रहा है। यद्यपि हम यह मानते हैं कि मिथ्यादृष्टियों के भी पुण्यभाव होता है, परन्तु जैसे वह आस्रव और बन्ध का कारण माना गया है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि का व्यवहार-धर्म रूप पुण्यभाव भी परमार्थ से आस्रव और बन्ध का कारण माना गया है। समीक्षक कहेगा कि भावसंग्रह गा. ४०४ में सम्यग्दृष्टि के पुण्य को जो संसार का कारण नहीं कहा है सो "वह इसलिये नहीं कहा है कि सम्यग्दृष्टि पुण्य करते-करते मोक्ष चला जायगा।" उसका आशय केवल इतना ही है कि सम्यग्दृष्टि के जो पुण्यभाव होता है, वह अल्प स्थिति-अनुभाग का आस्रव-बन्ध करनेवाला होता है, तथा उस पुण्य भाव से पापकर्मों का आस्रव-बन्ध न होकर विशेष पुण्य-प्रकृतियों का ही आस्रव-बन्ध होता है, और अनुभाग बन्ध विशेष होता है। सो इसका इतना ही अर्थ है कि सम्यग्दृष्टि का जो व्यवहारधर्म होता है वह भले ही अल्प स्थिति वाला हो, पर है वह परमार्थ से संसार कारण ही।

(१३) समीक्षक अपने को लक्ष्य में रखकर लिखता है कि "उसने कहीं पर भी यह नहीं कहा है कि रागभाव बन्ध का कारण नहीं है तथा यह भी नहीं कहा है कि रागभाव मोक्ष का कारण है।" सो उसका ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि जब वह सम्यग्दृष्टि के पुण्य को मोक्ष का कारण मान लेता है, तब उसके मत से रागभाव भी मोक्ष का कारण सिद्ध हो जाता है, क्योंकि पुण्यभाव रागरूप ही होता है।

उसने दूसरी बात जो यह लिखी है कि "रागांश और रत्नत्रयांश में मिश्रित अखंडभाव को स्वीकार किया है, परन्तु अखण्ड एकत्व नहीं स्वीकार किया है" सो यह केवल उस पक्ष का कथन मात्र है, क्योंकि जब वह आस्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरा इन दोनों को मिश्रित भाव का कार्य मान लेता है तो मिश्रित भाव में शुभभाव भी आ जाता है और वह आस्रव-बन्ध का कारण ठहर जाता है, जो युक्तियुक्त नहीं है तथा आगम भी इसे स्वीकार नहीं करता। देखो समयसार कलश।

समीक्षक ने त. च. पृ. १०१ का उल्लेख करके जो लिखा है, सो उसका समाधान पहले ही कर आये हैं। पुनः उस विषय में लिखना पुनरुक्ति मात्र है।

समीक्षक ने त. च. पृ. १०३ पर जो यह लिखा है कि "वह पक्ष केवल पुण्यभावरूप जीवदया को ही नहीं, अपितु व्यवहारधर्मरूप जीवदया के अंशभूत पुण्यमय दयामय प्रवृत्ति को भी बन्ध का ही कारण मानता है।" सो उसके इस कथन से ऐसा लगता है कि वह शुद्ध भाव को भी व्यवहारधर्मरूप मानता है। जबकि शुद्धभाव अभेद विवक्षा में परनिरपेक्ष स्वयं आत्मा ही है। पर्यायार्थिकनय की विवक्षा में भी निश्चय पर्यायरूप ही होता है, व्यवहार धर्मरूप नहीं।

यहां इतना विशेष कहना है कि समीक्षक व्यवहारधर्म को आस्रव-बन्ध का कारण मान करके भी संवर-निर्जरा का भी कारण मानता है; किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। जहां भी प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों को आगम में एक शब्द द्वारा कहा है, वहां उसका व्यवहारधर्म ऐसा विशेष नाम नहीं रखकर सामान्य शब्द द्वारा ही उसका बोध कराया गया है। इसके लिये तत्वार्थसूत्र अ.—९ सू.—२ प्रमाणरूप में उपस्थित किया जा सकता है। वह सूत्र इसप्रकार है—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।

व्यवहारधर्म यह शब्द पराश्रित धर्म को ही सूचित करता है, जब कि उक्त सूत्र में आया हुआ प्रत्येक शब्द न तो पराश्रित धर्म को सूचित करता है और न ही केवल स्वाश्रित धर्म को ही सूचित करता है। समिति आदि में प्रवृत्तिरूप जितना अंश है, वह आस्रव-बन्ध का कारण है और निवृत्तिरूप जितना अंश है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। समिति आदिरूप शब्द प्रयोग ऐसा है, जो सामान्य अर्थ का बोधक है।

त. च. पृ. ११७ से १२० तक हमने विविध प्रमाणों के आधार से जितना भी विवेचन किया है, उससे समीक्षक के कथन का समर्थन न होकर हमारे ही कथन का समर्थन होता है, क्योंकि उक्त कथन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्यवहारधर्म अर्थात् पराश्रित धर्म एकमात्र आस्रव-बन्ध का ही कारण है और निश्चयधर्म एकमात्र संवर-निर्जरा का ही कारण है। अखण्ड मिश्रित भाव को व्यवहारधर्म कहना, यह मात्र समीक्षक द्वारा अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये मार्ग निकालना ही है।

(१४) हमने त. च. पृ. १२० पर यह लिखा था कि चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक आत्मानुभूति होती ही नहीं, यह मानना आगम-विरूद्ध है। इसपर समीक्षक का कहना है कि "अशुभोपयोग अधर्म सापेक्ष है तथा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनों धर्मसापेक्ष हैं।" सो पूर्वपक्ष का ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि आगम में अशुद्धोपयोग अशुभोपयोग और शुभोपयोग के भेद से दो प्रकार का माना गया है। उनमें से शुभोपयोग या शुभप्रवृत्ति का नाम ही व्यवहारधर्म है। शुद्धोपयोग और धर्म इन दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, धर्म व्यापक है और शुद्धोपयोग

उसका व्याप्य है, क्योंकि स्वाभाविक परिणति का भी स्वभावभूत धर्म में अन्तर्भाव हो जाता है। शुभोपयोग के विषय में प्रवचनसार गा. ६९ में लिखा है – जो देव, गुरू और यति की पूजा में, दान में, सुशील में और उपवादसादि में लीन है, वह आत्मा शुभोपयोगी होता है। व्यवहारधर्म भी इसी का नाम है। यहां अशुद्धोपयोग दो प्रकार का है, इसका खुलासा करते हुए प्रवचनसार गा. १५६ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में लिखा है –

उपयोगोहि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति। यद्यतु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गा. १५५ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में लिखा है –

अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरूपरागः अशुद्ध सोपरागः स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च।

स. पृ. २६८ में समीक्षक लिखता है कि "सप्तम गुणस्थान की सातिशयाप्रमत्त दशा से लेकर दशमगुणस्थानवर्ती जीव के उपयोग को शुद्धोपयोग न कहकर शुद्धोपयोग की भूमिका कहने में हेतु यह है कि इन गुणस्थानों में भी जीव प्रतिसमय यथायोग्य कर्मों का आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकार का बन्ध करता है, जो बन्ध शुभोपयोग से प्रभावित जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप मनोयोग, वचनयोग और काययोग के आधार पर ही संभव है। इस तरह दशम गुणस्थान तक के जीवों में शुभोपयोग की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है। फ़लतः अशुभोपयोग का सद्भाव रहते हुए वहां शुद्धोपयोग का सद्भाव होना असंभव ही जानना चाहिये, क्योंकि जीव में दो उपयोग एक साथ कदापि नहीं होते हैं।"

यह समीक्षक का कहना है। इससे मालूम पड़ता है कि वह सविकल्प धर्मध्यानरूप शुभोपयोग को दसवें गुणस्थान तक स्वीकार करता है, जबकि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक से ज्ञात होता है कि श्रेणिपर आरोहण करने के पूर्वतक धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों में शुक्लध्यान होता है। यथा –

श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्मध्यानं श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति व्याख्यास्यामः।

इससे मालूम पड़ता है कि शुद्धोपयोग का सद्भाव आठवें गुणस्थान से नियम से पाया जाता है, इसके पूर्व बहुलता से शुभोपयोग होता है और कदाचित् चौथे गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक स्वानुभूति भी होती है (जो एकप्रकार से शुद्धोपयोगरूप ही मानी गई है।) इतनी विशेषता है कि सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग ही होता है। नयचक्र में धर्मध्यान के दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं – एक सविकल्प धर्मध्यान और दूसरा निर्विकल्प धर्मध्यान। सविकल्प धर्मध्यान का नाम ही शुभोपयोग

है और निर्विकल्प धर्मध्यान का नाम शुद्धोपयोग भी है। जहाँ कहीं आगम में स्वानुभूति या आत्मानुभूति शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे भी शुद्धोपयोग को भिन्न नहीं जानना चाहिये जहा, भी दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान कहा गया है वहाँ वह कषायांश की अपेक्षा ही कहा गया है।

समीक्षक का स. पृ. २३९ में जो यह कहना है कि "धर्मध्यान में तो शुभोपयोग ही होता है, साथ ही पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान में शुभोपयोग ही होता है, उसमें भी शुद्धोपयोग नहीं होता। अन्यथा वहाँ अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति होना असंभव होगा। पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान शुद्धोपयोग भी माना जाये और अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति भी मानी जाये; ये दोनों बातें अखण्ड और निर्विकल्प शुद्धोपयोग करते हुए संभव नहीं है।"

समीक्षक का ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भावसंवर को दृष्टि में रखकर जो यह लिखा है कि शुद्ध निश्चयनय में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव ध्येय होता है, अतः शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध का अवलम्बन होने से और शुद्ध आत्मस्वरूप रूप होने से शुद्धोपयोग बन जाता है। यथा —

अत्र तु शुद्धनिश्चये शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठतीति, शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते।

यह भाव संवर का स्वरूप है। इसकी प्राप्ति चौथे गुणस्थान आदि सभी गुणस्थानों में होती है। अन्यथा स्वभाव का अवलम्बन लिये बिना कर्मों की क्षपणा नहीं हो सकती। आगम में यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के काल में स्वानुभूति नियम से होती है। इसी बात को ध्यान में रखकर प्रवचनसार गा. २३७ की तत्वप्रदीपिका टीका में लिखा है —

असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिस्वरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्। ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।

असंयत के यथोक्त आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान और यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान क्या करेगा ? इसलिये संयमशून्य श्रद्धान-ज्ञान से सिद्धि नहीं होती।

यह एक ऐसा प्रमाण है, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आत्मानुभूति चौथे गुणस्थान में नियम से होती है और हम यह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं कि आत्मानुभूति यह नाम भेद होने पर भी शुद्धोपयोग ही है और भावसंवर भी उसी का नाम है, क्योंकि भावसंवर के विषय में आचार्यों ने यह स्पष्ट लिखा है कि जिसमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के भाव नहीं होते, उसका नाम भावसंवर है। यथा —

शुभाशुभभावनिरोधः संवरः अनगारधर्मामृत, अ. २ श्लोक — १

पंचास्तिकाय की टीका में भी यही बात कही गई है।

इसलिये समीक्षक का जो यह कहना है कि दसवें गुणस्थान तक शुभोपयोग ही होता है, सो उसका ऐसा लिखना एकान्त से आगमानुकूल नहीं है। उसका जो यह कहना है कि अर्थ, व्यंजन

और योग संक्रान्ति शुभोपयोग में ही घटित होती है, शुद्धोपयोग में नहीं, सो उसका ऐसा लिखना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माश्रितपने से परवस्तु में इष्ट अनिष्ट बुद्धि के हुए विना भी उपयोग व योग के वदलने से विषय और परिस्पंद का वदलना सम्भव है, क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान का काल अन्तर्मुहूर्त होने से उपयोग नियम से बदलता है। जितना सातवें से लेकर दसवें गुणस्थान तक का काल आगम में वतलाया है, उतना ही एक उपयोग का काल हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है, उससे कम है।

दूसरी बात यह है कि पंचास्तिकाय में जो भावसंवर का लक्षण किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परवस्तु में इष्टानिष्ट बुद्धि के नहीं होने पर चतुर्थ गुणस्थान में भावसंवर की प्राप्ति होने में कोई वाधा नहीं आती। पंचास्तिकाय का वह लक्षण इस प्रकार है —

मोह-राग-द्वेष परिणामनिरोधी भावसंवरः। गा. १४२

मोह, राग और द्वेषरूप परिणामों का निरोध होना भावसंवर है।

इससे भी यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भावसंवर अर्थात् स्वानुभूति या शुद्धोपयोग चौथे आदि गुणस्थानों में भी होता है।

यदि वह कहे कि चौथे गुणस्थान में स्वानुभूति नहीं होती, सो उसका ऐसा कहना आगम-विरुद्ध है; क्योंकि चौथे गुणस्थान में स्वानुभूति होती है, इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए प्रवचनसार गाथा २६७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में लिखा है —

असंयतस्य च यथोदितात्मतत्व प्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्म तत्वानुभूतिरूपं ज्ञानं किं कुर्यात्। ततः संयम शून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।

असंयत के यथोक्त आत्मतत्व की प्रतीति रूप श्रद्धान तथा यथोक्त आत्मतत्व की अनुभूति-रूप संयमशून्य ज्ञान, संयम के अभाव में क्या कर सकता है? इसलिए केवल संयमशून्य श्रद्धान तथा ज्ञान इन दोनों से भी सिद्धि नहीं होती।

इससे स्पष्ट है कि आत्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग चतुर्थ आदि गुणस्थानों में भी संभव है। सातवें गुणस्थान से तो वह नियम से ही होता है।

यद्यपि धवला पु. १३ में आचार्य वीरसेन ने दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान का उल्लेख अवश्य किया है, पर इस पर से कोई यह समझे कि दसवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोगरूप धर्मध्यान ही होता है, सो उक्त कथन का यह आशय नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम पहले संकेत कर आये हैं कि धर्मध्यान सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से छठवें गुणस्थान तक तो दोनों प्रकार का धर्मध्यान संभव है। पर सातवें गुणस्थान से मात्र निर्विकल्प धर्मध्यान ही होता है। और ऐसा स्वीकार करने पर सभी आगमों में ध्यान के उत्तर दो भेद स्वीकार कर लेने पर भी एकरूपता बन जाती है। साथ ही निर्विवाद ध्यान के काल में अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रांति बन जाती है — ऐसा मानने में भी कोई वाधा नहीं आती। इतना अवश्य है कि धवला पुस्तक १३ में राग की अपेक्षा दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान कहा है और सर्वार्थसिद्धि आदि में स्वाश्रितपने की

अपेक्षा आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान कहा है, क्योंकि आठवें गुणस्थान से लेकर राग का उद्यम होने पर भी जीव का उपयोग आत्माश्रित ही प्रवर्तता है, रागाश्रित नहीं प्रवर्तता। आगे स. पृ. २७० पर उसने जो यह लिखा है कि "शुभोपयोग स्वयं साक्षात् आस्रव है और उक्त प्रकार के बन्ध का कारण नहीं होता। अपितु शुभोपयोग से प्रभावित योग ही आस्रव और उक्त प्रकार के बन्ध का साक्षात् कारण होता है तथा योग का निरोध संवर का कारण होता है। और निर्जरा तो क्रियावती शक्ति के परिणमन स्वरूप तपश्चरण से अविपाकरूप से होती है व निषेकरूप से सविपाकरूप से स्वतः हुआ करती है। सम्यग्दर्शनादिरूप विशुद्धि संवर-निर्जरा का कारण नहीं होती है।"

सो उसका समाधान यह है कि योग को आस्रव स्वीकार करके उससे द्रव्यकर्म का आस्रव भले ही स्वीकार किया जाय पर स्थितिबंध और अनुभागबन्ध का प्रमुख कारण अशुभोपयोग या शुभोपयोग या अशुद्ध उपयोग ही है और वह मुख्यता से बुद्धिपूर्वक राग के होने पर ही होता है। अबुद्धिपूर्वक अवस्था में स्थिति भिन्न प्रकार की भी होने की संभावना बनी रहती है – ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए, इसमें संदेह नहीं। इसीलिए समयसार का वचन है – "रत्तोबंधदि कम्मं"। आस्रव में केवल योग का ही ग्रहण नहीं है, अपितु उसमें शुभोपयोग अशुभोपयोग या अशुद्ध उपयोग, इन सबका ग्रहण हो जाता है। इसी से इस संसारी जीव की अशुद्ध परिणति बनी रहती है। अन्यथा ११ वें आदि गुणस्थानों में केवल योग का सद्भाव होने पर स्थितिबंध और अनुभागबन्ध भी होना चाहिए। विचार कर देखा जाय तो सविकल्प अवस्था में योग में भेद का कारण शुभ और अशुभ भाव ही है। वैसे स्वयं योग सामान्य से एक प्रकार का है, इसलिए संवर और निर्जरा का मुख्य कारण रत्नत्रय ही जानना चाहिये। तत्वार्थसूत्र अ. १ सूत्र १ में इसीलिए रत्नत्रय को मोक्ष का कारण (मोक्षमार्ग) कहा गया है। समीक्षक ने जो तपश्चरण को निर्जरा का कारण कहा है तो उससे क्रियावती शक्ति के परिणमन को मुख्यतया से ग्रहण न कर इच्छानिरोधरूप तप को ही ग्रहण करना चाहिये। उपयोग के आत्मस्वरूप के अनुभव के कालसे ही इच्छा का निरोध होना संभव है और यही परिणाम स्वयं संवर और निर्जरास्वरूप होने से वह स्वयं संवर और निर्जरा का कारण भी है।

त. च. पृ. १२१ के आधार से स. पृ. १३९–४० में उसने जो कुछ भी लिखा है, वह इसीलिये ठीक नहीं है, क्योंकि योग का निरोध तो तेरहवें गुणस्थानतक नहीं होता। शुभोपयोग का निरोध अवश्य ही ६ वें गुणस्थान में हो जाता है। इसलिये यहाँ तक यथायोग्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग यथासंभव ये बंध के कारण हैं। आगे मात्र कषाय और योग बन्ध के कारण हैं, यह आगम है। उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने विचारों के अनुसार आगम गढ़ने का प्रयत्न न करें, किन्तु आगम के अनुसार अपने विचारों को मूर्तरूप देने की कृपा करे।

त. च. पृ. १२१ आदि में हमने जो आत्मानुभूति के चतुर्थादि गुणस्थानों में होने का विधान किया है, सो वह सप्रमाण है; क्योंकि सम्यग्दर्शन स्वभावपर्याय है, इसीलिए वह स्वभाव के आलम्बन

से होती है और जब स्वभाव के आलम्बन से उपयोग परिणाम होता है, तब उनका अनुभव होना अवश्यंभावी है। इसमें हमें अपने विचारों में संशोधन नहीं करना है, किन्तु अपरपक्ष को ही अपने विचारों में संशोधन करना है।

हमने तो त. चर्चा पृ. १२१ में शुभोपयोग को परमार्थ से संवर और निर्जरा का विरोधी लिखा है, सो वह ठीक ही लिखा है, क्योंकि शुभोपयोग पराश्रित भाव है अर्थात् परलक्षी परिणाम है, इसलिए वह परसयोगीभाव[1] होने के कारण परमार्थ से संवर और निर्जरा का साधक कैसे हो सकता है? अर्थात् त्रिकाल में नहीं हो सकता। कदाचित् शुभराग को आगम में संवर और निर्जरा का साधक कहा भी है तो वह उपचार से ही कहा गया है, परमार्थ से नहीं। इस प्रसंग में समीक्षक ने अन्य जो कुछ भी लिखा है, वे आगम न होकर उसके मनके विकल्प मात्र हैं। विशेष स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं।

त. च. पृ. १२२ में मेरे कथन को उद्धृत कर समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव के जो असंख्यातगुणी निर्जरा आदि कार्य होते हैं, वे सब कार्य करणलब्धि के प्रभाव से ही होते हैं। इतना अवश्य है कि उस करणलब्धि का विकास उस जीव में शुभापयोगपूर्वक ही होता है, इसलिए परम्पर्या शुभोपयोग भी उसमें कारण होता है।" सो मालूम पड़ता है कि पूर्वपक्ष अभी तक यह भी निर्णय नहीं कर पाया कि शुभोपयोग कहते किसे हैं। शुभोपयोग पराश्रित या परसंयोगी भाव है और आत्मस्वभाव के सन्मुख परिणाम उससे भिन्न जाति का है। उसे जैसे शुद्धोपयोग नहीं कह सकते, वैसे उसे शुभोपयोग भी नहीं कह सकते हैं। वह ऐसा उपयोग है, जिसके अनन्तर नियम से आत्मानुभूति होनेवाली है। यह वही परिणाम है, जो असंख्यातगुणी निर्जरा का साधक है।

(१५) हमने त. च. पृ. १२२ पर यह लिखा है कि "निश्चय दया वीतराग परिणाम है, वही आत्मा का यथार्थ धर्म है, सराग परिणाम आत्मा का यथार्थ धर्म नहीं है। इस पर समीक्षक का कहना है कि जीव की क्रियावती शक्ति के परिणामस्वरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी शुभ-शुद्धरूप व्यवहार धर्म के रूप में यथार्थ ही है, कल्पनारोपित नहीं है। आदि।" सो उसके इस कथन से यह ज्ञात होता है कि वह पक्ष योगप्रवृत्ति को शुभ-शुद्धरूप स्वीकार करके उसे व्यवहारधर्म कहना चाहता है, किन्तु उसका ऐसा लिखना ठीक नहीं है; क्योंकि योगप्रवृत्ति स्वयं न शुभ होती है और न ही शुद्ध होती है। आगम में जो व्यवहारधर्म कहा है, वह मोक्ष की इच्छा से देवादि के प्रति प्रशस्त रागपूर्वक प्रवृत्ति का नाम व्यवहारधर्म है और वह पराश्रितभाव होने से शुभ ही होता है शुद्ध नहीं, इसलिये वह परमार्थ से आस्रव और बन्ध का ही कारण है, संवर और निर्जरा का नहीं।

(१६) त. च. पृ. १२४ में हमने सम्यग्दृष्टि के शुभभावों के सम्बन्ध में जो भी लिखा है, उस पर समीक्षक का कहना है कि "यदि उत्तरपक्ष प्रकृत में पूर्वपक्ष को स्वीकृत पुण्य, व्यवहारधर्म, और निश्चयधर्म को समझने की चेष्टा करता तो उसे यह समझ में आ जाता कि पूर्वपक्ष का वह

१. अनात्मनीनं आत्मभावः संयोगः। मूलाचार

कथन व्यवहारधर्म से ही संवन्ध रखता है, मात्र पुण्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि आगम में मात्र शुभभावों को भी वीतरागता और मोक्ष प्राप्ति का अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक जो शुभ प्रवृत्ति होती है, वह यदि सम्यग्दृष्टि की परिणति है तो वह व्यवहारधर्मरूप कही जाती है। यतः वह शुभ प्रवृत्ति होती है, अतः वह आस्रव और वन्ध का ही हेतु मानी गई है, यह औदयिकभाव है। यहाँ हमने क्रियावती और भाववती शक्ति का भेद नहीं करके विवेचन किया है, क्योंकि भाव तो क्रिया के होने में निमित्त मात्र है। यह क्रिया भी कहीं-कहीं भाव के होने में निमित्तमात्र होती है। दया और अदया ये जीव के परिणाम हैं, क्रिया नहीं। इनके निमित्त से क्रिया अवश्य होती है, जिसमें शुभअशुभ का व्यवहार कर लिया जाता है। वह व्यवहार उपचरित ही। देखो सर्वार्थसिद्धि अ. ६, पृ. ४।

यहाँ उस पक्ष ने जो दया को उपशम, क्षय और क्षयोपशमपूर्वक लिखा है, सो उसका ऐसा लिखना इसलिए संगत नहीं है; क्योंकि एक ओर तो वह उसे व्यवहारधर्मरूप शुभभाव कहता है, जो चारित्रमोहनीय के उदय से होता है और दूसरी ओर वह उसे औपशमिक आदि रूप भी कहता है, यह परस्पर विरोधी कथन है, जिसे आगम के अनुसार स्वीकार नहीं किया जा सकता। आगम में सर्वत्र शुभ और शुद्ध भावों में यही भेद है कि शुभभाव चारित्रमोहनीय कर्म के उदय को निमित्तकर सम्यग्दृष्टि के होता है और शुभभाव कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम को निमित्त कर चौथे गुणस्थान से होता है।

चतुर्थ दौर की प्रतिशंका ४ का समाधान

शंका—व्यवहारधर्म निश्चयधर्म में साधक है या नहीं ?

धर्म का लक्षण —

"वस्तुस्वभाव का नाम धर्म है, उस स्वभावरूप धर्म की प्राप्ति स्वयं आत्माश्रित रत्नत्रय की प्राप्ति से ही होती है, इसलिए उसे अभेद विवक्षा में निश्चयधर्म भी कहते हैं। द्रव्यानुयोग के एक भेद अध्यात्म में इस विषय का गहराई से विचार किया गया है। करणानुयोग और चरणानुयोग शास्त्र की प्ररूपणा का आधार भिन्न है। करणानुयोग में कर्म को निमित्तकर जीव की विविध अवस्थाओं का विवेचन परंपरया हेतु बतलाया गया है तथा व्यवहारधर्मरूप शुभ भावों को निश्चयधर्मरूप वीतरागता का और मोक्षप्राप्ति का हेतु बतलाया है" आदि

यह उसका कहना है। आगम में शुभभाव रूप व्यवहारधर्म को मोक्षप्राप्ति का परंपर्या हेतु बतलाया है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि जो सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहारधर्मरूप प्रवृत्ति करता है, उसके सम्यग्दर्शन रूप स्वभावभाव को निमित्त कर संवर-निर्जरा होती है और उसके साथ रहनेवाला व्यवहारधर्म यद्यपि आस्रव और वन्ध का ही कारण है, फिर भी सहचर संबंधवश या स्वभावभाव का निमित्त होने से वह परम्पर्या मोक्ष का हेतु है, उसमें यह उपचार कर लिया जाता है। रहा मिथ्यादृष्टि का पुण्यभाव, सो वह तो मात्र आस्रव और वन्ध का ही कारण है, इसमें संदेह नहीं।

यदि वह पक्ष यही मानता हो तो उसे यही लिखना चाहिए था। इस प्रसंग से एक बात हमें अवश्य कहनी है और वह यह कि वह पक्ष स्वयं ही व्यवहारधर्म को जब मात्र शुभभाव ही लिख रहा है, ऐसी अवस्था में उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि शुभभाव तो औदयिक भाव है – ऐसी अवस्था में वह संवर-निर्जरा का हेतु कैसे माना जा सकता है, क्योंकि मोहनीयकर्म जनित जितने भी औदयिक भाव हैं, वे सब स्वयं संसाररूप होने से आस्रव-बन्ध के ही कारण हैं।

हमने कहीं भी शुभभावों को व्यवहार हेतु लिखकर उन्हें कथनमात्र नहीं कहा है। यह उस पक्ष का हमारे ऊपर केवल आक्षेप मात्र है। जीव के राग भाव यथार्थ हैं, वे कथन मात्र नहीं हैं, परसापेक्ष होने से उन्हें व्यवहारहेतु कहा जाता है, इतना अवश्य है। उसका खुलासा यह है कि जीव ही स्वयं पर में इष्ट या अनिष्ट बुद्धि करके उन्हें उत्पन्न करता है। कर्म के उदयादि परपदार्थ हैं, वे उन्हें उत्पन्न नहीं करते, फिर भी उनमें से पर के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा व्यवहार घटित हो जाता है, मात्र इसीलिए वे परसापेक्ष कहे जाते हैं।

हमने त. च. पृ. १२४ से लेकर १२८ तक के पृष्ठों पर जो कुछ लिखा है, वह सब आगम प्रमाणों के साथ ही लिखा है। हमें खेद है कि वह पक्ष वस्तुस्थिति को नहीं समझ रहा है और अपने कल्पित मतों के आधार पर आगम का विपर्यास करके अपने मत की पुष्टि करता दृष्टिगोचर होता है और चरणाणुयोग शास्त्र में व्यवहारधर्म की अपेक्षा मोक्षमार्ग की प्ररूपणा की गई है – ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

रत्नकरण्डश्रावकाचार –

इस शास्त्र में मुख्यतया से श्रावकाचार का विवेचन किया गया है, क्योंकि श्रावकधर्म आत्मा की प्राप्ति में निमित्त मात्र है, इसलिये आगम में इसे व्यवहारधर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। रत्नकरण्डश्रावकाचार के समान मुनिआचार का विवेचन करनेवाला मूलाचार है। उसमें मुख्यता से मुनि-आचार का विवेचन किया गया है। अध्यात्म की पूर्ण प्राप्ति में यह भी निमित्त मात्र है, इसलिये इसकी भी परिगणना व्यवहारधर्म में की जाती है। यद्यपि अध्यात्मशास्त्र अनुपचरित और अभेद रत्नत्रय का विवेचक आगम शास्त्र है, इसलिये इसकी तो केवल अध्यात्मशास्त्र में परिगणना होती है और मूलाचार तथा श्रावकाचारों के अनुसार प्रवृत्ति की मोक्षमार्ग में व्यवहारहेतुता होने से इनकी व्यवहारनय से अध्यात्मशास्त्रों में परिगणना की जाती है। इसी दृष्टि से इन शास्त्रों को भी अध्यात्मशास्त्रों में परिगणित किया जाता है।

साध्य-साधक भाव :—

आगम में साध्य-साधक भाव का दो दृष्टियों से विचार किया गया है – एक शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से और दूसरा सद्भूत या असद्भूत व्यवहारनय की दृष्टि से। शुद्ध निश्चयनय से स्वभावभूत ज्ञायकस्वभाव एक आत्मा ही साध्य है और वही साधक है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए समयसार कलश में कहा भी है —

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभिप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।। १५ ।।

पूर्ण ज्ञान स्वरूप नित्य जो वह आत्मा है, उसकी सिद्धि के इच्छुक पुरुषों के द्वारा साध्य-साधक भाव के भेद से दो तरह का होने पर भी एकरूप ही वह उपासना करने योग्य है ।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए समयसार में भी कहा है —

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणाणिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।। १६ ।।

साधु पुरुष के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र निरन्तर सेवन करने योग्य है । सद्भूत व्यवहारनय से ये तीन हैं, तो भी निश्चयनय से इन तीनों को एक आत्मा ही जानो । इसका आशय यह है कि साधु को इन तीन स्वरूप एक आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये ।

यह वस्तुस्थिति है । इसके होते हुए ज्ञानी के जो व्यवहाररत्नत्रय होता है, उसकी प्ररूपणा करते हुए पंचास्तिकाय गा. १६० की टीका में लिखा है कि यद्यपि उत्तम स्वर्ण की भाँति शुद्ध जीव कथंचित् भिन्न साध्य-साधक भाव के अभाव के कारण स्वयं अपने आप भी शुद्ध स्वभाव रूप से परिणमित होता है, तथापि व्यवहाररत्नत्रय निश्चयमोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है ।

आशय यह है कि आत्मा स्वयं ही निश्चय रत्नत्रयरूप परिणमति होता है, तथापि असद्भूत व्यवहारनय से व्यवहाररत्नत्रय को उसका सावन (निमित्त) कहा जाता है, क्योंकि इन दोनों में कालप्रत्यासत्ति देखी जाती है । टीका का वह अंश इस प्रकार है —

जात्यकार्तस्वरस्येव शुद्धजीवस्य कथंचद्भिन्नसाध्यसाधनभावाभावात्स्वयं शुद्ध-स्वभावेन विपरिणममानस्यापि निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनाभावमापद्यत इति ।।१६० ।।

पंचास्तिकाय गाथा १५९ और १६१ का भी यही आशय है, क्योंकि निश्चयमोक्षमार्ग के काल में उस जीव के ऐसे ही प्रशस्त रागभाव का सद्भाव पाया जाता है, जिसमें व्यवहार मोक्षमार्ग का व्यवहार हो जाता है । अत: व्यवहार मोक्षमार्ग को निमित्त कहा जाता है और निश्चय मोक्षमार्ग को नैमित्तिक कहा जाता है । इन दोनों में साध्य-साधक भाव का ही आशय है ।

१. निश्चयधर्म —

स्वभावभूत आत्मा की प्राप्ति का नाम ही निश्चयधर्म है । सर्वप्रथम उसकी प्राप्ति स्वभाव-भूत आत्मा के अवलम्बन से चौथे गुणस्थान में होती है । उसकी प्राप्ति का उपाय यह है कि आत्मा बुद्धिपूर्वक स्वयं आलम्बन द्वारा जब स्वभावभूत आत्मा को प्राप्त करने के सन्मुख होता है, तब सर्व-प्रथम अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी ४, इन पाँच प्रत्ययों के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और जिस समय जीव के इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसी समय

ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और उसी समय यह आत्मा आत्मानुभूतिपूर्वक स्वरूप में रमण करने से अंशत: चारित्रभाव को भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक आत्मा ही रत्नत्रयरूप परिणमित हुआ है, इसलिये निश्चय से एक वही आत्मा साध्य और साधक उभयरूप होने से उपासना करने योग्य आगम में कहा गया है। यह निश्चयधर्म की प्राप्ति का मार्ग है।

१. व्यवहारधर्म –

अब इस निश्चयधर्म की प्राप्ति के समय व्यवहारधर्म किस रूप में वर्तता है, इसे स्पष्ट करते हैं। जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जिनधर्म की परम्परा को अंगीकार करके मोक्ष की इच्छा से वीतराग देव, द्वादशांग वाणी और वीतराग गुरु की उपासना करने लगता है। साथ ही जिनधर्म के जो प्रारंभिक नियम हैं, उनका भी अनुसरण करने लगता है वही जीव निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्ति करने का अधिकारी आगम में माना गया है। ऐसे जीव के यद्यपि निश्चयमार्ग की प्राप्ति के काल में प्रवृत्तिरूप उक्त व्यवहार तो नहीं होता, फिर भी उस जाति का संस्कार और राग वना रहने से उसमें निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति में साधनपने का व्यवहार हो जाता है। एक तो इसीलिए व्यवहार मोक्षमार्ग को साधन और निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य कहा है, दूसरे सम्यग्दृष्टि के विकल्प दशा में उक्त जाति का संस्कार और देव, शास्त्र, गुरु की आराधना आदिरूप परिणाम वना रहने से उस सम्यग्दृष्टि का चित्त विषय कषाय की ओर विशेपरूप से नहीं झुकता, इसलिये भी उसको निश्चय मोक्षमार्ग का साधन कहा गया है। आगे भी प्रमत्त अवस्था तक इसीप्रकार साध्य-साधन भाव को घटित कर लेना चाहिए। इसके आगे सप्तम आदि गुणस्थानों में एक निश्चयधर्म की ही प्रवृत्ति रहती है। इतना अवश्य है कि १० वें गुणस्थान तक तज्जातीय राग का सद्भाव होने से उपचार से व्यवहारधर्म कहा गया है। प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म का वहाँ अभाव है।

यह पूर्वपक्ष के कथन को ध्यान में रखकर सामान्य कथन है। वैसे यहाँ इसका विशेप प्रसंग न होने से हमने उसकी विशेष विवेचना नहीं की है और न ही पूर्वपक्ष के कथन को ध्यान में लेकर उसका संक्षिप्त उत्तर भी हमने यहाँ दिया है। आगम क्या है, केवल इतना वताना हमारा प्रयोजन रहा है।

शंका ४ के पहले दौर की समीक्षा का समाधान

उत्तरपक्ष के कथन का सार –

पूर्वपक्ष के मूल प्रश्न को ध्यान में रखकर हमने पूर्व में जो यह समाधान किया था कि निश्चयधर्म की उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि निश्चयधर्म की उत्पत्ति परनिरपेक्ष होने से उसमें अर्थात् उत्पत्ति में व्यवहारधर्म की सहायता अपेक्षित नहीं होती। अन्यथा निश्चयधर्म परनिरपेक्ष होता है, यह कथन नहीं वनता। आगम में जहाँ भी व्यवहारधर्म को साधक कहा गया है, वह निमित्तपने की अपेक्षा ही कहा गया है, जो निश्चयधर्म की प्राप्ति में गौण

रहता है। यदि कोई भव्य जीव निश्चयधर्मरूप परिणमन करते समय व्यवहारधर्म की अपेक्षा करे तो वह परसापेक्ष होने से निश्चयधर्म ही नहींकहलायेगा।

यहाँ इसकी पुष्टि में हमने नियमसार की जिन दो गाथाओं को उद्धृत किया था, उनमें से १४ वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में पर्यायों को दो प्रकार की बतला करके, उनका स्वरूप निर्देश करते हुए यह स्पष्ट कहा है कि एक स्व-पर सापेक्ष पर्याय होती है और दूसरी परनिरपेक्ष पर्याय होती है। इनका विशेष स्पष्टीकरण १५ वीं गाथा से भी हो जाता है। नर, नारक, तिर्यंच और देव पर्यायों को स्वपरसापेक्ष होने से जहां विभाव पर्याय कहा गया है, वहीं कर्मउपाधि से रहित स्वभाव के आलम्वन से उत्पन्न हुई पर्यायों को स्वभावपर्याय कहा गया है।

पूर्वपक्ष ने ११ वीं गाथा का अर्थ करते हुए भी यही लिखा है कि – "इन्द्रिय रहित और असहाय केवलज्ञानोपयोग तो स्वभाव ज्ञानोपयोग है तथा प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से व्यवहार ज्ञानोपयोग दो प्रकार है।" सो पूर्वपक्ष के द्वारा किये गये इस अर्थ से भी हमारे कथन का ही समर्थन होता है, क्योंकि हमारा यही तो कहना है कि स्वभाव पर्याय परनिरपेक्ष होने से दूसरे को निमित्त किए बिना ही उत्पन्न होती है। परमार्थ से देखा जाय तो व्यवहारधर्म उसका साधक नहीं माना जा सकता।

आगम में जहाँ भी व्यवहारधर्म को साधक और निश्चयधर्म को साध्य कहा गया है, वह केवल असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा गया है। पूर्वपक्ष को चाहिए कि वह नयविभाग को समझकर परमार्थ से दिये गये हमारे उत्तर के खण्डन की चेष्टाएँ न पकड़कर जो यथार्थ है, उसे स्वीकार करे। आगे उस पक्ष ने हमारे १३ वीं और १४ वीं गाथा के अर्थ के प्रसंग से जो आपत्तियाँ उपस्थित की हैं, उनमें कोई सार नहीं है। यथा –

(१) हमने अपने अर्थ में "केवल" शब्द का अर्थ "मात्र" नहीं किया है। उसका केवल-दर्शनोपयोग करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। उक्त गाथा का हमने जो अर्थ किया है, उससे भी यही अर्थ फलित होता है। उसमें कोई वाधा नहीं आती।

(२) जब कि १३ वीं गाथा में दर्शनोपयोग के स्वभावपर्याय और विभावपर्याय – ये दो भेद करके यह वतलाया गया है कि जो पर्याय इन्द्रियरहित और असहाय अर्थात् पर की सहायता से रहित होती है, वह स्वभावपर्याय है। इस प्रकार इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथा १३ के उत्तरार्द्ध का गाथा १४ के उत्तरार्द्ध से निश्चित सम्बन्ध है। हमारा यही कहना है कि जितनी भी स्वार्थपर्यायें होती हैं, वे सब अन्य निरपेक्ष ही होती हैं। गाथा १३ के उत्तरार्द्ध में स्वभावपर्याय के लिए इन्द्रियरहित और असहाय दो पद आये हैं, सो इन पदों से भी वही अर्थ फलित होता है। गाथा १४ के उत्तरार्द्ध में जो निरपेक्ष पद आया है, सो वह भी परनिरपेक्ष के ही अर्थ में आया है।

मालूम पड़ता है कि वह पूर्वपक्ष स्वभावपर्याय को भी स्वपर सापेक्ष मानता है और वह एक ऐसी तीसरी प्रकार की पर्याय मानता है, जिसके होने में निमित्त होता ही नहीं। उसे वह षड्गुण हानि-वृद्धिरूप कहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पक्ष अपनी मान्यता की धुन में ही इन दोनों गाथाओं के उत्तरार्द्ध में सम्बन्ध का निषेध कर रहा है। इसे कहते हैं देखते-देखते आंखों में धूल झोंकना।

स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष होती है, इसके समर्थन में हम उसी नियमसार का एक दूसरा प्रमाण भी उपस्थित कर देना चाहते हैं। यथा —

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो ।। २८ ।।

तात्पर्य यह है कि अन्य निरपेक्ष जो पर्याय होती है, वह स्वभाव पर्याय कहलाती है। तथा स्कंधरूप जो पर्याय होती है, वह विभाव पर्याय कहलाती है।

यहां जो हमने गाथा २८ का उक्त प्रमाण उपस्थित किया है, उसमें स्पष्टरूप से स्वभावपर्याय को परनिरपेक्ष कहा गया है। यह पुद्गलपरमाणु की शुद्धपर्याय है। इसमें कालद्रव्य निमित्त तो अवश्य है पर इस पर्याय के होने में उसको इष्ट-अनिष्ट की दृष्टि से उसे स्वीकार नहीं किया गया। पुद्गलपरमाणु की यह अर्थपर्याय है, जो अति सूक्ष्म है और षड्गुण हानि-वृद्धिरूप है। जीव की भी जो स्वभावपर्याय होती है, वह भी परनिरपेक्ष ही होती है। इतना अवश्य है कि वह परनिरपेक्ष इसलिए कहलाती है, क्योंकि एक तो वह स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होती है, दूसरे उसमें भी निमित्त अविवक्षित रहता है। अविवक्षित कहो या गौण कहो दोनों का अर्थ एक ही है।

आगे पूर्वपक्ष ने उक्त गाथाओं में पठित ज्ञान को लक्ष्य में लेकर जो कुछ कथन किया है, वह पूरी तरह से आगमानुकूल न होने पर भी, प्रकृत में अनुपयोगी होने से उसके विषय में हम यहां कुछ नहीं लिख रहे हैं।

शंका ४, के दूसरे दौर की समीक्षा का समाधान

समीक्षक ने व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक है या नहीं, यह शंका उपस्थित करके दूसरे दौर में व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक है, इसके समर्थन में जितने भी प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे सब असद्भूत व्यवहारनय से ही उपस्थित किये हैं। उससे निश्चयधर्म की उत्पत्ति हो इसे परमार्थ से नहीं कहा जा सकता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए हमने कई प्रमाण दिये हैं। उनमें एक प्रमाण नयचक्र का भी है। वह प्रमाण इसप्रकार है —

ववहारदो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले ।। ७७ ।।

उसका अर्थ हमने यह किया था कि व्यवहार से बन्ध होता है और स्वभाव का आश्रय लेने से मोक्ष होता है। इसलिए स्वभाव की आराधना के काल में अर्थात् मोक्षमार्ग में व्यवहार को गौण करो।

इस पर हमारा यह खुलासा उस पूर्वपक्ष को आपत्तियोग्य मालूम पड़ा है। उसने अपने अभिप्राय से जो व्यवहारधर्म को अशुभ से निवृत्तिरूप बतलाकर उसरूप अंश से जो कर्मों के संवर और निर्जरा का विधान किया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि अशुभ से निवृत्ति का अर्थ ही शुभ में प्रवृत्ति होता है; क्योंकि पूर्व पर्याय के व्यय का नाम ही नयी पर्याय का उत्पाद कहलाता है। अन्यथा जैनधर्म में जिसे वह पक्ष निवृत्ति कहता है, वह अभावरूप अंश वस्तु का स्वभाव नहीं बन सकता। यदि उसे प्रवृत्तिरूप नहीं माना जाय और जिसप्रकार अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति इन दोनों का अर्थ एक न मानकर भिन्न-भिन्न माना जाय तो शुभ और अशुभ की निवृत्ति का नाम स्वभावधर्म नहीं हो सकेगा।

हमने जो उस गाथा का अर्थ किया है, उसमें पूर्वपक्ष के मतानुसार यदि "अर्थात् मोक्षमार्ग" यह पद न रखा जाय तो भी इसमें तत्त्वप्ररूपणा की दृष्टि से हमारी कोई हानि नहीं है – प्रत्युत लाभ ही है। कारण कि मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग के भेद से दोनों प्रकार का माना गया है। इसलिए यह शंका हो सकती है कि यहाँ पर स्वभाव के आराधना के काल में उपयोग में किस मोक्षमार्ग को ग्रहण किया गया है, व्यवहार मोक्षमार्ग को तो ग्रहण किया नहीं जा सकता, क्योंकि उसमें प्रवृत्ति की प्रमुखता है, प्रवृत्ति से भिन्न निवृत्ति की मुख्यता नहीं है और स्वभाव की आराधना के काल से तात्पर्य शुद्धोपयोग से ही है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। उस पक्ष का अन्य जितना भी कथन है, उसका विशेष खुलासा उक्त कथन से ही हो जाता है। इसलिये उस विषय में उसके कथन को गौणकर प्रकृत में उपयोगी चर्चा के आधार पर ही ऊहापोह करना ठीक लगता है।

आगे त. च. पृ. १३२ पर हमने जो व्यवहारधर्म को असद्भूत व्यवहारनय का विषय बतलाया है, उस पक्ष का कहना है कि वह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। उसका यह कहना इसलिए समीचीन नहीं है, क्योंकि इससे प्रशस्त राग और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को आत्मस्वरूप मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। जब कि प्रशस्त राग और शुभरूप मन-वचन-काय को प्रवृत्ति ये कर्मोपाधि के निमित्त से उत्पन्न हुए धर्म हैं, अतः उन्हें स्वभावभूत आत्मरूप कैसे माना जा सकता है? यदि वे आत्मा के स्वभाव मान लिये जायें तो सिद्धों में भी उनकी प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त होता है, इसलिये उन्हें स्वभावभूत आत्मा में असद्भूत ही मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसलिये ही वे आगम में असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा के कहे गये हैं, ऐसा यहाँ जानना चाहिए।

हमने त. च. पृ. १३२ पर पंचास्तिकाय गा १०५ की जयसेनकृत टीका और वृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका पृ. २०४ के कथन को ध्यान में रखकर जो यह लिखा था कि व्यवहारधर्म परम्परा से मोक्ष का कारण है, सो उसके आशय को हमने कहीं भी उलट-पलट नहीं किया है। इतना सही है कि उसका आशय अवश्य खोला है।

आगे मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ३७७ (दिल्ली संस्करण) के वचन को उद्धृत कर जो हमने लिखा है, उसका आशय यह नहीं है कि शुभोपयोग के अनन्तर ही शुद्धोपयोग प्राप्त होता है, जैसा कि वह पक्ष मानता है; किन्तु उसका आशय यह है कि जहाँ शुभोपयोग होता है, उसके बाद निर्विकल्प

दशा में स्वभाव के अवलम्बन से शुद्धोपयोग होना स्वभाव है और इसलिए पंडितजी ने यह उपदेश किया है कि "शुभोपयोग भए निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय। ऐसा मुख्यता करि कहीं शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण भी कहिए है" इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि शुभोपयोग पराश्रित भाव होने से मात्र आस्रव और बंध का ही कारण है और शुद्धोपयोग परनिरपेक्ष होने से मात्र संवर और निर्जरा का ही कारण है।

मैने त. च. पृ. १३२ पर यह लिखा है कि वस्तुतः मोक्षमार्ग एक ही है और उसके समर्थन में मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. ३६५–३६६ (दिल्ली संस्करण) का कथन उद्धृत किया है, इस पर उस पक्ष का कहना है कि "दो मोक्षमार्गों का निषेध करना इस रूप में विवाद की वस्तु नहीं है। यदि कोई ऐसा माने कि एक व्यक्ति तो व्यवहार मोक्षमार्ग निरपेक्ष निश्चय मोक्षमार्ग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है और दूसरा व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्ग निरपेक्ष व्यवहार मोक्षमार्ग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है, सो उसका ऐसा मानना मिथ्या है" आदि। सो इस संबंध में हमारा कहना यह है कि जब दो मोक्षमार्ग ही नहीं हैं जिसे पूर्वपक्ष भी स्वीकार करता है, ऐसी अवस्था में तत्वज्ञ कोई ऐसा क्यों मानेगा कि व्यवहार मोक्षमार्ग निरपेक्ष निश्चय मोक्षमार्ग से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, या निश्चय मोक्षमार्ग निरपेक्ष व्यवहारमोक्षमार्ग से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि मोक्षमार्ग तो एक ही है जो निश्चयरूप होता है, व्रतादिरूप जो अन्य क्रियाकाण्ड होता है या वह प्रशस्त देवादि की उपासना-रूप परिणाम होता है, वह आत्मस्वरूप न होने से, वास्तव में मोक्षमार्ग तो नहीं ही हो सकता। केवल सहचर संबंधवश निमित्तपने की विवक्षा में उसमें मोक्षमार्गपने का उपचार अवश्य कर लिया जाता है। इसलिये जो निश्चयमोक्षमार्ग आगम में स्वीकार किया गया है, वह परनिरपेक्ष ही होता है, क्योंकि वह जीव का सहज स्वरूप है। जिसे वह पक्ष व्यवहार मोक्षमार्ग कहता है, वह जीव का सहज स्वरूप नहीं है, इसलिये उसमें निश्चय मोक्षमार्गपना घटित नहीं होता—ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

त. च. पृ. १३३ पर प्रवचनसार के जिस वचन को हमने उद्धृत किया है, उसके संबंध में उस पक्ष का कहना है कि उस वचन में जो कुछ भी कथन किया गया है, उसे हम भी स्वीकार करते हैं; किन्तु उसके बाद उस पक्ष ने जो यह लिखा है कि "वह मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चय-मोक्षमार्ग का ही साक्षात् कारण होता है" सो उस पक्ष का यही कहना भूल भरा है। उत्तरपक्ष द्वारा दिये गये उक्त उद्धरण के अनुसार वस्तु को समझने में उसकी कोई भूल नहीं है। जहाँ वह पक्ष यह मानता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साक्षात् कारण है, वहाँ उत्तरपक्ष का आगम के अनुसार कहना यह है कि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साक्षात् कारण तो नहीं ही है, मात्र उसमें निश्चयमोक्षमार्ग के कारणपने को व्यवहार अवश्य कर लिया जाता है, क्योंकि जब व्यवहार मोक्षमार्ग नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, केवल उपचार मात्र है, ऐसी अवस्था में उसे निश्चयमोक्षमार्ग का साक्षात् कारण कैसे कहा जा सकता है अर्थात् नहीं ही कहा जा सकता।

शंका ४ के तीसरे दौर की समीक्षा का समाधान

वह पक्ष और समीक्षा के लेखक ये दोनों एक ही हैं, ऐसी अवस्था में द्वितीय और तृतीय दौर तो समीक्षा में आते ही नहीं, उन्हें प्रतिशंका ही मानी जा सकती है। उस पक्ष ने इसे स्वीकार भी किया है, अतएव यह चौथा दौर भी समीक्षा न होकर प्रतिशंका ही हो सकती है। हमने इसीरूप में उसे स्वीकार करके उसका समाधान किया है।

१ व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म :—

हमने तृतीय दौर में व्यवहारधर्म निश्चयधर्म में साधक नहीं है, जो यह कथन किया है, वह परमार्थ को ध्यान में रखकर ही किया है। व्यवहार से आगम मे व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक अवश्य कहा गया है, पर वह मात्र उपचार कथन है।

हमारे त. च. पृ. १४४ पर उपसंहार शीर्षक के अन्तर्गत हमने जो यह लिखा है कि "व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का असद्भूत व्यवहारनय से साधक होता है, वह ठीक ही लिखा है, क्योंकि व्यवहारधर्म पराश्रित भाव है, जो स्वभाव की प्राप्ति में निश्चयधर्म का परमार्थ से साधक नहीं हो सकता। दूसरे व्यवहारधर्म स्वभावभूत आत्मा में सद्भूत नहीं है, इसलिए भी व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का सद्भूतव्यवहारनय से साधक है, ऐसा जो उस पक्ष का कहना है, वह यथार्थ नहीं है।

जबकि व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की प्राप्ति के काल में ही होता है, ऐसी अवस्था में उसे निश्चयधर्म की उत्पत्ति में सहायक कहना उपचारमात्र है। निश्चयधर्म की प्राप्ति स्वभावभूत आत्मा के अवलम्बन से ही होती है, व्यवहारधर्म के अवलम्बन से नहीं, ऐसा आगम का नियम है। वह पक्ष अपनी हठ को छोड़कर जितने जल्दी इस तथ्य को समझेगा, उतना ही धर्म और समाज के हित में होगा।

स पृ. २८६ में विवेचन शीर्षक के अन्तर्गत् हमने नियमसार की गाथाओं का जो स्पष्टीकरण किया था, वह यथार्थ है। आगम में कहीं भी तीन प्रकार की पर्यायें नहीं कही गई हैं। सभी पर्यायें दो ही प्रकार की होती हैं — स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष होती है और विभावपर्याय स्व-पर सापेक्ष होती है। यहाँ परसापेक्ष का अर्थ पर में इष्टानिष्ट बुद्धि है और परनिरपेक्ष का अर्थ परमें उपेक्षाबुद्धि है। कार्य-कारण भाव में यह अर्थ सर्वत्र जानना। नियमसार की उक्त तीन गाथाओं (१३, १४, २८) में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। गाथा २८ में कहा गया है — स्वभावपर्याय अन्य निरपेक्ष होती है और पुद्गल स्कंध जो कि स्व-पर सापेक्ष होता है, उसे विभावपर्याय कहा गया है। वहाँ इतना स्पष्ट होते हुए भी पूर्वपक्ष अपनी हठ को नहीं छोड़ना चाहता, इसका हमें खेद है। असद्भूत व्यवहारनय का विषय जितना भी व्यवहारधर्म होता है, उसका आत्मस्वभाव की अपेक्षा पर होने के कारण स्वभावभूत आत्मा में असद्भूत होने से उसे आत्मा का कहना उपचरित ही होगा। जो विकल्परूप होने से उपचरित ही होता है।

आगे स्वयं उस पक्ष ने यह स्वीकार किया है "व्यवहारधर्म का मोक्ष के साथ जो साध्य-साधक भाव है, वह अयथार्थ अर्थात् उपचरित सत् है।" सो उसके इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पक्ष व्यवहारधर्म को स्वभावभूत आत्मा का कहना इसे मात्र कल्पना का विषय मानता है, अन्यथा वह ऐसे सम्बन्ध को अयथार्थ अर्थात् उपचरित सत् कभी भी नहीं लिखता। शेष सब कथन उसका अपना विकल्प मात्र है।

हमने जो व्यवहारधर्म को जीव का परिणाम नहीं माना है, वह स्वभावभूत जीव की अपेक्षा से ही नहीं माना है, क्योंकि शुद्धनय की विवक्षा में स्वभावभूत जीव को ही स्वानुभूति को उसका विषय माना गया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

निश्चयधर्म की उत्पत्ति स्वभाव के आलम्बन से ही होती है, इसलिए व्यवहारधर्म निश्चय-धर्म की उत्पत्ति में अकिंचित्कर है, ऐसा यदि माना जाय तो इसमें क्या आपत्ति है ?

(२) त. च. पृ. १४३ के आधार पर जो चर्चा चली है, उसमें उस पक्ष का यह कहना कि "व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप व्यवहारधर्म निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्म की उत्पत्ति में निमित्त (सहायक) रूप से साधक है।" सो यह कथन असद्भूत व्यवहारनय से ही आगम में स्वीकार किया गया है। फिर भी वह पक्ष निश्चय और व्यवहार दोनों धर्मों के साध्य-साधक भाव को सद्भूत व्यवहारनय का विषय मानता है, यह उसकी भूल है, क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक संबंध दो में होता है। इस अपेक्षा से उसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय मानना संगत नहीं माना जा सकता।

स. पृ. २९२ पर उस पक्ष ने समयसार के अनेक प्रमाण उपस्थित कर जिन बातों का निर्देश किया है, उनमें से मुख्यरूप से विचारणीय गाथा ८९ है। गाथा ८७ में जो मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति को जीवभाव कहा गया है, वह जीव की अज्ञानदशा की अपेक्षा ही कहा गया है, स्वभाव-भूत जीव की अपेक्षा से नहीं। जैसे ज्ञानादिगुण जीव में सदा काल पाये जाते हैं, अतः वे भेद विवक्षा में जीव के सद्भूत व्यवहारनय से कहे गये हैं, उसी प्रकार पराश्रित व्यवहारधर्म भी जीव में भेद विवक्षा में जीव के यदि सदाकाल पाया जाता तो उसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय मानने में कोई बाधा नहीं आती। पर जिस प्रकार पापभाव को छोड़कर जीव क्रम से स्वभावधर्म को प्राप्त होता है, उसी प्रकार व्यवहारधर्म के छूटने पर जीव को स्वभावधर्म की प्राप्ति होती है। फिर भी यदि पूर्वपक्ष राग-द्वेष और मोह को जीव के सद्भूत व्यवहारनय से मानना इष्ट समझता है तो उसे पापभाव को भी सद्भूत व्यवहारनय से जीव का मान लेना चाहिए, क्योंकि दोनों भी राग-द्वेष और मोह के परिणाम हैं।

यद्यपि यह हम मानते हैं कि अज्ञानभाव के कारण जीव भी स्वयं राग-द्वेष-मोह रूप परिणमता है, कर्म के उदय से वह राग-द्वेष मोह रूप नहीं परिणमता, क्योंकि कर्म का उदय तो निमित्त मात्र है। फिर भी मोक्षमार्ग में जो उनको परभाव कहा गया है, वह स्वभावभूत आत्मा की प्राप्ति की विवक्षा में ही कहा गया है। इसलिए मोक्षमार्ग में व्यवहारधर्म को जीव का कहना यह असद्भूत व्यवहारनय से ही संगत प्रतीत होता है, सद्भूत व्यवहारनय से नहीं। ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इसके लिए विशेषरूप से देखो जैनतत्त्व मीमांसा पृ. २५०-२५१ आदि।

उस पक्ष ने त. च. पृ. १३४ पर जो प्रमाण दिये हैं, उनमें एक प्रमाण आलापपद्धति का भी दिया गया है। उसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि "व्यवहारनय भेद को विषय करता है। भेद विवक्षा में एक ही वस्तु जिसका विषय है, वह असद्भूत व्यवहार हैं। प्रमाण इस प्रकार है —

"व्यवहारो भेदविषयः, एक वस्तु विषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्न वस्तुविषयोऽसद्भूत व्यवहारः।"

यहां वह यह कह सकता है कि व्यवहारधर्म प्रशस्त रागरूप आत्मा की परिणति है, इसलिए उसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय मानने में क्या आपत्ति है? समाधान यह है कि व्यवहारधर्म पराश्रितभाव है और निश्चयधर्म आत्माश्रित भाव है। इस अपेक्षा आत्माश्रित निश्चयधर्म से पराश्रित व्यवहारधर्म भिन्न वस्तु सिद्ध हो जाने के कारण उसे आत्मा का कहना असद्भूत व्यवहारनय से ही सिद्ध होता है, सद्भूत व्यवहारनय से नहीं।

उस पक्ष ने त. च. पृ. १३४ में जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे सब हमें स्वीकार हैं। उन्हें अस्वीकार कौन करता है? मात्र नय विभाग से उनकी स्थिति पर विचार किया जाता है तो उस पक्ष को उसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए। दुःख है कि आगम के आशय को ग्रहण करता नहीं और मनमानो टीका करने लगता है। इसे उसका दुस्साहस ही कहा जायगा।

यह तो उस पक्ष को ही देखना चाहिए कि जब खानिया में तत्वचर्चा चली थी, तब उसके प्रथम दो दौरों तक ही उसके सहयोगी अन्य विद्वानों का सहयोग क्यों बना रहा और आगे तीसरे आदि दौरों में उन्होंने क्यों अपने को अलग करके मौन धारण कर लिया और क्यों अकेले पं. बंशीधरजी पर छोड़ दिया, फिर भी अपने व्यक्तिगत बड़प्पन को बनाये रखने के लिए अपने मनोकल्पित विचारों को आगम का रूप देकर कुछ भी लिखते रहना यह उसके हठ का ही परिणाम है। दुःख है कि फिर भी वह चेतता नहीं और वस्तुस्थिति को समझकर अपने विचारों को बदलता नहीं। यह मूलसंघ के प्रतिस्थापक श्रद्धेय कुन्दकुन्दाचार्य की जिनवाणी का अपलाप करने के सिवाय उसे और क्या कहा जायगा? इसका उस पक्ष को ही विचार करना है।

हमने इसी प्रसंग को लेकर व्यवहारधर्म को स्वभावभूत आत्मा के धर्म होने का निषेध किया है, वह केवल इसीलिए ही किया है कि वह पराश्रित भाव है और स्वाश्रित भाव का प्रतिपक्षी होने से वह आत्मा का निजधर्म नहीं हो सकता। जैसा कि आ. अमृतचंद्रदेव ने पुण्यपाप अधिकार में गाथा १४३ की टीका करते हुए लिखा है।

शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ, तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।

शुभ मोक्षमार्ग और अशुभ बन्धमार्ग प्रत्येक केवल जीवमय और पुद्गलमय होने से अनेक है। अनेक होने पर भी केवल पुद्गलमय बन्धमार्ग के आश्रितपने से आश्रय के अभेद से कर्म एक है।

श्री जयसेनाचार्य नें इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है —

यद्यपि व्यवहारेन भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति।

यद्यपि व्यवहार से भेद हैं, तथापि निश्चय से शुभ और अशुभ कर्म में भेद नहीं है।

यहां कर्म शब्द से द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों को ग्रहण किया गया है। जिसे हम व्यवहारधर्म कहते हैं, वह भी बन्धमार्ग के आश्रित होने से जीव का निजभाव सिद्ध न होकर परभाव ही सिद्ध होता है। और इसलिए निश्चयनय की विवक्षा में स्वभावभूत जीव का निश्चयधर्म सिद्ध न होने से उसे असद्भूतव्यवहारनय से ही आगम में स्वीकार किया गया है। यहां उस पक्ष ने घट का उदाहरण देकर जो अपने अभिप्राय को पुष्ट करना चाहा है, उससे उक्त अभिप्राय इसलिये पुष्ट नहीं होता है; क्योंकि उस उदारहण से जीव की व्यवहारपर्याय और स्वभावपर्याय के होने में कारणभेद आश्रयभेद आदि से अन्तर पड़ता है, वह स्पष्ट नहीं होता। यहां उस पक्ष ने अन्य जितना कुछ भी लिखा है, वह पिष्टपेषण मात्र होने से उस पर हम अलग से विचार नहीं कर रहे हैं।

यहां स. पृ. २९७ पर पूर्वपक्ष ने आगम के लौकिक और आध्यात्मिक ये दो भेद किये हैं, वह प्रकृत में समझ के बाहर है। आगम एक ही प्रकार का होता है और वह जिनवाणी के रूप में माना गया है। जितनी भी जिनवाणी है, प्रयोजन के अनुसार आध्यात्मिक ही होती है। जो वंचक पुरुषों द्वारा लिखा गया है, उसे जिनागम नहीं कहा जा सकता, चाहे कल्पना में वह लौकिक हो या आध्यात्मिक। प्रवचनसार में इसी बात को स्पष्ट करते हुए आ. कुन्दकुन्द देव कहते हैं।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवेदेसं णिव्वादा णमो ते तेसिं॥ ८२॥

जितने भी अरहंत हैं उन्होंने जिस विधि से कर्मों का क्षय किया, उसी विधि से उपदेश देकर वे निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

इस उपदेश में चारों अनुयोग गर्भित हैं। इसलिए उन्हें लौकिक वाणी न समझकर आध्यात्मिक वाणी ही समझनी चाहिए, क्योंकि सभी आगमों के अध्ययन का फल वीतरागता है।

उस पक्ष के उक्त कथन को पढ़कर ऐसा लगता है कि उसने आगम के अन्तर्गत जैन ऋषियों को छोड़कर अन्य द्वारा रचित ग्रन्थों को भी आगम में गर्भित कर लिया है, पर उसे आगम कहना ठीक नहीं।

यहां उस पक्ष ने स. पृ. २९८ में चारों अनुयोगों के विषय में जो लिखा है, उसके लिये हम इतना ही कहेंगे कि रत्नकरण्डश्रावकाचार में उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है, वहां से उसे जान लेना चाहिये।

यहां पर स. पृ. २९९ पर उस पक्ष ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के आधार पर जो कुछ लिखा है, वह उसकी बुद्धि की कल्पना मात्र है। वस्तुतः करणानुयोग का स्वरूप द्रव्यानुयोग से भिन्न ही है, क्योंकि षट्खंडागम आदि ग्रन्थों का विवेचन चार गति आदि मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के आधार

से ही हुआ है, जबकि द्रव्यानुयोग में गुणस्थान और मार्गणास्थानों के भेदों को गौण किया गया है, इसलिये धवलादि ग्रन्थों का अन्तर्भाव करणानुयोग में ही होता है, द्रव्यानुयोग में नहीं। द्रव्यानुयोग का विषय छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और जीवादि नौ पदार्थ आदि के स्वरूप का निरूपण करना है तथा करणानुयोग गुणस्थान मार्गणास्थान आदि के आश्रय से प्रतिपादन करता है।

कहना चाहिये कि उसकी समझ अनूठी है। वह ही केवल वस्तुविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान को समझा है। लगता है इसी आधार पर वह वस्तुविज्ञान के अनुसार समर्थ उपादान के कथन को स्वीकार न करके अपनी मति के अनुसार उपादान का लक्षण स्वीकार करके प्रेरक निमित्तों के आधार पर जीवादि पदार्थों को पराधीन बनाने में अपनी इति कर्तव्यता समझता है। यह है उसकी वस्तुविज्ञान सम्बन्धी रहस्यपूर्ण जानकारी का उद्घाटन और उसकी यह समझ कि पराश्रित धर्म ही अध्यात्म में जीव का सद्भूत व्यवहार होता है, यह है उसकी अध्यात्मविज्ञान सम्बन्धी रहस्यपूर्ण जानकारी का उद्घाटन।

(१) आगे उस पक्ष ने साध्य-साधक भाव के सम्बन्ध में अपनी मति के अनुसार उत्तरपक्ष की जिन मान्यताओं का उल्लेख किया है, वह यथार्थ नहीं है; क्योंकि व्यवहारधर्म के विषय में आगम के अनुसार उत्तरपक्ष यह मानता है कि अशुभ भाव से निवृत्ति और शुभभाव में प्रवृत्ति रूप जीव को मन-वचन-काय-प्रवृत्तिपूर्वक जो भी परिणाम होता है, उसे व्यवहारधर्म कहते हैं। जैसा कि द्रव्यसंग्रह में कहा भी है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं।। ४५।।

संक्षेप में अर्थ पूर्व में दिया ही है।

(२) जिस समय निश्चयधर्म की प्राप्ति होती है, उस समय से लेकर जितनी बाह्य अहिंसादि व्रतरूप परिणाम मन, वचन, काय की प्रवृत्तिपूर्वक होता है, उसका नाम ही व्यवहारधर्म है। इसके द्वारा निश्चयधर्म की प्रसिद्धि होती है, इसलिए उपचार से इसे निश्चयधर्म का साधक भी कहा जाता है। यह आगमानुसार उत्तरपक्ष की मान्यता है, अतः उस पक्ष ने जो यह लिखा है कि "उत्तरपक्ष की दूसरी मान्यता यह है कि व्यवहारधर्म जीव के लिए निश्चयधर्म की प्राप्ति होने में किंचित्कर न होकर अकिंचित्कर ही बना रहता है।" यह उसका कहना कल्पना मात्र है। उत्तरपक्ष जिस रूप में व्यवहारधर्म को साधक मानता है, उसके स्थान में अपने मन गढ़न्त कथन द्वारा उसका अपलाप नहीं करना चाहिये, क्योंकि उत्तरपक्ष मानता है कि व्यवहारधर्म वह है जो पराश्रित होकर भी शुभ परिणतिरूप होता है। इस अपेक्षा वह अकिंचित्कर है, सर्वथा अकिंचित्कर नहीं होता है, पर वह स्वभावधर्म को स्वयं उत्पन्न करने में असमर्थ है।

(३) उत्तरपक्ष निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार करता है। उसकी पुष्टि आगम से भी होती है, इसलिए यदि वह पक्ष निश्चयधर्म की प्रसिद्धि में व्यवहारधर्म को असद्भूत व्यवहारनय से प्रयोजनीय मानता है तो यह मानना आगमानुसार ही है।

इसलिए पूर्वपक्ष का ऐसा लिखना कि "उत्तरपक्ष की तीसरी मान्यता यह है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की उत्पत्ति में असद्भूत व्यवहार कारण होता है।" सो उसका ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्म की उत्पत्ति स्वभाव के आलम्बन से ही होती है, व्यवहारधर्म के आलम्बन से नहीं, क्योंकि स्वभाव पर्याय जीव का परनिरपेक्ष धर्म है।

(४) उत्तरपक्ष उपादान के सम्बन्ध में जो कुछ भी मानता है, वह प्रमाण से आगमानुसार ही मानता है। आगम यह है कि अव्यवहित उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य को उपादेय (कार्य) कहते हैं। जैसा कि अष्टसहस्री पृ. १०० में लिखा है, ऋजुसूत्रनय की विवक्षा में—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वानन्तरात्मा।

ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से अनन्तर पूर्व पर्यायरूप उपादान परिणाम ही कार्य का प्रागभाव है।

यही बात स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कही गई है। उपादान परिणाम ही कार्य का प्रागभाव है।

आगम के अनुसार यह वस्तुस्थिति है। अब रह गई विचारणीय यह बात कि उत्तरपक्ष इसे निश्चय उपादान क्यों कहता है ? सो उसका समाधान यह है कि उपादान और उपादेय में एकद्रव्यप्रत्यासत्ति पायी जाती है, इसीलिए ही वह इसे अभेदविवक्षा में निश्चय उपादान कहता है। भेदविवक्षा से देखा जाय तो वह सद्भूत व्यवहारनय का विषय ठहरता है, किन्तु वह पक्ष वस्तुतः उपादान के इस लक्षण को स्वीकार करने को तैयार नहीं है, क्योंकि अपनी टिप्पणी में लिखता है कि—

"परन्तु यहां उपादान कारण तो मिट्टी को ही माना जा सकता है; पूर्वपर्यायों को नहीं। इसमें हेतु यह है कि उससमय कार्यरूप परिणति को उन पर्यायों की परिणति न मानी जाकर मिट्टी को ही मान्य करना युक्त है, क्योंकि उन पर्यायों का तो विनाश होकर ही मिट्टी में उस-उस कार्य की उत्पत्ति होती है। इतना अवश्य है कि मिट्टी में कोशपर्याय स्थासपर्यायपूर्वक होती है, अतः कोश पर्याय में वह स्थासपर्याय सद्भूत व्यवहारकारण होती है। तथा मिट्टी में कुशूल पर्याय कोशपर्याय पूर्वक होती है। अतः कुशूल पर्याय में वह कोशपर्याय सद्भूतव्यवहार कारण होती है। एवं मिट्टी में घटपर्याय कुशूलपर्यायपूर्वक होती है, अतः घटपर्याय में वह कुशूल पर्याय सद्भूतव्यवहार कारण होती है।"

स. पृ. ३०१ पर उस पक्ष का यह वक्तव्य है। पूर्वपक्ष ने (१) इसी कथन के आधार पर प्रेरक कारण को स्वीकार करके ही कार्य के आगे-पीछे होने का विधान किया है। उसका इतना कहना नहीं है, किन्तु वह यह भी लिखने से नहीं चूकता कि यदि अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान की भूमिका में भी उपस्थित हो जाय और उसके कार्यरूप परिणमन में अनुकूल सहायक सामग्री न मिले या बाधक सामग्री उपस्थित रहे तो उस उपादान के अनुसार कार्य न होकर जैसा निमित्त मिलता है, उसके अनुसार कार्य होता है। पूर्वपक्ष के द्वारा लिखी गई पूरी समीक्षा को पढ़ने पर निष्कर्ष के रूप में यही ज्ञात होता है कि उसने इसी आधार पर पूरी समीक्षा की मंजिल खड़ी की है।

8\46

किन्तु आगम पर मेरे दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम में कहीं भी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा उपादानभाव को स्वीकार कर कार्य-कारणभाव रूप उपादान-उपादेय भाव की प्रतिष्ठा नहीं की गई है। उसके लिए अष्टसहस्री पृ. १०१ पर दृष्टिपात करके इस वचन को ध्यान में लेना चाहिये। यथा—

प्रागभावप्रध्वंसयोरुपादानोपादेयरूपतोपगमात्प्रागभावोपादानेव प्रध्वंसस्यात्म लाभात्।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में क्रम से उपादान और उपादेय रूपता स्वीकार की गई है, इसलिए उपादान के उपमर्दन द्वारा प्रध्वंसाभाव की प्राप्ति होती है यह निश्चित होता है।

इसी बात को और भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हुए तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १५१ में लिखा है—

क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्ववचनात्। न चैवंविध कार्यकारणभावः सिद्धान्तविरुद्धः।

क्रम से होनेवाली दो पर्यायों में एकद्रव्यप्रत्यासत्ति होने से उपादान-उपादेयपना कहा गया है। और इसप्रकार का कार्यकारण भाव सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है।

वस्तुतः कार्यकारणभाव रूप से उपादान-उपादेय भाव की सम्यग्व्यवस्था बनाने के अभिप्राय से यही स्वीकार कर लिया गया है कि समर्थ उपादान के स्वीकार करने पर तो वह समर्थ उपादान विवक्षित कार्य को ही नियम से उत्पन्न करता है, जिसका वह उपादान होता है। देखो तत्वार्थश्लोक-वार्तिक पृ. १५१ (१) इसमें उभयनय के विषय का समावेश हो जाता है। प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है।

इसप्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षक ने उपादान की जिस व्यवस्था को स्वीकार कर अपने जिस कल्पित अभिप्राय की पुष्टि करनी चाही है, वह अभिप्राय आगमबाह्य होने से स्वीकार करने योग्य नहीं माना जा सकता। उसने जयपुर (खानिया) तत्वचर्चा की जो समीक्षा लिखी है, वह सब ऐसे ही कल्पित अभिप्रायों से भरी हुई है, जो केवल भोले लोगों को भ्रम में डालने का एक झूठा प्रयत्न ही कहा जायगा।

दूसरे जो भी बाह्य निमित्त होता है, वह भी द्रव्यपर्याय रूप ही होता है। कुम्भकार जब विवक्षित विकल्प और क्रिया की भूमिका में होता है, तभी वह घट पर्याय (कार्य) का निमित्त कहा जाता है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार समर्थ उपादान न केवल सामान्य द्रव्य होता है और न केवल द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय ही समर्थ उपादान होता है, अतः आगम में अनेकान्त को दृष्टि में रखकर जो समर्थ उपादान का लक्षण लिखा है, वही ठीक है। जैनदर्शन भी यही है।

(५) स. पृ. ३०१ में समीक्षक ने जो समर्थ उपादान के खण्डन में अपनी कल्पित दलील दी है वह केवल समीक्षक का कथन मात्र ही प्रतीत होता है, क्योंकि यदि आगम में कहीं भी उसके समर्थन में अर्थात् समर्थ उपादान के विरोध में ऐसा वचन दृष्टिगोचर होता तो आगम ही स्वयं उस

दलील का समर्थन करता है, अतः आगम यही मिलता है कि जब मिट्टी स्वयं भीतर से घटरूप परिणमन के सन्मुख होती है; तब दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न निमित्त मात्र होते हैं। यथा—

यतः मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्डचक्रपौरुषप्रयत्नादि निमित्त-मात्रं भवति।

वह पक्ष कहता है कि "निश्चयकारणरूप मिट्टी में घटपर्याय से अव्यवहित पूर्वपर्यायरूप कुशूलपर्याय का विकास हो जाने पर भी यदि असद्भूत व्यवहारकारणरूप कुम्भकार उस अवसर पर अपना तदनुकूल क्रियाव्यापार रोक देता है तो उस मिट्टी में तब उस घटरूप कार्य की उत्पत्ति भी रुक जाती है, आदि।" सो समीक्षक का यह कहना बालकों का खेल जैसा प्रतीत होता है, क्योंकि तब यह कहना चाहिये कि उस समय वह मिट्टी भीतर से घट होनेरूप परिणाम के सन्मुख न होने से उसके व्यवहार से अनुकूल कालप्रत्यात्तिवश व्यवहार से कुम्भकार का योग और विकल्परूप योग नहीं मिलता है। आगम भी इसी बात को स्वीकार करता है, क्योंकि समर्थ उपादान के कार्य और उसके निमित्त में समव्याप्ति होती है। अविनाभाव सम्बन्ध दो प्रकार का होता है — क्रम अविनाभाव सम्बन्ध और दूसरा समव्याप्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध। उपादान-उपादेयभाव में क्रम अविनाभाव सम्बन्ध होता है। देखो परीक्षामुख सूत्र अ. २। निमित्त नैमित्तिक भाव में सम व्याप्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध होता है। देखो समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका या कर्म शास्त्र का उदय प्रकरण।

यहाँ अपने अन्तिम पेज में जो निश्चय उपादान की बात कही है, वही भेदविवक्षा में सद्भूत व्यवहार कारण माना गया है। यही इस समीक्षा का समाधान है। आशा है इस समाधान पर व्याकरणाचार्यश्री अवश्य ध्यान देने की कृपा करेंगे। समर्थ व्यवहारनय का यह अर्थ नहीं है कि उसके आधार पर आगम में स्वीकृत किसी भी समर्थ उपादान के खण्डन के लिए कल्पित निमित्त को किसी भी कार्य का मुख्य कर्ता मानकर उसका (समर्थ उपादान का) निरसन नहीं किया जाय। घी के निमित्त से यदि घडे को घी का घडा कहा जाता है तो जैसे घड़ा घी का नहीं हो जाता उसी प्रकार यदि विवक्षित कर्म के उदय आदि से जीव की विवक्षित पर्याय को औदयिक आदि कहा जाता है तो वह पर्याय कर्मकृत नहीं हो जाता। अन्यथा द्रव्य का जो यह लक्षण उपलब्ध होता है—"उत्पाद व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सद्द्रव्यलक्षणम्" वह नहीं बन सकता। लौकिक व्यवहार को चलाने के लिये आगम में बाह्य निमित्त को स्वीकार करके ज्ञानमार्ग पर आरुढ होने के लिए उसका निषेध ही किया गया है। पर कोई बाह्य निमित्त को स्वीकार करके उसके आधार पर प्रमाणदृष्टि से स्वीकृत समर्थ उपादान का निषेध कर असमर्थ उपादान के आधार पर कार्य सिद्धि करके इसे ही अनेकान्त मानकर सामान्य जनता को पथभ्रष्ट करके रखना चाहता है तो उसे हमारी बात तो छोड़िये, तीर्थंकर सर्वज्ञ भी रोकने में असमर्थ हैं। इससे अधिक हम और क्या लिखें। इति शम्।